



आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण पर आधारित



शलाका पुरुष

(भाग-२)

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
फोन : २७०७४५८, २७०५५८१



विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
अपनी बात	लेखकीय	४	चौदहवाँ पर्व	तीर्थकर धर्मनाथ	१८७
पहला पर्व	तीर्थकर अजितनाथ	९	पन्द्रहवाँ पर्व	तीर्थकर शान्तिनाथ	२०६
दूसरा पर्व	तीर्थकर संभवनाथ	२२	सोलहवाँ पर्व	तीर्थकर कुन्थुनाथ	२३९
तीसरा पर्व	तीर्थकर अभिनन्दननाथ	३३	सत्रहवाँ पर्व	तीर्थकर अरनाथ	२४३
चौथा पर्व	तीर्थकर सुमतिनाथ	५१	अठारहवाँ पर्व	तीर्थकर मल्लिनाथ	२४६
पाँचवाँ पर्व	तीर्थकर पद्मप्रभ	५९	उन्नीसवाँ पर्व	तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथ	२५१
छठवाँ पर्व	तीर्थकर सुपार्श्वनाथ	८३	बीसवाँ पर्व	तीर्थकर नमिनाथ	२५४
सातवाँ पर्व	तीर्थकर चन्द्रप्रभ	९४	इक्कीसवाँ पर्व	तीर्थकर नेमिनाथ	२६०
आठवाँ पर्व	सुविधिनाथ	११०	बाईसवाँ पर्व	तीर्थकर पार्श्वनाथ	२७६
नौवाँ पर्व	तीर्थकर शीतलनाथ	१२२	तेईसवाँ पर्व	तीर्थकर महावीर	३०१
दसवाँ पर्व	तीर्थकर श्रेयांसनाथ	१३४	चौबीसवाँ पर्व	चक्रवर्ती पद का सामान्य स्वरूप	३२०
ग्यारहवाँ पर्व	तीर्थकर वासूपूज्यनाथ	१४४	पच्चीसवाँ पर्व	बलभद्र, नारायण एवं प्रतिनारायणों का स्वरूप	३५८
बारहवाँ पर्व	तीर्थकर विमलनाथ	१५८			
तेरहवाँ पर्व	तीर्थकर अनन्तनाथ	१६९	उपसंहार		३८४

X

प्रथम संस्करण : ५ हजार
(१ जनवरी, २००३)

मूल्य : ३५ रुपये

टाइपसेटिंग

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :

जे.के. ऑफसेट

जामा मस्जिद, दिल्ली

X

बहुत-बहुत आशीर्वाद

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की सुखी जीवन, संस्कार, इन भावों का फल क्या होगा, विदाई की बेला, जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, सामान्य श्रावकाचार आदि कृतियों के पठन-पाठन से सिद्ध होता है कि वे सिद्धहस्त रचनाकार हैं। उनकी 'हरिवंश कथा' एवं 'शलाका पुरुष' प्रथमानुयोग की अनुपम कृतियाँ हैं। हरिवंश कथा में भगवान शीतलनाथ के समय से लेकर भगवान नेमिनाथ तक के युग में हुए हरिवंश के उद्भव, विकास के पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रभावी एवं मनमोहक ढंग से किया गया है। सभी पात्र सजीव से जान पड़ते हैं। इसका घर-घर में पठन-पाठन होना चाहिए। जिससे वर्तमान समय में बिखरते नैतिक मूल्यों एवं श्रावक संस्कार को दृढ़ रखा जा सके। आप इसीप्रकार अपनी सिद्धहस्त लेखनी के द्वारा समाज एवं साहित्यिक सेवा करते रहें - इसके लिए मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद। - (मुनिश्री) उर्जयन्तसागरजी

महाराज

अभिमत

श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित हरिवंश कथा एवं शलाका पुरुष स्वाध्यायार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली उपयोगी और सार्थक रचना है। ढूंढारी भाषा में प्रकाशित प्रथमानुयोग के ग्रंथ और पीछे संस्कृत शब्दों के हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशित ग्रंथ दोनों ही से स्वाध्यायार्थी पुरुष एवं महिलार्यें संतुष्ट नहीं थे। प्रस्तुत ग्रंथ उक्त पाठकों की रुचि और बुद्धि के अनुकूल सरल, सुबोध और आधुनिक रोचक शैली में लिखे गये हैं, जो अनति विस्तृत और अल्पमूल्य में उपलब्ध है। इनमें उचित संशोधन के साथ धार्मिक विषयों का समावेश भी है तथा करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग संबंधी आवश्यक सामग्री भी रख दी गई है। वर्तमान में ऐसे ही ग्रंथों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति ऐसी रचनाओं से की जा रही है। विद्वान लेखक का यह परिश्रम सराहनीय है। - वयोवृद्ध विद्वान पण्डित नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

(संहितासूरि प्रतिष्ठाचार्य पूर्व अध्यक्ष विद्वत् परिषद्)

X**X**

प्रकाशकीय

‘हरिवंश कथा’ की लोकप्रियता से उत्साहित होकर विद्वद्वर्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने ‘शलाका पुरुष’ (उत्तरार्द्ध) नामक नवीन कृति का सृजन कर प्रथमानुयोग के ग्रंथों की प्रकाशन शृंखला में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया है, जिसका निश्चित ही समाज में समुचित समादर होगा – ऐसा विश्वास है।

आज पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का नाम जैन समाज में ख्यातिप्राप्त लेखकों में अग्रगण्य है। उनके द्वारा रचित कथानक शैली की कृतियाँ संस्कार, विदाई की बेला, सुखी जीवन, इन भावों का फल क्या होगा, ‘हरिवंश कथा’ तथा शलाका पुरुष (पूर्वार्द्ध) ऐसी बहुचर्चित कृतियाँ हैं, जिन्होंने बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ दिये हैं। इन कृतियों ने जनमानस को आन्दोलित तो किया ही है, जैन वाङ्मय के प्रति गहरी रुचि भी जाग्रत की है। इस क्रम में आपकी यह नवीनतम कृति है, शलाका पुरुष (उत्तरार्द्ध)।

यह तो सर्वविदित ही है कि जैन समाज में साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का कोई सानी नहीं है। गीताप्रेस गोरखपुर की भांति यह संस्था लागत से भी कम मूल्य में सत्साहित्य उपलब्ध कराने हेतु विश्वविख्यात है। प्रकाशन का कार्य उतना कठिन नहीं है, जितनी कि उसकी वितरण व्यवस्था कठिन है। चूंकि इस ट्रस्ट का अपना नेटवर्क भारत में ही नहीं अपितु विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है। अतः इसके द्वारा प्रकाशित साहित्य छपते ही देश-विदेश में पहुँच जाता है। इस ट्रस्ट का ध्येय पैसा कमाना नहीं है, अपितु अल्पमूल्य में जैन वाङ्मय घर-घर पहुँचाना है, जिसमें वह सफल है।

अभी तक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट पर यदा-कदा यह आरोप लगता रहा है कि प्रथमानुयोग के शास्त्र प्रकाशन पर इसका ध्यान नहीं है, परन्तु अब समाज का यह भ्रम भी तिरोहित हो जायेगा, क्योंकि क्षत्रचूड़ामणि, हरिवंश कथा एवं शलाका पुरुष (पूर्वार्द्ध) के प्रकाशनोपरान्त यह चौथा बड़ा ग्रंथ है, जिसके प्रकाशन को संस्था ने अपने हाथ में लिया है।

‘शलाका पुरुष’ (उत्तरार्द्ध) ग्रंथ की मूल विषयवस्तु गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण पर आधारित है। इस कृति में तीर्थंकर अजितनाथ से महावीर तक तेईस तीर्थंकरों के प्रभावी चरित्र चित्रण के साथ उनकी दिव्यवाणी के माध्यम से अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों का बखूबी रहस्योद्घाटन किया है।

रोचक शैली में लिखा गया प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चित ही पाठकों को प्रथमानुयोग का सार समझने में सहायक होगा।

आप सभी इस कृति के माध्यम से शलाका पुरुषों के जीवन को हृदयंगम कर, उन जैसे बनें और अपना जीवन सार्थक करें – इसी पवित्र भावना के साथ –

– ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अपनी बात

सम्पूर्ण जिनवाणी चार अनुयोगों में निबद्ध है। १. प्रथमानुयोग, २. चरणानुयोग, ३. करणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग। इनमें प्रथमानुयोग को सबसे सरल माना जाता है और शास्त्रों में ऐसा लिखा भी मिलता है कि प्रथम अर्थात् अव्युत्पन्न लोगों के लिए जो अनुयोग है, वह प्रथमानुयोग है। पण्डित टोडरमलजी ने भी यही कहा है। पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक का पूरा आठवाँ अधिकार चारों अनुयोगों के स्वरूप आदि को स्पष्ट करने के लिए ही समर्पित है। जिसे मैंने अनेक बार पढ़ा है और मैं उनकी प्रतिभा तथा लेखन की अपूर्वता और अद्भुत सूक्ष्म कथन का कायल हूँ, मेरा पाठकों से विनम्र निवेदन है कि प्रथमानुयोग का सही प्रयोजन समझने के लिए आप मोक्षमार्गप्रकाशक का आठवाँ अधिकार बारम्बारपढ़ें।

जब मैंने प्रथमानुयोग को लिखने का साहस किया, तब उसे बारीकी से पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा कि यह अनुयोग सर्वज्ञता की श्रद्धा में संपूर्णतः समर्पित हुए बिना समझ में नहीं आ सकता और सर्वज्ञता का सच्चा स्वरूप समझने के लिए और उसके प्रति अटल श्रद्धा हेतु कषाय की मन्दता अति आवश्यक है; क्योंकि हठाग्रही और पूर्वाग्रह से ग्रसित व्यक्ति प्रथमानुयोग को नहीं समझ सकते। उसे तो प्रथमानुयोग के कथनों में कदम-कदम पर अश्रद्धा होनेवाली है; क्योंकि आज की दुनिया प्रथमानुयोग की दुनिया से बिल्कुल भिन्न है। न तो भौगोलिक सुमेल है और न प्राणियों की संख्या संबंधी सुमेल है, पृथ्वी का विस्तार, मानवों की उम्र, ऊँचाई आदि सभी कुछ आज के परिप्रेक्ष्य में असंगत-सा लगता है; पर असंभव कुछ भी नहीं; क्योंकि आज भी हम बौने और लम्बे लोगों को प्रत्यक्ष देखते हैं। डायनासोर की हड्डियों के ढांचों के अवशेषों से भी बहुत कुछ प्राचीनता सत्य प्रतीत होती है।

मैं कुछ नास्तिक विचारधारावालों को छोड़कर उन सभी श्रद्धालुओं से जो किसी भी धर्म में विश्वास रखते हैं, उनसे पूछना चाहता हूँ कि “जो बातें आज विज्ञान के युग में प्रत्यक्ष देख रहे हैं, यदि ये ही सब बातें इन क्रान्तिकारी आविष्कारों के पूर्व किसी पुराने युग में हमें पढ़ने को मिलतीं तो क्या हमें विश्वास हो जाता? हम उन्हें सत्य मान लेते? जैसे कि रेलगाड़ी से लेकर राकेट तक का आविष्कार, टेलीफोन से मोबाइल, टी.वी. से

कम्प्यूटर आदि जो छोटे-मोटे चमत्कारिक कार्य हैं। हमारे देखते-देखते यह सब कैसे हो रहा है? हमें अभी भी पूरा विश्वास नहीं हो पाता। कुछ दिन पूर्व हम स्वयं सुना करते थे कि लाखों मीलों/किलोमीटरों दूर बैठे व्यक्तियों की बातें, आवाजें हम सुन सकेंगे। अपनी बात उनसे कह सकेंगे तो क्या गप्प-सी नहीं लगती थी? फिर सुना कि न केवल सुन सकेंगे, बल्कि उनका बोलते हुए चेहरा भी देख सकेंगे। तब हमें उन बातों पर हँसी आती थी; अस्तु: ऐसे एक नहीं और भी सैंकड़ों बातें हैं जो प्रत्यक्ष होते हुए भी हमें अभी भी चमत्कार से लगते हैं। इसीतरह पुराणों में पढ़ते हैं, आकाशगामिनी विद्या होती है, अग्निबाण होते हैं, उस पर किसी को विश्वास नहीं होता; किन्तु जैसे वैज्ञानिक चमत्कार सत्य हो सकते हैं; वैसे ही पुराणों के कथन भी सत्य ही हैं।

संभव है भविष्य में पुनः पत्थर युग आयेगा। किसी सनकी दिमाग के निमित्त से विनाशकारी एटम बम्बों के विस्फोट से पुनः प्रलय हो जायेगा, तब आज के युग की बातें पुनः कल्पित-सी लगने लगेंगी। जो व्यक्ति किसी भी धर्म में विश्वास रखता है, वह पौराणिक कथनों में सहसा अविश्वास नहीं कर सकता।

जब वानर, गजानन, बराह (सूकर) बावनिया (मात्र ५२ अंगुल के शरीर वाले) जैसे विचित्र प्राणी भगवान के अवतार हो सकते हैं, जब सारे विश्व का भविष्यदर्शन श्रीकृष्ण के मुख में किया जा सकता है, उन सब बातों पर लोग श्रद्धा और विश्वास कर सकते हैं, उन्हीं के आधार पर हम स्वर्ग-नरक के अस्तित्व को स्वीकार कर सकते हैं तो तीर्थंकरों के अतिशय और चक्रवर्तियों के वैभव की बातों में हमें विश्वास क्यों नहीं होगा ?

वस्तुतः कथानक तो कुनेन पर चढ़ी चीनी (शक्कर) की भांति है। आचार्य तो वस्तुतः हमें कथानकों के माध्यम से जैन तत्त्वज्ञान देना चाहते थे। कुछ आचरण करने योग्य बातें बताना चाहते हैं, कुछ नैतिकता के पाठ पढ़ाना चाहते हैं, कुछ सांसारिक सुखों के मोह से हमारा भ्रमभंग करना चाहते हैं, हमें राग से वैराग्य की ओर ले जाना चाहते थे; अतः जो बातें आज पाठकों को असंभव-सी लगती हैं और हमारे पास आगम के अलावा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उन्हें तर्क, युक्ति और प्रत्यक्ष के आधार पर सत्य सिद्ध करने के साधन नहीं हैं तो हम प्रथमानुयोग में उल्लिखित उन बातों को गौणरखकर भी मूल प्रयोजन को प्रभावक ढंग से प्रस्तुत करें तो हम प्रथमानुयोग के प्रयोजन में सफल हो सकते हैं।

देखो, एक नीतिकार ने लिखा है - काल की कोई अवधि नहीं, वह निरवधि है, असीमित है, पृथ्वी भी

विपुल है; परन्तु वर्तमान में हमने विज्ञान के साधनों से जितना पता चला पाया हम उसे ही सम्पूर्ण सृष्टि मानने लगे; परन्तु वैज्ञानिक तो आज भी खोज में संलग्न हैं, वे यह दावा नहीं करते कि जो हमने पाया है, वही सबकुछ है, उनकी खोज अपनी सीमा में अभी भी बराबर चालू है; अतः उसके आधार पर सर्वज्ञकथित आगम को झुठलाया नहीं जा सकता।

जब आज ज्ञान में भी हीनाधिकता देखी जाती है तो यदि पूर्वकाल में इससे भी अधिक ज्ञानवान (सर्वज्ञ) हों तो आश्चर्य क्यों ? आचार्य तो कथानकों में कद, आयु, धनी-निर्धन सभी तरह के पात्रों के चरित्रों द्वारा यह कहना चाहते हैं कि चाहे कोई कद में छोटा हो या बड़ा हो, गरीब हो या अमीर हो निर्बल हो या बलवान हो उम्र में बहुत अधिक या बहुत कम हो तो इससे क्या ? समझना तो यह है कि उसमें कहीं किंचित् सुख नहीं है। इसीकारण उन तीर्थकर और चक्रवर्ती आदि ने भी वह सब वैभव त्याग कर नग्न दिगम्बरी दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण किया, मुक्ति की साधना की।

दूसरी बात यह है कि कुछ नास्तिक मतों को छोड़कर प्रायः सभी धर्मों ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार बहुत शास्त्र अतिशयोक्तिपूर्ण लिखे हैं, उनके पीछे भी कोई न कोई प्रयोजन रहा होगा; अतः हम कथानक पर अविश्वास करने के बजाय उसके प्रयोजन पर ध्यान दें।

महाकाव्यों में बहुत से कथन अतिशयोक्ति अलंकार में बढ़ा-चढ़ा कर भी होते हैं। इस अपेक्षा कुछ कथन बढ़ा-चढ़ा कर भी किया हो तो भी उसका प्रयोजन यह है कि तीर्थकर, कामदेव, इन्द्र और चक्रवर्ती जैसे पदों में इतने वैभव के होते हुए भी उन्हें निराकुल सुख-शान्ति नहीं मिली और उन्होंने भी उसे छोड़कर सच्चे सुख-शान्ति की खोज में वनवासी दिगम्बर मुनि बन कर मुक्ति की साधना की।

अतः हम भी उनके इस आदर्श जीवन से यह शिक्षा प्राप्त करें कि प्राप्त वैभव में न उलझे रहेंगे। जो चक्रवर्ती प्राप्त वैभव में, राजकाज में और गृहस्थी में उलझे रहे, उनकी अधोगति हुई। यह बात भी हमें गृहत्यागी बनने की प्रेरणा देती है। सभी पाठकवृन्द इन प्रथमानुयोग के कथनों से सद्प्रेरणा ग्रहण करें, आत्मोन्नति करें - यही मंगल भावना है।

- लेखक

प्रथमानुयोग से लाभ

प्रथमानुयोग के पढ़ने से-

नाना पात्रों के परिचय से,

चित्र-चिचित्र चरित्रों से,

पापों के प्रचुर संयोगों से,

सौभाग्य सुख-संयोगों से,

सुख-दुःख की आँख मिचौनी से;

जीवों की दुःखद कहानी से,

व्याकुल जीवों को देख-देख;

यह सहज समझ में आता है कि -

है जीव नाना कर्म नाना लब्धि नाना विध अहा!

अतएव निज-पर समय से, वाद वर्जित है कहा ॥

शलाका-पुरुष

(उत्तरार्द्ध)

१

मंगलाचरण

अनन्तधर्ममय मूलवस्तु है, अनेकान्त सिद्धान्त महान ।
वाचक-वाच्य नियोग के कारण, स्याद्वाद से किया बखान ॥
आचार अहिंसामय अपनाकर, निर्भय किए मृत्यु भयवान ।
परिग्रह संग्रह पाप बताकर, अजित किया जग का कल्याण ॥

गुणों की चाह रखनेवाले पुरुष गुणों को खोजते हैं; परन्तु पूर्वविदेह स्थित वत्स देश में सुसीमा नगरी के राजा विमलवाहन में सभी गुण अपने आप आकर बस गये थे । वह गुणज्ञ एवं गुणानुरागी होने के साथ-साथ उत्साही, धीर-वीर एवं मंत्रशक्ति से सम्पन्न था । अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उसे प्राप्त थीं । वह पुत्रवत् स्नेह के साथ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था । राजा विमलवाहन जानता था कि धर्म से आत्मा पवित्र होता है । जबतक धर्म की सम्पूर्णतः प्राप्ति नहीं होती तबतक विशुद्ध भावों से सातिशय पुण्यार्जन तो होता ही है, जिससे पुनः पुनः परमात्मा का सान्निध्य और आत्महित के साधन मिलते रहते हैं ।

इसकारण वह जैनधर्म के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों का भलीभांति पालन करता हुआ आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना करता था ।

सुखपूर्वक साम्राज्य करते हुए एक दिन क्षणभंगुर उल्कापात के निमित्त से उसको संसार की क्षणभंगुरता का आभास हो गया और वह संसार, शरीर एवं भोगों को क्षणभंगुर (नश्वर) जान कर संसार की अशरणता

का विचार कर भोगों से विरक्त हो गया। वह विचार करने लगा - “इस जीव का जो शरीर में निवास होता है वह आयुकर्म के निमित्त से ही होता है। मैं यद्यपि अभी शरीर में स्थित हूँ, तथापि इस शरीर में रहने की भी काल की सीमा निश्चित है। अंजुली के जल की भांति आयुकर्म भी प्रतिपल उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है। अतः जबतक मैं इस देह में हूँ, जबतक आयुकर्म समाप्त नहीं हो जाता तबतक मैं मोक्षमार्ग में उत्साह के साथ प्रवृत्ति करके मानव पर्याय को सफल कर लूँगा।”

इसप्रकार विषयाभिलाषा के आशारूप पाश को छेदकर राजा विमलवाहन ने राज्य सम्पदा से निस्पृह होकर अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषायों को कुचलते हुए अनेक राजाओं के साथ जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

पूर्वराजा एवं वर्तमान मुनिराज विमलवाहन और कोई नहीं, वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थकर अजितनाथ स्वामी के पूर्वभव के ही जीव थे। मुनिराज विमलवाहन ने स्वभाव सन्मुखता के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा आत्मविशुद्धि के साथ ग्यारह अंग का ज्ञान तो प्राप्त कर ही लिया साथ ही दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के चिन्तन से तथा सम्पूर्ण विश्व के प्रति धर्म वात्सल्य की उत्कृष्ट भावना से तीर्थकर प्रकृति का बंध भी कर लिया था।

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेवाले तपस्वी मुनिराज विमलवाहन आयु के अन्त में पंच परमेष्ठियों का स्मरण करते हुए समाधिमरण कर तैंतीस सागर की आयुवाले सर्वार्थसिद्धि के अन्तर्गत विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ द्रव्य शुक्ललेश्या एवं भाव शुक्ललेश्या सहित समचतुरसंस्थान से युक्त प्रशस्त रूप-रस-गंध-स्पर्श से सम्पन्न अहमिन्द्र हुए। वे सर्वार्थसिद्धि में सोलह माह व पन्द्रह दिन बाद उच्छ्वास लेते थे। तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करते थे। लोकपर्यन्त के समस्त रूपी पदार्थों को अपने अवधिज्ञान से जान/देख सकते थे। वह लोक नाड़ी पर्यन्त अपने शरीर को विक्रिया के द्वारा छोटा-बड़ा भी कर सकते थे। लोक नाड़ी को उखाड़कर अन्यत्र रख दें - ऐसे शारीरिक विशिष्ट बल के धारक थे।

उस महाभाग अहमिन्द्र के स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित होने के छह माह पूर्व से ही प्रतिदिन सत्ता में विद्यमान तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति के प्रभाव से जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्रीय राजा जितशत्रु के घर में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा की। तदनन्तर जेठ महीने की अमावस्या के दिन महारानी विजयसेना ने सोलह स्वप्न देखें। माता विजयसेना ने मुखकमल में प्रवेश करता मदोन्मत्त हाथी भी देखा। प्रातःकाल महारानी ने पति जितशत्रु से स्वप्नों का फल पूछा। देशावधि ज्ञान के धारक जितशत्रु ने उनका फल बतलाते हुए कहा - कि तुम्हारे गर्भ में विजय नामक सर्वार्थसिद्धि विमान से तीर्थकर पुत्र अवतीर्ण हुआ है। वह पुत्र गर्भ में ही मति-श्रुत-अवधि - तीन ज्ञान नेत्रों से दैदीप्यमान है।

जिसप्रकार नीति अभ्युदय को जन्म देती है उसीप्रकार माता विजयसेना ने माघमास के शुक्लपक्ष की दशमी के दिन भावी तीर्थकर बालक अजितनाथ को जन्म दिया। जन्म होते ही तीर्थकर होनेवाले बालक का देव-देवेन्द्रों द्वारा मेरु पर्वत पर ले जाकर महोत्सव के साथ जन्माभिषेक किया गया।

तीर्थकर अजितनाथ की बहत्तर लाख पूर्व की आयु थी। उनका शरीर स्वर्ण के समान पीतवर्ण का था। जब उनकी आयु का चतुर्थ अंश बीत चुका था, तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ।

एक समय महाराजा अजितनाथ महल की छत पर बैठे थे; उन्होंने भोगों की अस्थिरता की प्रतीक आकाश में क्षणभंगुर उल्कापात को चमक कर नष्ट होते देखा। तो वे तत्काल विषय भोगों से विरक्त हो गये। उसीसमय लौकान्तिक देवों ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर उनके वैराग्य की प्रशंसा की।

जिसप्रकार व्यक्ति देखते तो अपने नेत्रों से हैं; परन्तु सूर्य उसमें सहायक या निमित्त बन जाता है। उसीप्रकार अजितनाथ थे तो स्वयंबुद्ध; किन्तु लौकान्तिक देवों द्वारा उनके वैराग्यवर्द्धक विचारों के अनुकूल उद्बोधन उनके लिए निमित्त बन गया। फिर देर का क्या काम? वे तुरंत समस्त राज्यभार अजितसेन नामक पुत्र को सौंपकर जिनदीक्षा लेने को तत्पर हो गये। देव-देवेन्द्र उनका दीक्षाकल्याणक महोत्सव मनाने हेतु

१. सम्पूर्ण जानकारी के लिए शलाका पुरुष भाग-१ देखें।

आ गये। दीक्षाकल्याणक के समय होनेवाली समस्त क्रियायें करके वैरागी अजितनाथ को सुप्रभा नामक पालकी में बैठाकर वन की ओर ले गये।

उनकी पालकी को सर्वप्रथम मनुष्यों ने, फिर विद्याधरों ने और फिर देवों ने उठाया था। माघमास के शुक्लपक्ष की नवमी के दिन सप्तपर्ण वृक्ष के समीप जाकर संयम धारण कर लिया। एक हजार अन्य राजा भी संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होकर उनके साथ दीक्षित हो गये।

दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। कुछ दिन बाद आहार हेतु साकेत नगरी में गये। वहाँ ब्रह्मानामक राजा ने विधिवत् उनका पड़गाहन कर उन्हें आहारदान दिया। मुनिराज अजितनाथ के आहारदान से राजा को ऐसा पुण्य लाभ मिला कि उनके घर उसीसमय पंचाश्चर्य हुए।

मुनिराज ने आत्मा की साधना करते हुए बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताये। तदनन्तर पौष शुक्ल एकादशी के दिन चार घातिया कर्मों का क्षयकर पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ बन गये अर्थात् सर्वज्ञता प्रगट कर वे आप्त (अरहंतदेव) हो गये। उनके सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी मुनिराज, इक्कीस हजार छह सौ उपाध्याय, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी मुनि, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रियाऋद्धिधारी, बारह हजार चार सौ मनःपर्ययज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तरवादी मुनि थे। इसप्रकार सब मिलाकर एकलाख तपस्वी थे। तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें और असंख्यात देव-देवियाँ उनकी धर्मसभा (समोशरण) में श्रोता थे।

इसप्रकार बारह सभाओं से वेष्टित तीर्थकर भगवान अजितनाथ स्वामी की दिव्यध्वनि खिरती थी। जिसमें रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का निरूपण तो होता ही था। जिज्ञासुओं की शंकाओं के समाधान भी सहज हो जाते थे।

एक श्रोता को प्रश्न हुआ। “प्रभो ! सामान्य श्रावक की मोक्षमार्ग में प्राथमिक भूमिका क्या है ? मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए श्रावक की पात्रता कैसी होती है ?”

दिव्यध्वनि में उत्तर आया - “जिनागम के निर्देशानुसार श्रावक को मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ने के लिए सर्वप्रथम मद्य-मांस-मधु का सेवन न करना, सात व्यसनों से सदा दूर रहना, पाँचों पापों का स्थूल त्याग होना, रात्रि में भोजन न करना, बिना छने जल का उपयोग न करना, प्राणीमात्र के प्रति करुणाभाव होना और नित्य देवदर्शन व स्वाध्याय करना तो सामान्य श्रावकों का प्राथमिक कर्तव्य है। यद्यपि सामान्य श्रावक अभी अव्रती हैं, उसने अभी प्रतिज्ञापूर्वक कोई व्रत ग्रहण नहीं किया है, पर वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को प्राप्त करने की भावना रखता है; एतदर्थ उसे उपर्युक्त प्राथमिक निर्देशों का पालन तो करना ही चाहिए। इसके बिना तो आत्मा-परमात्मा की बात समझना भी संभव नहीं है।”

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, तत्त्वार्थश्रद्धान से उपलब्ध होता है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उस उपलब्धि में निमित्त होते हैं। एतदर्थ उसे भगवान आत्मा, सात तत्त्व एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।

जिस निकृष्ट काल में पाप की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हों, मद्य-मांस का सेवन सभ्यता की श्रेणी में सम्मिलित होता जा रहा हो, शराब शरबत की तरह आतिथ्य सत्कार की वस्तु बनती जा रही हो, अंडों को शाकाहार की श्रेणी में सम्मिलित किया जा रहा हो, मछलियों को जलककड़ी की संज्ञा दी जा रही हो। ऐसी स्थिति में इन सबकी हेयता का ज्ञान कराना और इनसे होनेवाली हानियों से परिचित कराना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। इन सबका त्याग किये बिना धर्म पाना तो दूर, उसे पाने की पात्रता भी नहीं आती।

सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्ट मूलगुणों का धारी होना आवश्यक है; क्योंकि वह व्यक्ति ही आत्मा-परमात्मा की बात समझ सकता है। सात तत्त्वों की बात समझ सकता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान कर सकता है। अतः प्रत्येक निराकुल सुख-शान्ति चाहनेवाले आत्मार्थी व्यक्ति अर्थात् सच्चे श्रावक को सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्ट मूलगुणों का धारी तो होना ही चाहिए।

सामान्यतः मद्य-मांस-मधु और पाँचों उदुम्बर फलों का त्याग ही अष्ट मूलगुण है। मूलगुण अर्थात् मुख्यगुण, जिनके धारण किये बिना श्रावकपना ही संभव न हो। जिसप्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष का खड़ा रहना संभव नहीं है, उसीप्रकार मूलगुणों के बिना, श्रावकपना भी सम्भव नहीं है।

ये मुख्यरूप से आठ हैं, अतः इन्हें अष्ट मूलगुण कहते हैं। मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फलों का सेवन महा दुःखदायक और असीमित पापों का घर है अर्थात् इनके खाने-पीने से महा पाप उत्पन्न होता है; अतः इनका त्याग करके निर्मलबुद्धि को प्राप्त श्रावक ही जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है।

पहले इनका त्याग करे, तभी व्यक्ति धर्मोपदेश को ग्रहण कर सकता है; यद्यपि अष्ट मूलगुणों का कथन सर्वत्र चारित्र के प्रकरण में आया है; परन्तु जहाँ-तहाँ भी मूलगुणों का वर्णन आया है, वहाँ यह अभिप्राय अवश्य प्रगट किया है कि जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों को छोड़ देना चाहिए।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रत्येक अहिंसाप्रेमी जैन को सबसे पहले अर्थात् सम्यग्दर्शन के भी पहले मूलगुणों का धारण करना और सप्त व्यसनो का त्याग करना अनिवार्य है। इसके बिना तो सम्यग्दर्शन होना भी संभव नहीं है।”

“प्रभो ! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु मूलगुणों का जानना यदि इतना महत्त्वपूर्ण है तो इन्हें भी विस्तार से बताइए?”

हाँ, हाँ, सुनो ! श्रावकधर्म के आधारभूत मुख्यगुणों को मूलगुण कहते हैं। मूलगुणों में मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फलों का त्याग - ये आठ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त हिंसा के आयतन होने से पाँचों पाप, सातों व्यसन एवं रात्रिभोजन का स्थूल त्याग तथा अनछने पानी का उपयोग न करना भी सम्मिलित हैं।

दिव्यध्वनि में आया - दिव्यध्वनि में आया - मूलगुणों के संदर्भ में भविष्य में जिनागम में कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख इसप्रकार होंगे -

“मद्यं-मांसं-क्षौद्रं, पंचोदुम्बर फलानि यत्नेन् ।

हिंसा व्युपरतकामैः मोक्तव्यानि प्रथमेव ॥ - पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक-६१

प्राणियों के प्राण पीड़नरूप द्रव्यहिंसा का त्याग करने के इच्छुक जनों को प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक मद्य-मांस-मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करना चाहिए।”

“मद्य-मांस-मधु त्यागः सहोदुम्बरः पंचकैः ।

अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥ - यशस्तिलक चम्पू, श्लोक-२५५

आगम में पाँच उदुम्बर फल एवं मद्य-मांस-मधु के त्याग को गृहस्थों के आठ मूलगुण बतलाये हैं।”

“तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।

मद्य-मांस-मधुन्युज्जेत, पंच क्षीरफलानि च ॥ - सागारधर्मामृत, अ. २२, श्लोक

२

सबसे पहले जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करते हुए हिंसा का त्याग करने के लिए मद्य-मांस-मधु और पाँच क्षीरफलों का त्याग करना चाहिए।”

“मद्यं-मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बर पंचकम् ।

वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥ - लाटी संहिता, अ. १, श्लोक-५

केवल अपने कुलधर्म की मर्यादा को जाननेवाले श्रावकों को भी मद्य-मांस-मधु एवं पंच-उदुम्बर फलों का त्याग तो करना ही चाहिए।”

“मज्जु-मंसु-महु-परिहरहि, करि पंचुबर दूरि ।

आयहं अन्तरि अट्टहानि तस उप्पज्जई भूरि ॥ - सावयधम्म दोहा, गाथा-२२

मद्य-मांस-मधु का परिहार करो, पाँच उदुम्बर फलों को दूर से ही त्यागो; क्योंकि इन आठों के अन्दर त्रसजीव होते हैं।”

“अथ मद्य-पला-क्षौद्र, पंचोदुम्बर वर्जनम् ।

व्रतं जिघृक्षुणा पूर्वं, विधातव्यं प्रयत्नतः ॥ - श्रावकाचार सारोद्धार, अ. ३, श्लोक ६
श्रावक के व्रतों को ग्रहण करने के इच्छुक पुरुषों को सबसे पहले मद्य-मांस-मधु और पाँच उदुम्बर फलों के खाने का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए ।”

“मद्य-मांस-मधु त्यागैः सहाणुव्रत पंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ - रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६६
मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ पाँचों पापों के स्थूल त्याग को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहे हैं ।”

“मद्य-मांस-मधु त्याग, संयुक्ताणुव्रतानि नुः ।

अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बरैश्चार्षकेष्वपि ॥ - रत्नमाला, श्लोक १९

मद्य-मांस-मधु के त्याग सहित पाँचों अणुव्रत ही मनुष्यों के आठ मूल गुण कहे गये हैं । पाँच उदुम्बर फलों के साथ मद्य-मांस-मधु के त्याग रूप आठ मूलगुण तो अबोध बालक भी धारण कर लेते हैं ।”

“मधु-मांस परित्यागः पंचोदुम्बर वर्जनम् ।

सिादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥ - महापुराण, पर्व ३८, श्लोक १२२

गृहस्थ के शहद, मांस एवं पाँच उदुम्बर फलों का त्याग तथा हिंसादि पाँचों पापों से विरक्तिरूप सार्वकालिक-औत्सर्गिक व्रत तो जीवनपर्यन्त रहते हैं ।”

“हिंसादि पंच दोष विरहितेन द्यूत मद्य मांसानि परिहर्तव्यानि ।

हिंसादि पाँच पापों से रहित श्रावक को द्यूत, मद्य और मांस का परिहार करना चाहिए ।”

“हिंसाऽसत्यस्तेयाद्ब्रह्म परिग्रहाच्च बादरभेदात् ।

द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति, गृहिणोऽष्ट सन्त्यमीमूलगुणाः ॥ - चारित्रसार, श्लोक-१५

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से तथा जुआ, मांस और मद्य से विरत होना गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं।”

“मधुनो-मद्यतो-मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात् ।

वेश्या संगमनाच्चास्य, विरतिर्नियमः स्मृतः ॥ - पद्मचरित, पर्व १४, श्लोक-२३

मद्य-मांस-मधु, द्यूत, वेश्या तथा रात्रिभोजन से विरक्त होना एवं अनन्तकाय आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।”

आचार्य रविषेण के उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करते हुए वसुनन्दि श्रावकाचार में अनन्तकाय वनस्पति के त्याग पर विशेष बल दिया जायेगा ।

“पंचुदम्बर सहियाङं सत्तवि विसणाई जो विवज्जेई ।

सम्मत्त विसुद्ध मई, सो दंसण सावओ भणिओ ॥

उंवर बड़ पिप्पल, पिंपरीय संधाण तरूपसूणाई ।

णिच्चं तस संसिद्धांङ, ताई परिवज्जियब्बाइ ॥

जूयं मज्जं मंसं, वेसा पारद्धि-चोर-परयारं ।

दुग्गइ गमणस्सेदाणि, हेउ भूदाणि पावाणि ॥ - वसुनन्दि श्रावकाचार, ५७, ५८, ५९

सम्यग्दृष्टि जीवों के पाँच उदुम्बर फलों सहित सातों व्यसनो का त्याग होता है ।

ऊमर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर तथा संधानक (अचार) और वृक्षों के फूल नित्य ब्रसजीवों से भरे हुए रहते हैं; इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए ।

जुआ खेलना, शराब पीना, मांस खाना, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना एवं परदार सेवन करना - ये सातों व्यसन दुर्गति गमन के कारण हैं ।

“उदुम्बराणि पंचैव, सप्तव्यसनान्यपि ।

वर्जयेत् यः सः सागारो, भवेद् दार्शनिकाह्वय ॥ - गुणभूषण श्रावकाचार, अ.३, श्लोक ४

जो जीव पाँच उदुम्बर फलों का और सातों ही व्यसनो का त्याग करता है, वह दार्शनिक श्रावक है ।”

“अष्टमूलगुणोपेतो, द्यूतादि व्यसनोज्झितः ।

नरो दार्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चत्सदर्शनान्वितः ॥ - लाटीसंहिता, प्र.सर्ग, श्लोक-६१

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुणधारी एवं सप्त व्यसनो का त्यागी हो, उसे दार्शनिक श्रावक या दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है ।”

“मद्य-मांस-मधु रात्रिभोजन क्षीरवृक्ष फल वर्जनं त्रिधा ।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र, पुष्यति निवेशते व्रतं ॥ - अमितगति श्रा., परि.५, श्लो. १

चतुरजन मद्य-मांस-मधु, रात्रिभोजन और क्षीरोवृक्षों का मन-वचन-काय से त्याग करते हैं; क्योंकि इनके त्याग करने से व्रत परिपुष्ट होते हैं, धर्म धारण की पात्रता प्रगट होती है ।”

उपर्युक्त श्रावकाचारों के अतिरिक्त ९ वीं सदी का वरांगचरित, १२वीं सदी का पूज्यपाद श्रावकाचार, १५वीं सदी का प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, १६वीं सदी का धर्मसंग्रह श्रावकाचार एवं व्रतोद्योतन श्रावकाचार, १७वीं सदी का श्रावकाचारसारोद्धार आदि और भी अनेक श्रावकाचार होंगे; जिनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मद्य-मांस-मधु, पाँच-उदुम्बर फलों एवं सप्त व्यसनो के त्यागरूप मूलगुणों का उल्लेख होगा ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन वाङ्मय में चरणानुयोग का ऐसा कोई शास्त्र होगा, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से श्रावक के आठ मूलगुणों की चर्चा न हो तथा इन आठों मूलगुणों में ही श्रावक के योग्य स्थूलरूप से अहिंसक आचरण को सम्मिलित न किया गया हो ।

तात्पर्य यह है कि सभी श्रावकाचारों में अहिंसक आचरण की मुख्यता से ही आठ मूलगुणों का विधान

किया जायेगा। यद्यपि आचार्यों द्वारा मूलगुणों की आठ संख्या को कायम रखने के प्रयास होंगे, पर अन्ततः वह निर्वाह हो नहीं सकेगा। अतः कहीं-कहीं ६, ७, ९ एवं १२ संख्या भी होगी। फिर भी अधिकांश आचार्यों के द्वारा सभीप्रकार के अहिंसाप्रधान दैनिक आचरण को मूलगुणों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया जायेगा।

उपर्युक्त मूलगुणों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए राजवार्तिक के हिन्दी टीकाकार अपना निम्नांकित मन्तव्य प्रगट करेंगे -

“किसी शास्त्र में तो पाँच अणुव्रत व मद्य-मांस-मधु के त्याग को आठ मूलगुण कहा जायेगा तथा किसी शास्त्र में तीन प्रकार के मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फल (बड़, पीपल, ऊमर, पाकर व कठूमर) के त्याग को अष्ट मूलगुण कहेंगे। किसी अन्य शास्त्रों में अन्य प्रकार के मूलगुण कहेंगे। सो यह तो विवक्षा का भेद है। वहाँ ऐसा समझना कि स्थूलरूप से पाँच पापों का ही त्याग कराया है।

पाँच-उदुम्बर फलों के त्याग में द्वि-इन्द्रिय आदि त्रसजीवों के भक्षण का त्याग हुआ, शिकार के त्याग में भी त्रसजीवों को मारने का त्याग हुआ। चोरी तथा परस्त्री के त्याग में भी अचौर्य व ब्रह्मचर्य व्रत हुए। जुआ आदि दुर्व्यसनों के त्याग में असत्य का त्याग हुआ तथा परिग्रह की अति चाह मिटी। मद्य, मांस व शहद के त्याग में भी त्रसजीवों की हिंसा का त्याग हुआ।”

इसप्रकार जहाँ मद्य-मांस-मधु के साथ पाँच उदुम्बर फलों के त्याग की बात कही होगी, वहाँ पाँचों पापों का त्याग भी अनुक्त रूप से आ ही जायेगा और जहाँ पाँचों पापों के स्थूल त्याग की बात तो कही होगी, पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग की बात नहीं कही होगी, वहाँ भी पंच उदुम्बर फलों का त्याग भी अनकहे आ ही जायेगा; क्योंकि जिसने पापों के त्याग में हिंसा का त्याग कर दिया, वह त्रस जीवों से भरे पंच उदुम्बर फल कैसे खा सकता है ?

इसीप्रकार सप्तव्यसन, रात्रि भोजन, बिना छना जल आदि के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

मूलगुणों के विभिन्न कथनों का समन्वय - विक्रम की दूसरी सदी से उन्नीसवीं सदी तक जिनागम में जो विविध रूपों में अष्ट मूलगुणों की चर्चा होगी, उनमें से पुरुषार्थसिद्धयुपाय एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उल्लिखित मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों के त्याग तथा मद्य-मांस-मधु व पाँचों पापों के स्थूल त्याग रूप अष्टमूलगुण ही अधिक प्रचलित होगा; क्योंकि जनसाधारण में चरणानुयोग के ग्रन्थों में ये दोनों ग्रन्थ ही सर्वाधिक स्वाध्याय व पठन-पाठन में रहेंगे। दूसरे, जहाँ हिंसा के त्याग का नियम ले लिया गया हो, वहाँ कोई हिंसा के आयतन रात्रिभोजन, अनछना जल आदि का उपयोग भी कैसे कर सकता है? अतः अन्य मनीषियों द्वारा प्रतिपादित विविध मूलगुण भी इन्हीं में अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। इसकारण वे अचर्चित रह जायेंगे।

पुराण साहित्य में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले पद्मपुराण, महापुराण एवं हरिवंश पुराणों में आगत श्रावकाचार के प्रकरण में अष्ट मूलगुणों की जो चर्चा आयेगी, वहाँ भी देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ जुआ, रात्रि भोजन, वेश्या संगत एवं परस्त्री रमण के त्याग को भी अष्ट मूलगुणों में विशेषरूप से उल्लेख कर दिया जायेगा।

महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य आठ की संख्या कायम रखने के कारण मद्य-मांस एवं पाँच उदुम्बर फलों के साथ हिंसा आदि पाँचों पापों को एक गिनकर आठ मूलगुण कहेंगे। ध्यान रहे, उन्होंने मद्य-त्याग की जगह हिंसादि पापों के त्याग को स्थान दिया है - ऐसा समझना।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन्हें मद्य-त्याग कराना इष्ट नहीं है। मद्य तो सामाजिक दृष्टि से भी वर्जित है ही, अतः मद्य के कथन को गौण करके उसके स्थान पर पापों के त्याग को मुख्य किया है।

चामुण्डराय ने चारित्रसार में अपने देशकाल के अनुसार हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के स्थूल तथा जुआ, मांस और मद्य सेवन के त्याग को अष्टमूलगुण नाम दिया होगा। इसकारण इनके कथन में मधुत्याग गौण हो जायेगा।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि चारित्रसार का कथन मूलतः आचार्य जिनसेन के आदिपुराण से ही उद्धृत होगा। एक ही ग्रन्थ में प्रकरण के अनुसार अलग-अलग दो कथन हैं। एक जगह मद्य के त्याग को गौण किया जायेगा और दूसरी जगह मधु के त्याग को। इसी से स्पष्ट है कि उन्हें मद्य व मधु दोनों का ही त्याग इष्ट है।

प्रश्न – पाँच अणुव्रत तो दूसरी प्रतिमा में होते हैं, फिर उन्हें अत्रती श्रावक के अष्ट मूलगुणों में सम्मिलित क्यों किया गया ?

उत्तर – व्यसनों के प्रकरण में जो चोरी एवं परस्त्री के त्याग की बात आई है। वहाँ पण्डित सदासुखदासजी स्पष्ट लिखेंगे कि “जाके जिनधर्म की प्रधानता होय है ताके चारित्र मोह के उदयतैं त्याग, व्रत, संयम नाहीं होय तो हू अन्याय के धन में वांछा मत करो।”

यही स्थिति मूलगुणों में आये पाँचों पापों के त्याग के विषय में समझना चाहिए। भले ही उसे अभी व्रत संयम नहीं हुए हैं, पर जैनधर्म के श्रद्धानी के जीवन में लोकनिन्द्य सामान्य पापाचार तो नहीं होना चाहिए। भले ही उसे अभी व्रत संयम नहीं हुए हैं, एतदर्थ ही पाँचों पापों के स्थूल त्याग को मूलगुणों में रखा जायेगा।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि मूलगुणों में तो पाँच अणुव्रत कहे, उनमें अतिचार नहीं टल पाते हैं और व्रतप्रतिमा में पंचाणुव्रतादि बारहव्रत अतिचार रहित पूर्ण निर्दोष रीति से पालन होते हैं। ●

काल की गति विचित्र होती है, वह भी धीमे-धीमे मानव को सहजता की ओर ले जाने में सहयोग करती है। अच्छी-बुरी स्मृतियाँ काल के गाल में सहज समाती जाती हैं। अतः भूत के दुर्दिनों को भूलने में ही हमारा हित है।

– इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-६९

जिनका केवलज्ञान सर्वगत, लोकालोक प्रकाशक है।
जिनका दर्शन भव्यजनों को, निज अनुभूति प्रकाशक है॥
जिनकी दिव्यध्वनि भविजन को, स्व-पर भेद परिचायक है।
उन जिनवर संभवनाथ प्रभु को, नमन हमारा शत-शत है॥

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसका राजा विमलवाहन था, जिसका निकट भविष्य में मोक्ष होनेवाला था। अतः वह शीघ्र ही दुःखद संसार से विरक्त हो गया।

वह विचार करने लगा कि “इस संसार में वैराग्य के मुख्यरूप से तीन कारण हैं - १. प्रथम तो यह कि जीव निरन्तर यमराज (मृत्यु) के मुख में बैठा रहने पर भी जीवित रहने की सोचता है, तदनुसार निष्फल प्रयत्न भी करता है, तीव्र मोहवश मृत्यु को जीतने का प्रयत्न नहीं करता, अजर-अमर होने की दिशा में बिल्कुल भी नहीं सोचता। इसलिए इस अज्ञान अंधकार को धिक्कार है। मैं इस अंधेरे से ऊब चुका हूँ। अतः मैं तो शीघ्र सम्यग्ज्ञान ज्योति के प्रकाश में जाऊँगा।”

२. वैराग्य का दूसरा कारण यह है कि अनन्तकाल की अपेक्षा अत्यन्त अल्प इस जीव की आयु है; परन्तु यह अज्ञानी जीव उसे ही शरण मानकर बैठा है। आश्चर्य यह है कि वे आयु के क्षण ही प्रतिपल यमराज (मौत) के समीप पहुँचा रहे हैं, फिर भी यह अपने को अमर माने बैठा है। काल की गति स्वयं अशरण स्वरूप है, वे दूसरों को शरण कैसे देंगे?

३. वैराग्य का तीसरा कारण यह है कि ये जीव अभिलाषारूप ज्वाला में जलकर विषयभोगरूपी किसी सूखी नदी के तट पर खड़े पुष्प पत्र एवं फलविहीन वृक्षों की छाया का आश्रय खोजते-फिरते हैं, उनकी

यह सुखी होने की आशा दुराशा मात्र है। निर्जल नदी और छाया एवं फल रहित वृक्ष अभिलाषा से जलते हुए प्राणियों को शीतलता कहाँ से प्रदान करेंगे।”

इसतरह विचार करते हुए विमलवाहन राजा ने अपना राज्य विमलकीर्ति नामक पुत्र को देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की शिष्यता स्वीकार कर ली, उनके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ ही समय में ग्यारह अंगों का ज्ञाता होकर उसने सोलहकारण^१ भावनाओं द्वारा तीनों लोकों में अपना प्रभाव फैलानेवाला तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया। अन्त में संन्यास की विधि^२ देह त्यागकर प्रथम ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में बड़ी-बड़ी ऋद्धि का धारक अहमिन्द्र हुआ। उसकी तेईस सागर की आयु थी। साठ अंगुल ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी साढ़े ग्यारह माह में एकबार श्वांस लेता था। तेईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, आहार की इच्छा होते ही कंठ से अमृत झर जाता था। जबान जूठी न होने पर भी भूख की सम्पूर्णतया संतुष्टि हो जाती थी। उसके भोग प्रविचार से रहित होते हुए प्रविचार के सुख से अनन्तगुणों सुखद थे। सातवें नरक तक जानने की उनके अवधिज्ञान की सीमा थी। वहाँ तक जाने की उसकी शक्ति भी थी। उतनी ही दूर तक फैले - ऐसी उसके शरीर की प्रभा थी।

इसप्रकार वह अहमिन्द्र अणिमा, महिमा आदि गुणों से सहित तथा पुण्योदय से प्राप्त अहमिन्द्र के सुखों को भोगता था। जब इस अहमिन्द्र की आयु के मात्र छह मास शेष रह गये और संभवनाथ तीर्थकर के रूप में अवतरित होने की काललब्धि आनेवाली थी तो इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्रान्तर्गत श्री वास्ती नगरी में राजा दृढराज्य के घर सुषेणा के गर्भ में आकर जन्म लेने के पूर्व पन्द्रह माह तक कुबेर द्वारा रत्नवृष्टि की गई।

फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन प्रातःकाल के समय मृगशिरा नक्षत्र में पुण्योदय से रानी सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। तदनन्तर स्वप्न में ही उसने देखा कि सुमेरु पर्वत के शिखर के समान आकारवाला तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त एक श्रेष्ठ हाथी मेरे मुख में प्रवेश कर रहा है।

१. शलाका पुरुष भाग-१ देखें।

२. संन्यास की विस्तृत जानकारी के लिए विदाई की बेला देखें।

प्रातः अपने पति से उन शुभ स्वप्नों के फल को सुनकर रानी सुषेणा आनन्दित हुई। उसी दिन वह अहमिन्द्र रानी सुषेणा के गर्भ में अवतरित हुआ। तत्पश्चात् नवमें महीने में कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन तीर्थंकर संभवनाथ स्वामी के रूप में पुत्ररत्न को जन्म दिया। पूर्व तीर्थंकरों की भांति ही जन्मकल्याणक महोत्सव सम्बन्धी समस्त क्रियायें हो जाने के बाद उनका विधिवत् संभवनाथ नामकरण संस्कार किया गया।

इन्द्रों ने उन संभवनाथ तीर्थंकर देव की स्तुति करते हुए कहा - “हे संभवनाथ ! आपकी तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता और वीतरागता प्रगट होने पर होगा; परन्तु उसके सत्ता में रहते हुए भी उसके प्रभाव से आज जगत के जीवों को सुख प्राप्त हो रहा है। आपके उदय से असंभव प्रतीत होनेवाले काम भी संभव होते दिखाई दे रहे हैं। इसीकारण आपका संभवनाथ नाम सार्थक है। निरन्तर दुःख के वातावरण में रहनेवाले नारकियों ने भी क्षणभर सुख का अनुभव किया। जो कि असंभव था। इसकारण भी आपका संभवनाथ नाम सार्थक है।

“हे देव ! जिसप्रकार स्याद्वाद और अनेकान्त सिद्धान्त का निर्मल तेज रागी-द्वेषी मिथ्यामतों का निराकरण करता हुआ शोभायमान होता है, उसीप्रकार आपका निर्मल तेज भी अन्य साधारण जनों के तेज को फीका करता हुआ सुशोभित होता है। जिसप्रकार सब जीवों को आह्लादित करनेवाली सुगन्ध से चन्दन जगत को लाभान्वित करता है, उसीप्रकार आप भी जन्म से ही प्राप्त मति-श्रुत-अवधि - तीन ज्ञानों से जगत का कल्याण करते हैं।

हे नाथ ! आपके प्रति सहज समर्पित और स्नेहरूप भक्ति से मेरा यह लघु ज्ञान का दीपक आपके ज्ञानसूर्य के समान दैदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से अकारण ही लाभान्वित होता है।”

इसप्रकार स्तुति कर जिसने आनन्द नाम का नाटक किया है - ऐसा प्रथम स्वर्ग का अधिपति सौधर्मेन्द्र माता-पिता के लिए बाल तीर्थंकर को सौंपकर देवों के साथ स्वर्ग चला गया।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की तीर्थ परम्परा में जब तीस लाख करोड़ सागर बीत चुके तब संभवनाथ स्वामी हुए। तीर्थंकर संभवनाथ की आयु साठ लाख पूर्व की थी। जब उनकी आयु का चौथाई भाग बीत चुका तब उन्हें राज्यसत्ता प्राप्त हुई थी। वे सदा देवोपनीत सुखों का अनुभव किया करते थे। इसप्रकार सुखोपभोग करते हुए उन्हें जब चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग व्यतीत हो चुके तब एक दिन मेघों की क्षणभंगुरता देखते ही उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे विचार करने लगे कि “वस्तुतः आयुकर्म का अन्त ही यमराज है। यमराज नाम की कोई देवीशक्ति या राक्षस आदि कुछ भी नहीं है।

रागरूप रस में लीन होता हुआ यह अज्ञानी प्राणी नीरस विषयों को भी सरस मानकर सेवन करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है। इसे साहित्यिक भाषा में काल के गाल में चला गया, यमराज के द्वारा मार दिया गया कहा जाता। काल और यमराज मृत्यु के ही नाम हैं। अन्य कुछ नहीं। इसकारण अनादिकाल से चले आ रहे इस विषय रस को और उनके सेवन में तल्लीन प्राणियों को धिक्कारते हैं, फिर भी यह मोही प्राणी, पुनः-पुनः उन्हीं विषयों में रमता है। भगवान संभवनाथ विचारते हैं कि “इतने कष्ट में रहकर भी ये प्राणी क्यों नहीं चेतते ?”

“यह लक्ष्मी बिजली की चमक के समान अस्थिर है। जो भव्य प्राणी इस चंचला लक्ष्मी का मोह छोड़ देता है, वह निर्मल सम्यग्ज्ञान की किरणों से प्रकाशमान मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त होता है।”

असार संसार से विरक्त हुए संभवनाथ के वैराग्य की अनुमोदना करने आये लौकान्तिक देवों ने प्रभु के वैराग्य वर्द्धक विचारों की हृदय से अनुमोदना की तथा प्रशंसा करते हुए सभी लौकान्तिक देव वापिस चले गये।

महाराजा संभवनाथ ने भी अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले ली। देवों द्वारा उनका दीक्षाकल्याणक मनाया गया। तत्पश्चात् वे देवों द्वारा उठाई पालकी में बैठकर नगर से बाहर चले गये। वन में एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने संयम धारण किया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। सुवर्ण के समान प्रभा को धारण करनेवाले मुनिराज संभवनाथ ने दूसरे दिन आहार हेतु श्रीवास्ती नगरी में प्रवेश किया। वहाँ

सुरेन्द्रदत्त राजा ने उनका पड़गाहन किया और उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। प्राप्त पुण्य के फलस्वरूप उनके यहाँ पञ्चाश्चर्य हुए।

मुनिराज संभवनाथ चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में मौन धारण करके तप करते रहे।

एक दिन दीक्षा वन में शालमली वृक्ष के नीचे कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन शाम के समय ऐसे ध्यानारूढ़ हुए कि चारों घातिया कर्म निराश्रय होकर स्वतः झड़ गए और अनादि से अबतक के असंभव काम को संभव करके उन्होंने अपना संभवनाथ नाम सार्थक कर लिया। उन्हें अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गये। उसीसमय कल्पवासी और ज्योतिष्क आदि तीनों प्रकार के मध्यलोक वासी देवों द्वारा केवलज्ञान का कल्याणकारी मंगलमय महा-महोत्सव मनाया गया।

जिसप्रकार छोटे-छोटे अनेक पर्वतों से घिरा सुमेरु शोभित होता है, उसीप्रकार संभवनाथ प्रभु सुशोभित हो रहे थे। वे दो हजार वर्ष तक पचास पूर्व धारियों से परिवृत्त थे। एक लाख उन्नीस हजार तीन सौ उपाध्याय और नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानी मुनिराज वहाँ मौजूद थे। पन्द्रह हजार केवलज्ञानी तथा उन्नीस हजार आठ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक उनकी धर्मसभा में उपस्थित थे। बारह हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी एवं बारह हजार वादी भी उनकी धर्मसभा में थे। इसप्रकार सब मिलाकर दो लाख मुनियों से धर्मसभा सुशोभित हो रही थी।

इनके अतिरिक्त तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें एवं तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकायें थीं। असंख्यात देव-देवियाँ और असंख्य तिर्यच उनकी स्तुति करते थे।

१००८ नामों से स्तुत्य संभवनाथ स्वामी की दिव्यध्वनि सुनकर सभी भव्य श्रोताओं के मन मयूर हर्षित हो ऐसे उत्साहित हो उछलने लगे मानो वे नृत्य ही कर रहे हों।

एक श्रोता के मन में जिज्ञासा उठी - “हे प्रभो ! आप ही हमें देवदर्शन की विधि और उसके लाभ के संबंध में कुछ बतायें ? यद्यपि आप वीतराग हैं, अतः आपको आपकी महिमा से कोई प्रयोजन नहीं

है, तथापि जगत के जीव आपके दर्शन और धर्मोपदेश से वंचित न रहें, एतदर्थ यदि आपकी दिव्यवाणी द्वारा हमारा समाधान हो जावे तो हमारा जीवन धन्य हो जायेगा।”

भगवान की दिव्यध्वनि में निःस्पृह भाव से आया - “हे भव्य ! देवदर्शन की अचिन्त्य महिमा है और दिव्यध्वनि तो मिथ्यात्वरूप अन्धकार की विनाशक है ही; अतः तुम ध्यान से सुनो। देवदर्शन की महिमा में कहा गया है - हे भव्य ! देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का दर्शन पापों को नष्ट करनेवाला है, स्वर्ग का सोपान है, मोक्ष का साधन है। जिनेन्द्र देव के दर्शन से और साधु परमेष्ठियों की वन्दना से पाप इसतरह क्षीण हो जाते हैं, जैसे हाथ की चुल्लू का पानी धीरे-धीरे जमीन पर गिर ही जाता है, वह बहुत देर तक हाथ की चुल्लू में नहीं रह सकता।

वीतराग भगवान की परम शान्त मुद्रा भव्य जीवों को आत्मानुभूति में निमित्त बनती हैं और अधिक क्या कहें जिनदर्शन से जन्म-जन्म के पाप नष्ट होते हैं। पर, ध्यान रहे! दर्शन समझ पूर्वक होना चाहिए।

हे भव्य ‘देव’ शब्द बहुत व्यापक है, यह अनेकप्रकार के देवों के अर्थ में प्रयुक्त होता है; पर यहाँ देव का अर्थ जिनेन्द्रदेव है। इसीतरह ‘दर्शन’ शब्द के भी अनेक अर्थ हैं; पर यहाँ ‘दर्शन’ का अर्थ न केवल अवलोकन करना है; बल्कि उनके स्वरूप को समझकर भक्तिभाव सहित जिनेन्द्रदेव को नमन करना, वन्दन करना और उनके गुणस्मरणपूर्वक स्वयं को उन जैसा बनने की भावना भाना भी है। इतना किए बिना देवदर्शन का कोई अर्थ नहीं है।

भले ही वे बुद्ध-वीर-जिन-हरि-हर-ब्रह्मा, राम और केशव आदि किसी भी नाम से कहे जाते हों; पर उन जीवों का वीतरागी व सर्वज्ञ होना अनिवार्य है। इनके बिना कोई भी जीव या आत्मा परमात्मा नहीं कहला सकता। पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता को प्राप्त आत्मा ही परमात्मा है। उन्हीं को अरहंत या जिनेन्द्र कहते हैं। उन्हें ही जिनागम में सच्चा देव माना गया है। भक्तिभाव सहित उनके दर्शन-वन्दन करने को देवदर्शन कहते हैं। प्रत्येक सामान्य श्रावक को नित्यप्रति प्रतिज्ञापूर्वक देवदर्शन करना चाहिए।” जब साक्षात् अरहंतदेव के दर्शन उपलब्ध नहीं होते, तब उनके स्थान पर धातु या पाषाण की तदाकार प्रतिमा

बनाकर उसमें जिनेन्द्रदेव की प्रतिष्ठा कर ली जाती है। प्रतिष्ठा होने के पश्चात् वह प्रतिमा भी साक्षात् जिनेन्द्रदेव के समान ही वन्दनीय-पूजनीय होती है; क्योंकि उस प्रतिमा के दर्शन से भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन के समान ही पूरा लाभ होता है।

साक्षात् समोशरण (धर्मसभा) में विराजमान जिनेन्द्रदेव में एवं जिनमन्दिर में विराजमान उनकी प्रतिमा में दर्शन करने से धर्मलाभ की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि समोशरण में भी तो जिनदेव के शरीर के ही दर्शन होते हैं। उनका आत्मा तो वहाँ भी दिखाई नहीं देता और हमारा दर्शन करने का प्रयोजन तो उनकी प्रतिमा के दर्शन से भी उसीतरह पूरा हो जाता है, जिसतरह जीवन्त जिनेन्द्र के दर्शन से होता है। अतः हमारे लिए तो जिनबिम्बदर्शन ही देवदर्शन है।”

श्रोता का प्रश्न - “हे प्रभो ! जो वीतरागी होते हैं, वे न तो भक्तों का भला करते हैं और न दुष्टों को दण्ड ही देते हैं, तो उनके दर्शन-पूजन से हमें क्या लाभ ? जब उनके दर्शन-पूजन करने पर भी वे हमारे किसी लौकिक-पारलौकिक प्रयोजन की पूर्ति नहीं करते या नहीं कर सकते तो फिर बिना प्रयोजन कोई उनके नित्य दर्शन क्यों करें ?”

दिव्यध्वनि में समाधान आया - “हे भव्य! जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन उनको प्रसन्न करने के लिए नहीं किए जाते, वरन् अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं। वे तो वीतराग होने से तुष्ट या रुष्ट नहीं होते, पर उनके गुणस्मरण करने से हमारा मन अवश्य ही प्रसन्न एवं पवित्र हो जाता है।”

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उनकी पूजा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं तथा बैर रहित हैं, अतः निन्दा से भी कोई प्रयोजन नहीं। तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है। भले भगवान प्रसन्न होकर भक्तों से कुछ नहीं देते, पर उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना व पापभावों से बचे रहना ही जिनभक्ति का सच्चा फल है। दर्शन-पूजन का यही असली प्रयोजन है।

जिनागम में जिनदर्शन को धर्म के मूल सम्यग्दर्शन का समर्थ निमित्त माना गया है, आत्मदर्शन का हेतु माना गया है; अतएव आचार्यों ने देवदर्शन को भी अष्ट मूलगुणों में सम्मिलित किया है।

जिनबिम्बदर्शन, सम्यग्दर्शन का निमित्त तो है ही, सातिशय पुण्यबन्ध का कारण भी है और अतिशय पुण्य का फल भी है। सातिशय पुण्योदय के बिना जिनेन्द्र देव के दर्शनों का लाभ उनकी भवोच्छेदक वाणी सुनने का सौभाग्य भी नहीं मिलता।

“हे प्रभु ! आज हमारा महान पुण्य का उदय आया है, जो हमें आपके दर्शनों का लाभ मिला। अबतक आपको जाने बिना हमने अनंत दुःख प्राप्त किए और अपने को नहीं पहचान पाने से अपने गुणों की हानि की और आत्मगुण प्रगट नहीं कर पाये।

जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द के दर्शन करने से आत्मा के स्वरूप में रुचि जाग्रत जाती है, अपने आत्मा की अनन्त सामर्थ्य स्वरूप सर्वज्ञ भगवान की प्रतीति आ जाती है, अपने व पराये की पहचान हो जाती है। सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो जाने से मोहरूप अंधयारी रात्रि का नाश हो जाता है।”

“जो पुरुष श्री जिनेन्द्रदेव के आकारवाला जिनबिम्ब बनवाकर स्थापित करता है, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा व स्तुति करता है उसके कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।”

जिनेन्द्र भगवान का भक्त लौकिक व लोकोत्तर सभी सुख प्राप्त करता है।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयं ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वाशिवंचजिनभक्ति रूपैतिभव्यः ॥^१

जिनेन्द्र भगवान का भक्त भव्य जीव अपार महिमा के धारक इन्द्रपद को, सब राजाओं से पूजित चक्रवर्ती पद को और तीन लोक से पूजित तीर्थकर पद को प्राप्त करके सिद्धपद की प्राप्ति करता है।

जो जिनदेव के दर्शन नहीं करते, उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कारते हुए आचार्य कहेंगे कि -

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवनं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥

जो प्रतिदिन श्रीजिनेन्द्र का दर्शन और स्तवन नहीं करते, उनका जीवन निष्फल है और उनका गृहस्थाश्रम धिक्कार है। इसी बात की पुष्टि में आगे कहेंगे कि -

“जो प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव का दर्शन नहीं करते, उनके गुणों का स्मरण नहीं करते, पूजन स्तवन नहीं करते तथा मुनिजनों को दान नहीं देते, उनका गृहस्थाश्रम में रहना पत्थर की नाव के समान है। वे गहरे भवसमुद्र में डूबते हैं-नष्ट होते हैं।”

जिनेन्द्र का भक्त सदा यही भावना भाता है कि मेरे हृदय में सदैव जिनदेव की भक्ति बनी रहे; क्योंकि यह सम्यक्त्व एवं मोक्ष का भी कारण है। भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति मेरे हृदय में सदा उत्पन्न हो; क्योंकि यह संसार का नाश करनेवाले और मोक्ष प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने में सद्निमित्त है।

श्री अभ्रदेव विरचितः व्रतोद्योतन श्रावकाचार देखना, उसमें लिखा मिलेगा कि -

“भव्य जीवों के द्वारा प्रातः उठकर अपने शरीर की उत्तम प्रकार से शुद्धि करके जिनबिम्ब के दर्शन किए जाते हैं; क्योंकि जो जीव प्रतिदिन प्रातःकाल शारीरिक शुद्धि करके सर्वप्रथम जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं, वे भव्य अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे।” इसी बात को पुष्ट करते हुए आगे कहा गया होगा कि-

“जो भव्य जीव जिनस्तवन करके, सामयिक की शुद्धि करके, पंचकल्याण की स्तुति करके, पंचनमस्कार मंत्र को हृदय में धारण करके, चैतन्यस्तुति करके, सिद्धभक्ति करके श्रुत व गुरु की भक्ति करता है, वह सांसारिक सुख को प्राप्त करता हुआ मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

जो जीव प्रतिदिन जिनदेव के भक्ति पूर्वक दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं, स्तुति करते हैं; वे तीनों लोकों में दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करने योग्य होते हैं।”

जब चिन्तो तब सहस्र फल, लक्खा गमन करेय ।
कोड़ा-कोड़ी अनन्त फल, जब जिनवर दरसेय ॥

“जब कोई व्यक्ति जिनेन्द्रदेव के दर्शनार्थ जाने का मन में विचार करता है, तब वह उस विचार मात्र में एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है तथा जब वह चलने को तैयार होता है तो उसके परिणाम और अधिक विशुद्ध होने से वह दो उपवास के फल का भागी होता है। और जब वह गमन करने का उपक्रम करता है, तब उसे तीन उपवास जितना पुण्यलाभ होता है। गमन करने पर चार उपवास का, मार्ग में पहुँचने पर एक पक्ष के उपवास का, जिनालय के दर्शन होने पर एक मास के उपवास का, जिनालय में पहुँचने पर छह मास के उपवास का, मन्दिर की देहली पर पहुँचते ही एक वर्ष का जिनेन्द्र की प्रदक्षिणा करने पर सौ उपवास का, नेत्रों से साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन करने पर हजार उपवास का फल मिलता है।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनबिम्बदर्शन या देवदर्शन की महिमा गाते-गाते हमारे आचार्य कभी थकेंगे नहीं। समन्तभद्र जैसे तर्क शिरोमणि आचार्यों की हृदय-वीणा के तार भक्ति रस में ओत-प्रोत होंगे और स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र व जिनस्तवन स्तोत्र के रूप में झनझना उठेंगे।

जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचानता है, वही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है तथा अरहंत परमात्मा व अपने आत्मा के स्वरूप को जाननेवालों का मोह नष्ट हो जाता है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

सभी जीव जिनदर्शन की यथार्थ महिमा को जानकर, उसके प्रयोजन को पहचानकर उसके अवलम्बन से अपने आत्मा को जाने-पहचानें और अपना कल्याण करें।

हम सब जिनदर्शन के माध्यम से निजदर्शन का सुफल प्राप्त करें, तभी हमारा जिनदर्शन करना सार्थक होगा।

कविगण जिनबिम्ब दर्शन करने का वास्तविक फल निरूपित करते आये हैं और करते रहेंगे।

किसी कवि ने कहा है -

“मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो, उदय रवि आतम भयो।

मो उर हरख ऐसो भयो, मानो रंक चिन्तामणि लयो ॥

धनि घड़ी औ धनि दिवस यों ही धन जनम मेरो भयो ।

अब भाग्य मेरो उदय आयो, दरस प्रभुजी को लखि लयो ॥”

भक्त अपने हृदय का हर्षोल्लास प्रगट करते हुए कह रहा है कि हे प्रभो ! आपके मुख मण्डलरूप दिनकर के दर्शन करने से मेरा मिथ्यात्वरूपी अंधकार नष्ट हो गया है और मेरे हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है । अतः मुझे ऐसा हर्ष हो रहा है, जैसे किसी रंकर को चिन्तामणि रत्न मिलने पर होता है । मानो मुझ रंकर को आपके दर्शन के रूप में चिन्तामणि रत्न ही मिल गया है ।

और भी - “तुम गुणचिंतित निजपर विवेक प्रगटै विघटै आपद अनेक ।

हे प्रभु! आपके गुणों का चिन्तन करने से अपने-पराये की पहचान होती है, भेदविज्ञान रूप विवेक प्रगट हो जाता है तथा अनेक आपत्तियाँ-विपत्तियाँ विघटित हो जाती हैं ।”

पर यहाँ तो यह देखना है कि जब देवदर्शन की इतनी महिमा है तो हमारे द्वारा प्रतिदिन किए जानेवाले देवदर्शन का यह सब फल हमें अब तक प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? कहीं न कहीं कुछ न कुछ कमी तो होना ही चाहिए । अन्यथा उपर्युक्त लाभ अवश्य मिलता ।

हे भव्य ! तुम विचार करो कि तुम लौकिक विषयों की वांछा के चक्कर में तो नहीं पड़ गये ?

कहीं तुमने सच्चे वीतरागी देव को रागी देव-देवताओं की श्रेणी में खड़ा तो नहीं कर दिया ? तुम लौकिक कामनाओं का पुलिन्दा लेकर कहीं गलत जगह तो नहीं पहुँच गये ? क्या तुमने सच्चे देव का सही स्वरूप समझा है और इनके दर्शन से क्या केवल सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन ही चाहा है ? आदि कुछ बातें इस दिशा में विचारणीय हैं, यदि तुम सही दिशा में निर्णय पर पहुँचे हो तो तुम्हें देवदर्शन का लाभ अवश्य मिलेगा, इसमें जरा भी संदेह की गुजांइश नहीं है ।

सभी भक्त भगवान का सही स्वरूप समझकर उनके दर्शन से निजदर्शन का लाभ उठायें, यही लेखक की पावन भावना है । ॐ नमः ।

“मैं हूँ स्वतंत्र स्वाधीन प्रभु, मेरा स्वभाव सुखनन्दन है।
राग रंग अरु भेदभाव में, भटकन ही भव बन्धन है।।”
यह तथ्य बताया है जिसने, वे तीर्थकर अभिनन्दन हैं।
त्रैलोक्य दर्शि अभिनन्दन को, मेरा वन्दन-अभिवन्दन है।।

अनादिनिधन लोक के पदार्थों का अस्तित्व त्रिकाल सत्य है। उन त्रिकाल सिद्ध पदार्थों का यथावत् निरूपण करने से जिनके वचनों की सत्यता सिद्ध है। ऐसे जगत अभिनन्दनीय अभिनन्दनस्वामी हमारे नयनपथगामी बनें, हमारे सन्मार्गदर्शक बनें।

अभिनन्दननाथ की पूर्व पर्यायों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि “इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मंगलावती नाम का देश है। उसके रत्न संचय नगर में महाबल नाम का राजा था। वह न्यायप्रिय, प्रजापालक, अनुशासन प्रिय प्रभावशाली व्यक्ति था इसकारण उसके राजशासन में चोरी, डकैती और अन्याय नहीं होता था। समस्त प्रजा, प्रतिबंधों के बिना स्वतः अनुशासन में रहकर सुख-शान्ति से रहती थी।

वह अजातशत्रु था, उसका कोई भी शत्रु नहीं था; क्योंकि वह साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति में निपुण तो था ही, सन्धि-विग्रह की कला में भी निष्णात था। धर्मात्माओं का आदर करनेवाला महाबल स्वयं धर्मनिष्ठ था। ऐसा लगता था कि अहिंसक आचरण, सत्यनिष्ठा, दयालुता, दानशीलता आदि गुण उसमें कूट-कूटकर भर दिये गये थे।

कहते हैं कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं; क्योंकि इनमें सौतिया डाह या ईर्ष्या

होती हैं; परन्तु राजा महाबल इसका अपवाद था। वह लक्ष्मीवान होकर भी बुद्धिमान एवं विद्वान था। उसके पुण्य प्रताप से लक्ष्मी व सरस्वती – दोनों तो सगी बहिनों की भांति एकसाथ रहती थीं, कीर्ति भी उनकी सेवा में सदा तत्पर रहती थीं।

राजा महाबल की कीर्ति अन्यजनों के कानों एवं वचनों में वास करती थी। सरस्वती उसके कंठ और वाणी में बसती थी। वीरलक्ष्मी उसके वक्षःस्थल में बसती थी और मनमाना खर्च करने पर भी धन की देवी (लक्ष्मी) से उसका खजाना कभी खाली नहीं होता था। पुण्योदय से उसे सभी प्रकार के सांसारिक सुख उपलब्ध थे; परन्तु सांसारिक सुख बाधासहित, नाशवान, पराधीन और अतृप्त कारक होते हैं। राजा महाबल इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे। कोई कितना भी भाग्यशाली क्यों न हो ? पुण्य की अखण्डता तो कभी किसी के होती ही नहीं है। जिसतरह जहाँ फूल हैं, वहीं कांटे भी हैं। जहाँ राग है, वहीं द्वेष भी है। सांसारिक सुख के आगे-पीछे दुःख भी होता ही है। संसार का ऐसा स्वरूप समझ कर महाबल सांसारिक सुखों से विरक्त हो गया।

महाराजा महाबल ने अपने धनपाल नामक पुत्र को राज्य देकर विमलवाहन गुरु के पास पहुँचकर संयम धारण कर लिया। वह ग्यारह अंग का पाठी हो गया। तथा सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करने से उसने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर लिया।

पाठक यदि चाहें तो महाबल राजा के आदर्श आचरण से मानवजीवन को सार्थक बना सकते हैं।

आयु के अन्त में महाबल समाधिमरण करके पंच अनुत्तरों के विजय नामक विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी आयु ३३ सागर की सभीप्रकार की अनुकूलता का सुख भोगने पर भी सम्यग्दर्शन सहित होने से वह जल में भिन्न कमल की भांति वैराग्यरूपी रस से भरा भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान का ध्यान करता हुआ वहाँ रहता था।

कहते हैं सुख के सागरों का लम्बाकाल भी वर्षों की तरह व्यतीत हो जाता है। इसी उक्ति के अनुसार वह अहमिन्द्र भी ३३ सागर की आयु बिता कर आयु के अन्त में जब पृथ्वीतल पर स्वयंवर नामक राजा

के गृह में सिद्धार्थ नामक पट्टरानी के गर्भ में आने वाला था, उसके छह माह पूर्व से ही जन्म पर्यन्त - १५ माह तक कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से रत्नवृष्टि की। रानी ने १६ स्वप्न देखे। प्रातः सिद्धार्थ पट्टरानी ने पति से स्वप्नों का फल पूछा - राजा ने बताया तुम्हारे मुख में प्रवेश करता हुआ जो हाथी दिखा, उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर का जीव आनेवाला है। गर्भ में आने के नौ माह बाद माघमास की शुक्लपक्ष की द्वादशी के दिन अदिति योग में तीर्थकर पुत्र उत्पन्न हुआ।

इधर तीर्थकर पुत्र उत्पन्न हुआ उधर इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया। उससे उस इन्द्र ने अवधिज्ञान के द्वारा जान लिया कि त्रिलोकीनाथ का जन्म हुआ है। इन्द्र ने अपनी शची के द्वारा उस दिव्य मानव को प्राप्त किया और देवगणों के साथ उसे लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचा वहाँ सूर्यप्रभा को धारण करनेवाले बालक अभिनन्दन को दिव्य सिंहासन पर विराजमान कर क्षीरसागर से पंक्तिबद्ध देवों द्वारा हाथों-हाथ लाते हुए जल के एक हजार आठ कलशों से जन्माभिषेक किया।

उस समय इन्द्र ने भक्तिवश जिनेन्द्रप्रभु के दर्शन से तृप्त न होने पर एक हजार आठ नेत्रों से प्रभु के दर्शन किए भक्तिभावना से आत्मविभोर होकर ताण्डव नृत्य किया और नाना अभिनय प्रदर्शित किए। उससमय उसकी भक्तिभावना चरमसीमा को प्राप्त हो गई थी। वह इन्द्र साथ ही अन्य अनेक धीरोदात्त नटों को भी नृत्य करा रहा था।

जन्माभिषेक से वापिस लौटकर इन्द्र अयोध्यानगरी में आया तथा माता की गोद के मायामयी बालक को हटाकर पिता के सामने असली तीर्थकर पुत्र को माता की गोद में रखकर चला गया।

ज्ञातव्य है कि भगवान अभिनन्दननाथ तीर्थकर का अन्तरायकाल संभवनाथ के बाद दश लाख करोड़ वर्ष का था।

अभिनन्दन स्वामी जन्म से ही अवधिज्ञान से सुशोभित थे। पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी। वे बाल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त थे। उनकी कान्ति सुवर्ण के समान दैदीप्यमान शोभा को प्राप्त हो रही थी।

कुमार काल के साढ़े बारह लाख पूर्व बीतने पर पिता इन्हें राज्य सौंपकर वनवासी दिगम्बर मुनि हो गये। प्रभु सूर्य के समान तेजस्वी चन्द्र के समान कान्तियुक्त, इन्द्र से बढ़कर वैभव और शान्ति के सागर थे। समस्त राजा इन्हें मस्तक झुकाते थे। इन्द्र भी इनके चरणों को पूजता था। मोक्षलक्ष्मी जिसकी प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाये बैठी हो, उससे यदि राज्य लक्ष्मी अनुराग करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या? उनके कभी नष्ट नहीं होनेवाला क्षायिक सम्यग्दर्शन था। वे कुमार अवस्था में ही धीर, वीर, गंभीर और उद्धत थे। संयमी अवस्था में ही धीर और प्रशान्त हो गये तथा अन्तिम अवस्था में धीर और उदात्त अवस्था को प्राप्त हुए थे। उनकी कीर्ति समस्त पृथ्वीतल में तो व्याप्त थी ही, स्वर्गलोक के इन्द्रादि और देव भी उनकी स्तुति करते थकते नहीं थे। वे उत्पन्न होने से पूर्व ही सर्वगुण सम्पन्न थे। उनके रत्नत्रय के संस्कार भी पूर्वभव से आये थे, अन्य गुणों की तो बात ही क्या करें?

इसप्रकार संसार के श्रेष्ठतम भोगों का उपभोग करनेवाले महाराजा अभिनन्दननाथ केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने के लिए उदयाचल के समान थे।

जब उनके राज्यकाल में साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये और आयु के आठ अंग शेष रहे, तब उन्हें एक दिन आकाश में मेघों की शोभा को देखते-देखते मेघों की माला में बना हुआ सुन्दर महल क्षणभर में विघट गया तो उसकी क्षणभंगुरता का विचार करते हुए उन्हें वैराग्य हो गया।

वे सोचने लगे - “इस संसार में रहते हुए ये तृष्णाकारक विनाशीक भोग मुझे अवश्य ही अधःपतन के कारण बनेंगे। जो टूटनेवाली शाखा पर बैठैगा, क्या वह उस टूटती हुई शाखा के साथ नीचे नहीं गिरेगा? यद्यपि मैंने इस शरीर के सभी मनोरथों को समस्त इष्ट पदार्थों से पूर्ण किया तो भी यह निश्चित ही है कि वेश्या के समान यह देह मुझे छोड़ देगी।

इसतरह विचार करके वे शरीर से विरक्त हो गये। उन्होंने यह भी सोचा “आयु कर्म के रहते हुए तो पुनः-पुनः मरण होता ही है। यदि हमें मरण इष्ट नहीं है तो मृत्यु के कारणभूत इस आयुकर्म से ही मुक्त

होना होगा। इसलिए जो मरण से डरते हैं उन्हें उससे भी पहले आयुर्कर्म को ही जीतना होगा। फिर न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।”

जिसतरह यह मेघों का बना गंधर्वनगर देखते-देखते ही नष्ट हो गया उसीप्रकार संसार की समस्त सम्पदायें भी नष्ट हो जाती हैं। यह बात तो आबाल-गोपाल सभी जानते हैं।

जिस समय तीर्थंकर अभिनन्दननाथ राज्य अवस्था में यह विचार कर रहे थे। उसीसमय लोकान्तिक देवों ने आकर उनकी पूजा की एवं उनके वैराग्य की अनुमोदना करते हुए कहा -

जो संसार विषैं सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सो अनुरागें ॥

देवों ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक किया।

तदनन्तर जितेन्द्रिय अभिनन्दननाथ हस्तचित्रा नामक पालकी पर आरूढ़ होकर उद्यान में आये। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन एक हजार प्रसिद्ध राजाओं के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली। उसीसमय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होगया। दूसरे दिन आहार हेतु उन्होंने साकेत (अयोध्या) नगर में प्रवेश किया। वहाँ इन्द्रदत्त राजा ने उन्हें पड़गाह कर आहारदान दिया। पुण्योदय से उसके घर में पाँच आश्चर्य हुए।

तत्पश्चात् छद्मस्थ अवस्था में उनके अठारह वर्ष मौन से आत्मसाधना करते हुए बीते। वे एक दिन दीक्षावन में असनवृक्ष के नीचे वेला का व्रत लेकर ध्यानारूढ़ हुए। पौषकृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के समय उन्हें केवलज्ञान हुआ। समस्त देवों ने उनके केवलज्ञान कल्याणक की पूजा कर मंगल महोत्सव मनाया।

उनके वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर थे। दो हजार पाँच सौ पूर्वधारी, दो लाख तीस हजार पचास उपाध्याय, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्नीस हजार विक्रियाक्रुद्धि के धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनःपर्ययज्ञान के धारी और ग्यारह हजार प्रचण्डवादी उनके चरणों की निरन्तर वन्दना करते थे। इसतरह वे सब मिलाकर तीनलाख मुनियों के स्वामी थे।

मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, उनके चरणयुगल की पूजा करते थे। पाँच लाख श्राविकायें, उनकी स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियों के द्वारा वे स्तुत्य थे। संख्यात तिर्यच भी उनकी दिव्यवाणी का लाभ लेते थे। फिर भी वीतरागी प्रभु अपने मान-सम्मान से अप्रभावित रहकर भव्यजीवों को वीतरागभाव से दिव्यसंदेश देते थे।

तीर्थकर के उक्त वर्णन से पाठकों को यह संदेश मिलता है कि कोई कितना भी बड़ा हो जाय; फिर भी उसको अभिमान नहीं होना चाहिए।

इसप्रकार भव्यजीवों की बारह सभाओं के नायक भगवान अभिनन्दननाथ ने धर्मवृष्टि करते हुए आर्यखण्ड की वसुधा पर दूर-दूर तक विहार किया। इच्छा के बिना ही विहार करते हुए वे सम्मेशिखर पर पहुँचे। समोशरण के विहार के काल में तीर्थकर भगवान अभिनन्दननाथ की प्रतिदिन दिन में तीन बार दो-दो घड़ी दिव्यध्वनि का लाभ सभी भव्य श्रोता ले रहे थे।

एक श्रोता के मन में यह प्रश्न उठा कि व्यसनों के त्याग करने की बात तो बहुत होती है; पर व्यसन तो अच्छे-बुरे सब तरह के होते हैं। किसी को शास्त्र सुनने का, किसी को शास्त्र पढ़ने का भी ऐसा व्यसन होता है कि जबतक वे घंटे-दो घंटे स्वाध्याय और चर्चा न कर लें खाना नहीं भाता। किसी-किसी को पूजा-भक्ति का ऐसा व्यसन होता है कि जबतक वे पूजा-पाठ न कर लें तबतक खाना तो दूर पानी भी नहीं पीते। क्या वे व्यसन (आदतें) भी त्याज्य हैं।

शास्त्रों में जो सात व्यसनों के त्याग की चर्चा है, उनका स्वरूप क्या है ? वे कितने हैं और श्रावक की किस भूमिका में त्याज्य हैं ? इस विषय पर बहुत मतभेद चलते हैं, कृपया स्पष्ट करके अनुग्रहीत कीजिए।

वैसे तो आदत को व्यसन कहते हैं, अतः किसी भी भली-बुरी आदत को व्यसन कहा जा सकता है, कहा भी जाता है; पर आगम में उल्लिखित सप्त व्यसनों के संदर्भ में यह बात नहीं है। आगम में तो सप्तव्यसनों को परिभाषित करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् श्रेयसः इति व्यसनम्' जो मनुष्य

को आत्मकल्याण से विमुख कर देवे, वह व्यसन है तथा जिस कुशील आचरण, अभक्ष्य-भक्षण और हिंसकरूप पाप-प्रवृत्ति को बारम्बार किए बिना चैन न पड़े, उन बुरी आदतों को व्यसन कहते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ में व्यसन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि - “जो महादुःख को उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे उन आदतों को व्यसन कहते हैं।”

स्याद्वादमंजरी में कहा है कि “जिसके होने पर उचित-अनुचित के विचार से रहित प्रवृत्ति हो, वह व्यसन कहलाता है।”

वसुनन्दि श्रावकाचार में इन सातों व्यसनों को दुर्गति गमन का कारणभूत पाप कहा है।

लाटी संहिताकार के १२१ वें श्लोक में भी कहते हैं - “बुद्धिमान जनों को इन महापापरूप सातों व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।” जिनका उल्लेख आगम में इसप्रकार है - १. जुआ खेलना २. मांस खाना ३. मदिरापान करना, ४. वेश्या सेवन करना ५. शिकार खेलना ६. चोरी करना ७. परस्त्री सेवन करना - ये सात व्यसन हैं। कहा भी है -

जुआ खेलन मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार।

चोरी पर रमणी रमण, सातों व्यसन निवार।।

ये सातों व्यसन दुःखदायक, लोकनिन्द्य, पाप की जड़ एवं दुर्गति में पहुँचानेवाले हैं।

जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर, मांसभक्षण में बक नामक राजा, मद्यपान करने से यदुवंशीय राजकुमार, वेश्यासंगम से चारुदत्त, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री की अभिलाषा से रावण जैसे पुरुष भी विनष्ट हो गये। जब एक-एक व्यसन के कारण ही इन पुराण पुरुषों ने असह्य कष्ट सहे और दुर्गति प्राप्त की तो जो सातों व्यसनों में लिप्त हों, उनकी दुर्दशा का तो कहना ही क्या है ? अतः सातों व्यसन त्याज्य हैं।

व्यसनों में उलझना तो सहज है, पर एकबार उलझने के बाद सुलझना महादुर्लभ हो जाता है, इनको

एकबार पकड़ने पर ये पकड़नेवाले को ऐसा जकड़ते हैं कि जीते जी छूटना संभव नहीं रहता। बस यही इनका व्यसनपना है।

प्रश्न - चोरी और परस्त्री रमन को जब पापों में कह दिया तो उन्हें पुनः व्यसनों में क्यों रखा ? दोनों में से एक ही जगह सम्मिलित करना चाहिए न ? पाप व व्यसन में ऐसा अन्तर ही क्या है ?

उत्तर - इन पापों को करने की जब ऐसी आदत पड़े जावे कि राजदण्ड, लोकनिन्दा, व सामाजिक बहिष्कार की स्थिति आ जाने पर भी न छोड़े जा सकें, तब वे पाप व्यसन बन जाते हैं और जो पापकार्य अज्ञानदशा में हो जाने पर भी माता-पिता गुरुजन के उपदेश से या इहभव-परभव के भय से छूट जाते हैं, वे पाप की सीमा में ही रहते हैं।

यद्यपि इन व्यसनों का नियमपूर्वक त्याग तो सम्यग्दर्शन होने पर पाक्षिक अवस्था में ही होता है; परन्तु ये इतने हानिकारक हैं, ग्लानिरूप हैं एवं दुःखद व लोकनिन्द्य हैं कि सामान्य श्रावक भी इनका सेवन नहीं करते। अतः किसी को भी इनके चक्कर में नहीं आना चाहिए।

इनमें आसक्त पुरुषों को सम्यग्दर्शन होना तो दूर रहा, किन्तु धर्मरुचि और धर्मात्माओं का समागम होना भी दुःसाध्य हो जाता है। ये सातों व्यसन वर्तमान जीवन को तो नष्ट-भ्रष्ट करते ही हैं, अत्यन्त संक्लेश परिणामों के कारण होने से मरणोपरान्त नरक में जाने के कारण भी बनते हैं; अतः इनसे सदा बचे रहना चाहिए।

प्रभो ! ये सब तो व्यवहार व्यसन हैं, ये तो त्याज्य हैं ही; परन्तु इनके अतिरिक्त और व्यसन क्या है और क्या वे भी त्याज्य हैं ? कृपया उन्हें बताकर अनुग्रहीत कीजिए।

हाँ सुनो! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया, इसका उत्तर आगे लिखे जानेवाले नाटक समयसार में बनारसीदास के शब्दों में बहुत अच्छा दिया जायेगा, जो निम्नप्रकार होगा -

शुभ में जीत अशुभ में हार यही है द्यूतकर्म, देह में मगनताई यही मांस भखिवो ॥
मोह की गहल सों अजान यही सुरापान, कुमति की रीति गणिका को रस चखिवो ॥
निर्दय ह्वै प्राण घात करबौ यहै शिकार, पर नारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ ॥
प्यार सों पराई चीज गहिवै की चाह चोरी, ऐ ही सातों व्यसन विडार ब्रह्म लखिवौ ॥

दिव्यध्वनि में आया - नाटक समयसार पंचमकाल के कम क्षयोपशम ज्ञानवालों सरल भाषा में लिखा गया सर्वोत्तम ग्रन्थ होगा। इसे पढ़-सुन कर लाखों लोग अपना कल्याण करेंगे।

पहले बुरे व्यसन त्यागने की बात कही जाती है। जब जीव पाप प्रवृत्तिरूप दुर्व्यसनों का त्याग कर देता है तो फिर पुण्यबंध के कारणरूप आदतों को भी छुड़ाकर सभीप्रकार की आदतें छुड़ाई जाती हैं; क्योंकि आदत तो कोई भी अच्छी नहीं होती।

पुनः प्रश्न किया - “हे प्रभो ! वर्तमान में रात्रि भोजन की प्रथा बहुत बढ़ गई है ? घरों में तो लोग रात्रि भोजन करते ही हैं, सामूहिक भोज भी अधिकांश रात में ही होते हैं। अतः रात्रिभोजन में क्या-क्या दोष हैं, क्यों नहीं करना चाहिए यह बताकर कृतार्थ करें।”

दिव्यध्वनि में समाधान हुआ - “हे भव्य! रात्रिभोजन में प्रत्यक्ष में ही भारी दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उन पर गंभीरता से विचार करके रात्रिभोजन का त्याग करो। रात्रि भोजन त्याग से इहभव में तो हम नाना बीमारियों से बचेंगे ही, पुनर्जन्म में भी सभी प्रकार के उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होगी।”

जो व्यक्ति रात्रि में भोजन करता है, उसके निमित्त से रात्रि में भोजन बनाना भी पड़ता है और रात्रिमें भोजन बनाने से दिन की अपेक्षा अनेकगुणी अधिक हिंसा होती है; क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है, दिन में जो जीव-जन्तु सूर्य के प्रकाश व प्रपात के कारण सोये रहते हैं, घर के अंधेरे कोने में बैठे रहते हैं, वे सूर्यास्त होते ही अपना भोजन ढूढ़ने के लिए निकल पड़ते हैं। इधर-उधर संचार करते हुए कीड़े-मकोड़े एवं उड़नेवाले सूक्ष्मजीव हमें रात में सहजता से दिखाई नहीं देते। यदि हम गौर से देखें तो उनमें से बहुत कुछ दिख भी जाते हैं।

बिजली के बल्बों पर, ट्यूबलाइटों पर एवं दीपक आदि के ऊपर पतंगा आदि को उछलते-गिरते पड़ते और मरते किसने नहीं देखा ? सूर्यास्त होने पर मच्छरों का जो बोलबाला होता है, उससे तो बच्चा-बच्चा परिचित है ही। जहाँ देखो, वहीं ढेरों मच्छर भिन-भिनाते मिल जायेंगे।

रात्रि में भोजन बनाने के लिए जो आग जलाई जाती है, उससे आकर्षित होकर भी छोटे-छोटे जीव-जन्तु भोजन सामग्री में गिरते-पड़ते रहते हैं। उन सबके घात से हिंसा जैसा महापाप तो होता ही है, अनेक शारीरिक भयंकर व्याधियाँ बीमारियाँ भी हो जाती हैं।

पंचमकाल के जीवों को उद्बोधन हेतु निशिभोजनभुंजन कथा में लिखा जायेगा -

कीड़ी बुध बल हरै, कंपरोग करै कसारी।

मकड़ी कारण कुष्ठ रोग उपजै अतिभारी ॥

कीड़ी (चींटी) बुद्धिबल को क्षीण करती है, कसारी नामक कीड़ा कम्प रोग पैदा करता है, मकड़ी से कुष्ठ रोग होता है। रात्रि में भोजन बनाते एवं खाते समय इनके गिर जाने की अधिक संभावना है, अतः रात्रि भोजन त्याज्य है।

जुआ जलोदर जनै, फांस गल व्यथा बढ़ावै।

बाल करे स्वर भंग, वमन माखी उपजावै ॥

तालु छिदत बिच्छू भखत, और व्याधि बहु करई थल।

ये प्रगट दोष निसि असन के, परभव दोष परोक्ष फल ॥

जूँ नामक कीड़ा, जो वालों में होता है, उसके पेट में चले जाने से जलोदर नामक रोग हो जाता है। गले में फांस लगी हो - ऐसी पीड़ा होती है। यदि पेट में बाल चला जाये तो कंठ का स्वर भंग हो जाता है। मक्खी पेट में जाते ही वमन (उल्टी) हो जाती है। यदि बिच्छू पेट में पहुँच जाय तो तालु में छेद हो जाता है। मक्खी पेट में जाते ही वमन (उल्टी) हो जाती है। यदि बिच्छू पेट में पहुँच जाय तो तालु में

छेद हो जाता है। ये तो रात्रिभोजन के प्रगट दोष हैं; इनके अतिरिक्त और भी बहुत दोष हैं, जिनका वर्णन यथास्थान है ही।

इतना ही नहीं और भी अनेक पदार्थ हैं, जो रात्रिभोजन में सहज ही हमारे खाने-पीने में आ जाते हैं और हमारी मौत के कारण तक बन जाते हैं।

ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ आये दिन देखने-सुनने में आती हैं, जो रात्रि भोजन के कारण घटती हैं। अस्तु! इन आकस्मिक हानियों के सिवाय कुछ हानियाँ ऐसी भी हैं, जिनका रात्रि भोजन के साथ चोली-दामन का साथ है। जैसे - सूर्यास्त होने पर जठराग्नि का मन्द हो जाना, पाचन प्रणाली पर विपरीत प्रभाव पड़ना।

वैद्यक शास्त्र अर्थात् आयुर्वेद में उदर स्थित आहार की थैली को जो कमलनाड कहा है, वह सर्वथा सार्थक है; क्योंकि जिसप्रकार कमल पुष्प सूर्यप्रकाश में ही खिलता है, विकसित होता है, प्रफुल्लित होता है, उसीप्रकार उदर स्थित कमलनाड भी अर्थात् आहारथैली भी सूर्यप्रकाश में पूर्णतः खुली और सक्रिय रहती है तथा सूर्यास्त होते ही कमल के फूल की भांति ही उदर स्थित कमलनाड (आहारथैली) भी संकुचित हो जाती है, निष्क्रिय हो जाती है।

दोनों में यह समानता देखकर ही संभवतः वैद्यक शास्त्रों में अहार थैली को कमलनाड नाम दिया जायेगा। इसप्रकार आयुर्वेद व चिकित्साविज्ञान के अनुसार रात्रि में किया गया भोजन ढंग से पचता नहीं है, जिससे धीरे-धीरे अनेक उदरविकार भी हो जाते हैं।

पशु दो प्रकार के होते हैं एक - दिनभोजी, दूसरे - रात्रिभोजी। उनमें एक विशेषता यह होती है कि जो रात में खाते हैं, वे दिन में नहीं खाते और जो दिन में खाते हैं वे रात में नहीं खाते। वे अपने नैसर्गिक (प्राकृतिक) नियमों का लोप नहीं करते। पर यह समझ में नहीं आता कि इस मनुष्य को किस श्रेणी में रखा जाय, जो दिन में भी खाता है और रात्रि में भी? कोई कह सकता है कि पालतू जानवर भी तो दिन-रात कभी भी खाते हैं? हाँ खाते हैं, पर उनकी बात जुदी है, वे मानव के सत्संग में जो आ गये हैं, वे

बेचारे पराधीन हो गये हैं। जब यह स्वार्थी मानव उन्हें दिन में भरपेट खाने को देगा ही नहीं तो उन्हें मजबूर होकर रात में खाना ही पड़ेगा।

आयुर्वेद व शरीरविज्ञान के नियमानुसार मानव को सोने के ४-५ घंटे पहले भोजन कर ही लेना चाहिए, तभी वह स्वस्थ रह सकता है। खाकर तुरन्त सो जाने से पाचन नहीं होता, जिससे अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। अहिंसाधर्म का पालन करने की दृष्टि से भी जैन व जैनेतर सभी शास्त्रों में रात्रिभोजन के त्याग पर बहुत जोर दिया जायेगा।

अहिंसाव्रतं रक्षार्थं, मूलव्रतं विशुद्धये।
निशायां वर्जयेत् भुक्तिं, इहामुत्र च दुःखदाम् ॥

अहिंसाव्रत की रक्षा और आठ मूलगुणों की निर्मलता के लिए तथा इस लोक संबंधी रोगों से बचने के लिए एवं परलोक के दुःखों से बचने के लिए रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए।

रात्रि भोजन में हिंसा की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि रात्रि में भोजन करनेवालों को हिंसा अनिवार्य होती है। रात्रिभोजन त्यागे बिना वह किसी भी हालत में उस हिंसा से बच नहीं सकता। इसलिए अहिंसाप्रेमियों को या हिंसा से विरक्त पुरुषों को रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

सूर्य के प्रकाश बिना रात में भोजन करनेवाला मनुष्य जलते हुए दीपक में भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा कैसे टाल सकता है ? रात्रिभोजी मनुष्य द्रव्य व भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच ही नहीं सकता; अतः अहिंसा का पालन करनेवालों को रात्रिभोजन त्यागना अनिवार्य है।

जिसमें राक्षस, भूत और पिशाचों का संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओं का समूह दिखाई नहीं देता, जिसमें स्पष्ट न दिखने से त्यागी हुई वस्तु भी भोजन में आ जाती है। जिसमें साधुओं का संगम नहीं होता, जिसमें देव-गुरु की पूजा नहीं की जाती, जिसमें जीवित खाया गया भोजन संयम और स्वास्थ्य विनाशक होता है, जिसमें जीवित जीवों के भोजन में गिर जाने की संभावना रहती है, जिसमें सभी शुभकार्यों को

करने का निषेध होता है, जिसमें संयमीपुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते - ऐसी महादोषों से भरी रात्रि में धर्मात्मापुरुष भोजन नहीं करते।

जो जिह्वा लोलुपी पुरुष रात्रि में भोजन करते हैं, वे लोग न तो भूत, पिशाच और शाकनी-डाकनियों के दुष्प्रभाव से बच सकते हैं और न नानाप्रकार की व्याधियों से ही बच सकते हैं; क्योंकि रात्रि में भूत-पिशाचों का भी संचार होता है और जीव-जन्तुओं का भी, जिनके कारण बीमारियाँ पनपती हैं।

सूर्यप्रकाश में भोजन का भलीभांति पाचन होता है। रात्रि में यह लाभ न मिलने से उदरविकारजनित रोग भी हो जाते हैं।

रात्रिभोजन त्याग की महिमा प्रदर्शित करते हुए कहा है कि “जो पुरुष रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छहमास के उपवास करता है; क्योंकि वह रात्रि में आरंभ का त्याग करता है।”

रात्रिभोजन करनेवाले के व्रत तप नहीं होते, अतः रात्रि में भोजन करना त्यागने योग्य ही है। जो रात्रिभोजन करते हैं, उनके यत्नाचार तो रहता ही नहीं है और जीवों की हिंसा भी होती है। रात्रि में कीड़ी, मच्छर, मक्खी, मकड़ी आदि अनेक जीव भोजन में आकर गिर जाते हैं और यदि बिजली जलाकर भोजन करता है तो दीपक के संयोग से दूर-दूर के जीव दीपक के निकट शीघ्र आकर भोजन में आ पड़ते हैं।

जो जिनधर्मी होकर रात्रि में भोजन करते हैं, उसके द्वारा आगामी परम्परा तो बिगड़ती ही है, संतान पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है तथा रात्रि में चूल्हा-चक्की के आरंभ से चौके की सफाई, बर्तनों के धरने-उठाने, धोने-मांजने आदि घोरकर्म करने से भारी हिंसा भी होती है - ऐसे तीव्ररागी और घोर हिंसक कर्म करनेवालों को जैनकुल में जन्म लेने का कोई लाभ नहीं मिलता।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो हम घर में रात्रि में भोजन बनाने का आरंभ नहीं करेंगे, दिन में बने हुए पकवान, लड्डू, पेड़ा, पूड़ी, पुआ, बरफी, दूध, मलाई आदि खा लेंगे, तब तो आरंभजनित हिंसा नहीं होगी ? फिर तो कोई दोष नहीं है ?

उत्तर - अरे भाई ! रात्रिभोजन में धर्म की हानि, स्वास्थ्य की हानि एवं लोकनिंदा तथा सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन जैसे अनेक दोष होने पर भी यदि तू रात्रि में ही खाने का दुराग्रह रखता है, सो ऐसा काम तीव्रराग के बिना संभव नहीं है और तीव्रराग स्वयं अपने आप में आत्मघातक होने से भावहिंसा है। जैसे अन्न का ग्रास व मांस का ग्रास समान नहीं है, उसीतरह दिन का भोजन व रात्रि का भोजन करना समान नहीं है। रात के भोजन में अनुराग विशेष है, अन्यथा बिना राग के इतना बड़ा खतरा कोई क्यों मोल लेता?

जब दिन में भोजन करना ही स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन जीने के लिए पर्याप्त है तो रात्रि में भोजन का हठाग्रह क्यों ? जो रात में भोजन करता है, उसके व्रत, तप, संयम कुछ भी संभव नहीं है।

रात्रिभोजन का सबसे बड़ा एक दोष यह भी है कि इस काम में ही महिलाओं को रात के बारह-बारह बजे तक उलझा रहना पड़ता है। इससे खानेवालों के साथ बनानेवाली माता-बहिनों को धर्मध्यान, शास्त्रों का पठन-पाठन, तत्त्वचर्चा, सामायिक, जाप्य आदि सबकुछ छूट जाता है। इसकारण जैनधर्म के धारक रात्रि में भोजन नहीं करते - ऐसी ही सनातन रीति अबतक चली आई है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोक में करोड़ों लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि जैनी रात में नहीं खाते। इसकारण जैनधर्म की प्रभावना भी बहुत है, फिर भी जो लोग रात में खाते हैं व जिनधर्म की उज्वल कीर्ति को मलिन करते हैं, ऐसा अनर्थ भी राग की तीव्रता के बिना संभव नहीं है। अतः जो रात में खाता है, वह निःसन्देह तीव्ररागी होने से महापापी है।

जैनेतर शास्त्रों में भी रात्रिभोजन के त्याग के उल्लेख मिलते हैं, इससे स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति में भी रात्रिभोजन वर्ज्य है।

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत, राक्षसी कीर्तिता हिंसा।

संध्ययोरुभयोश्चैव, सूर्येचैवाचिरोदिते ॥२८०॥^१

१. विश्वविख्यात हिन्दूदर्शन का ग्रन्थ महाभारत

रात्रि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए; क्योंकि रात्रि को राक्षसी माना गया है। न केवल रात्रि बल्कि सूर्यास्त व सूर्योदय के समय दोनों संध्याओं के संधिकाल में भी श्राद्ध व भोजन नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह समय भी रात्रि के निकट होने से रात्रि के दोष से दूषित होने लगता है।

और भी देखिए युधिष्ठिर को संबोधित करते हुए कहा कहा है -

नोदकमपि पातव्यं, रात्रौ अपि युधिष्ठिरः ।
तपस्विनां विशेषेण, गृहणां च विवेकनां ॥^१

हे युधिष्ठिर ! रात्रि में आहार की तो बात ही क्या है, पानी भी नहीं पीना चाहिए।

मद्य मांसाशनं रात्रौ, भोजनं कन्द भक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥^२

जो मनुष्य मद्य पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि को भोजन करते हैं एवं जमीकन्द खाते हैं, उनके साथ जप-तप तीर्थ यात्रादि करना व्यर्थ है।

इसप्रकार सभी जैन व जैनेतर धर्मशास्त्रों में मद्य-मांस-मधु व कन्दमूल आदि को तामसिक आहार माना है तथा हिंसामूलक होने से सर्वथा त्याज्य कहा है। फिर भी न जाने क्यों जैनेतर लोगों में सांयकालीन भोजन को रात में खाने की ही परम्परा है। लगता है जैनों से अपनी अलग पहचान बनाने के लिए ऐसा हुआ हो। पर अफसोस की बात यह है कि कलिकाल में जैन भी अपनी पहचान खोते जायेंगे।

प्रश्न - यहाँ यदि कोई कहे कि आपको यहाँ मूलगुणों के वर्णन में रात्रिभोजन के त्याग का उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि रात्रि भोजन का त्याग तो छठवीं प्रतिमा में होता है, फिर यहाँ इस सामान्य रहस्य के लिए यह उपदेश क्यों ?

इसका समाधान यह है कि भाई! छठवीं प्रतिमा में तो रात्रिभोजन त्याग पूर्णरूप से होता है और यहाँ मूलगुणों के प्रकरण में रात्रिभोजन का त्याग अतिचार सहित ही होता है, इसमें अतिचारों का त्याग शामिल नहीं है। और छठवीं प्रतिमा में जो रात्रिभोजन का त्याग स्थूलरूप से है वह अतिचार रहित है, मूलगुणों में तो रात्रि में केवल अन्नादिक स्थूल भोजनों का त्याग है, इसमें सुपाड़ी, लोंग, इलायची, जल तथा औषधि आदि का त्याग नहीं है। जबकि छठवीं प्रतिमा में पानी, लोंग, सुपारी, इलायची, औषधि आदि समस्त पदार्थों का त्याग बतलाया है। इसलिए छठवीं प्रतिमाधारी प्राणान्तक प्रसंग आने पर भी जल तक ग्रहण नहीं करता, औषधि आदि लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न - दर्शनप्रतिमाधारी के मूलगुणों के सिवाय अन्य कोई व्रत नहीं होता। वह सम्पूर्णतः अव्रती है, अतः वह तो रात्रि में अन्नादिक भोजन कर सकता है, अव्रती होने से वह अभी रात्रिभोजनत्याग करने में असमर्थ है। वह तो अभी केवल पाक्षिक श्रावक है, वह तो व्रतादि धारण करने का केवल पक्ष रखता है। इसप्रकार भी उसे रात्रि में आहार करने का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए। आगम अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि न तो त्रस हिंसा से विरक्त है और न स्थावर हिंसा से। अतः वह रात्रिभोजन भी क्यों छोड़े ?

उत्तर - एक बात तो यह है कि रात्रि भोजन का त्याग न करने से उसका पाक्षिकपना भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उसको तो व्रतों के धारण करने की भावना भी सिद्ध नहीं होती।

दूसरे रात्रिभोजन का त्याग करना तो पाक्षिक श्रावक का कुलाचार है। इसके त्याग बिना तो वह पाक्षिक श्रावक भी नहीं हो सकता। जैन होने के नाते उसे अन्नाहार का त्याग करना तो अनिवार्य ही है। इसके बिना जैनपना कैसे ?

यह बात जगत जाहिर है कि रात्रि में दीपक बिजली के सहारे पतंगा आदि अनेक त्रस जीवों का समुदाय आ जाता है, जो जरा-सा हवा का झकोरा लगने मात्र से अपने सामने देखते-देखते मर जाता है तथा उनका कलेवर उड़-उड़कर भोजन में मिल जाता है। कुछ जीव तो जीवित ही भोजन में पड़कर मर जाते हैं।

ऐसी हालत में रात्रिभोजन के त्याग न करनेवाला मांस के दोष से कैसे बच सकेगा ? इसलिए संयम की रुचि वालों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य कर देना चाहिए।

यदि अपनी शक्ति हो तो चारों प्रकार के आहार का त्याग करें, अन्यथा अन्नाहार का त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिए।

रात्रिभोजन त्याग की महिमा बताते हुए आचार्य वीरनन्दी तो इसे छठवाँ अणुव्रत तक कहेंगे। वे लिखेंगे कि - “श्रावक को अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए रात्रिभोजनत्याग नाम का छठा अणुव्रत भी अवश्य पालना चाहिए। रात्रिभोजन त्याग के बिना अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा नहीं हो सकती; क्योंकि रात्रि में हिंसा अवश्यंभावी है।”

रात्रिभोजन नामक छठवीं प्रतिमा के सिवाय रात्रिभोजन त्याग की चर्चा किसी भी प्रकरण में आयी हो, उसे केवल सामान्य श्रावक के मूलगुणों में ही मानना चाहिए। रात्रिभोजनत्याग की चर्चा छठवीं प्रतिमा में भी आती है, वहाँ सम्पूर्ण अतिचारों एवं कृत कारित अनुमोदना के त्यागपूर्वक रात्रिभोजन त्याग की बात है। सामान्य रात्रिभोजन का त्याग तो अष्ट मूलगुणों में ही हो जाता है। इस प्रारंभिक भूमिका में अन्नाहार एवं मिष्ठान्न के खाने व बनाने के त्याग की मुख्यता है। इस भूमिका में पानी, औषधि, लोंग, इलायची आदि के त्याग को शामिल नहीं किया है।

अभिनन्दननाथ की धर्मसभा में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर विराजते थे। लाखों मुनि-आर्यिकायें थीं। सोलह हजार केवली भगवन्त वहाँ विराजते थे।

भगवान अभिनन्दन स्वामी ने धर्म की वर्षा करते-करते लाखों-करोड़ों वर्षों तक अनिच्छा से भरतक्षेत्र में विहार किया।

भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को धर्म प्राप्त कराने के पश्चात् अभिनन्दन परमात्मा सम्मेदाचल पर पधारे।

वहाँ एक मास तक स्थिर रहे, वाणी का योग रुक गया और अन्त में अभिनन्दन परमात्मा सम्मेदाचल पर पधारे। वहाँ एक मास तक स्थिर रहे, वाणी को योग रुक गया और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा सर्वप्रकार से योगनिरोध करके, चौदहवें गुणस्थान में शेष अघाति कर्मों का भी क्षय करके आनन्द-टोंक से वैशाख शुक्ला षष्ठी को प्रातःकाल मोक्षपद प्राप्त किया।

प्रभु के मोक्षगमन से आनन्दित होकर इन्द्रादि देवों ने तथा मनुष्यों ने मोक्षकल्याणक का उत्सव किया। सिद्ध भगवन्तों की परमभक्ति से उन्होंने यह भाव व्यक्त किया कि हमें भी ऐसा मोक्षपद इष्ट है।

जो पहले विदेहक्षेत्र में रत्नसंचयपुर नगर के महाराजा महाबल थे, पश्चात् रत्नत्रय के संचयपूर्वक मुनि होकर अहमिन्द्र हुए और पश्चात् ऋषभदेव के वंश में अयोध्यानगरी में अभिनन्दन तीर्थकर के रूप में अवतार लेकर तीन लोक द्वारा अभिनन्दनीय सर्वज्ञ परमात्मा हुए। वे हमारे हित में सद्निमित्त बनें। यही मंगल भावना है।

बड़े व्यक्तित्व की पहचान

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं; बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं।

- इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-३८

जो जानते हैं सुमतिजिन के, जिनवचन को ज्येष्ठतम ।
जो मानते हैं सुमति जिन की, साधना को श्रेष्ठतम ॥
जिनके परम पुरुषार्थ में, निज आत्मा ही है प्रमुख ।
वे मुक्तिपथ के पथिक हैं, संसार से वे हैं विमुख ॥

जो व्यक्ति सुमतिनाथ की 'सुमति' (दिव्यध्वनि) को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित मत में ही जिनकी मति प्रवृत्त रहती है, जिनके परम पुरुषार्थ में एक आत्मा की ही प्रमुखता रहती है, उन्हें अल्पकाल में सम्यक् मति की प्राप्ति अवश्य होती है। वे शीघ्र आत्मज्ञानी बनकर अविनाशी मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। उन सुमतिनाथ की आराधना से हमारी मति सुमति बने - हम ऐसी भावना भाते हैं।

तीर्थंकर सुमतिनाथ के पूर्वभवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेहक्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का एक देश है। उसकी पुण्डरीक नगरी में रतिषेण नाम का राजा था। वह सम्पत्तिवाला होकर भी सभीप्रकार के दुर्व्यसनों से दूर रहता था। पूर्वोपार्जित पुण्य के फल में प्राप्त विशाल राज्य का न्याय-नीति पूर्वक शासन करता था। वह अजातशत्रु था। उसके सद् व्यवहार और निर्हंकारी स्वभाव से उसका कोई शत्रु नहीं था।

राजा रतिषेण समस्त राजाओं में सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय व्यक्ति था। वह साम और दाम नीति से ही अपना अनुशासन व्यवस्थित रखता था, उसके पुण्य प्रताप से एवं सद् व्यवहार से प्रजा इतनी अनुशासित थी कि उसे दण्ड और भेदनीति का कभी उपयोग ही नहीं करना पड़ा।

इन्द्रियों के विषय में अनुराग रखनेवाले मनुष्यों को जो मानसिक तृप्ति होती है, उनके मनोरथ पूर्ण होते हैं, उसे काम कहते हैं। वह काम भी रतिषेण को दुर्लभ नहीं था; क्योंकि समस्तप्रकार की सम्पत्ति उसे उसके पुण्योदय से सहज उपलब्ध थी, जिससे उसके मनोरथ पूर्ण होते थे।

वह राजा धन का अर्जन, रक्षण, वर्धन और सत् कार्यों में व्यय – इन चारों उपायों से धन का संचय करता था और आगम के अनुसार अर्हन्त भगवान को ही अपना आराध्यदेव मानता था। इसप्रकार अर्थ और धर्म को वह काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था। काम की अपेक्षा वह धर्म पुरुषार्थ को अधिक उपयोगी, आवश्यक और हितकर मानता था।

इसप्रकार सहजभाव से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ पूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए एक दिन रतिषेण को विचार आया कि इस दुःखद संसार से जीव का उद्धार होने का क्या उपाय है ? अर्थ और काम पुरुषार्थ तो संसार के ही कारण हैं। जिस व्यवहार धर्म में भी कर्मबंध की संभावना है, उससे भी आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। एकमात्र वीतरागता का वर्द्धक एक मुनिधर्म ही जीव को उत्तम सुख प्राप्त करा सकता है – ऐसा विचार कर राजा रतिषेण ने राज्य का भार अपने अतिरथ नामक पुत्र को सौंपकर तप धारण कर लिया। शरीर से ममत्व त्यागकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। उसने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि कारणों से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। यह तो स्वाभाविक बात है कि जिससे अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि होती है, उस काम को कौन बुद्धिमान पुरुष नहीं करना चाहेगा। बुद्धिमान व्यक्ति अभीष्ट फलदायक कार्य करने का उद्यम करते ही हैं। उसने अन्त समय में संन्यास मरण कर तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु का बन्ध किया तथा वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

वहाँ उसका एक हाथ ऊँचा शरीर था। सोलह माह व पन्द्रह दिन में एक बार श्वांस लेता था। तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था। शुक्ल लेश्या का धारक था। अपने तेज से लोक नाड़ी को प्रभावित करता था। उसके अवधिज्ञान की सीमा सम्पूर्ण लोकनाड़ी थी। उतनी ही दूर तक की विक्रिया कर लेता था। वह प्रवीचार रहित होकर भी संसार में सर्वाधिक सुखी था।

आयु के अन्त में समाधिमरण कर जब राजा रतिषेण अहमिन्द्र हुआ तब इस जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी में मेघरथ राजा राज्य करता था। वह भी भगवान ऋषभदेव का वंशज था। वह भी अजातशत्रु था, प्रशंसनीय था। उसकी पट्टरानी मंगला थी। वह पन्द्रह माह तक धन कुबेर द्वारा की गई रत्नवृष्टि आदि से सम्मानित थी। उसने श्रावण शुक्ल द्वितीया के दिन मघा नक्षत्र में हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे तथा अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसीसमय वह अहमिन्द्र रानी मंगला के गर्भ में अवतरित हुआ।

अपने पति से स्वप्नों का फल जानकर रानी बहुत हर्षित हुई। तदनन्तर नौंवे माह में चैत्र माह के शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन तीन ज्ञान के धारक बाल तीर्थकर का जन्म हुआ। सौधर्म आदि इन्द्र तीर्थकर बालक को सुमेरु पर्वत ले गये। वहाँ जन्माभिषेक महोत्सव मनाया गया। बाल तीर्थकर का नाम सुमतिनाथ रखा। तीर्थकर बालक सुमतिनाथ और अभिनन्दननाथ के बीच का अन्तराल काल नौ लाख करोड़ सागर था। भगवान सुमतिनाथ की आयु चालीस पूर्व थी। तपाये हुए सुवर्ण के समान उनकी कान्ति थी। बहुत कहने से क्या! उनके एक-एक अंग की शोभा अद्वितीय थी, अकथनीय थी; वे सर्वांग सुन्दर थे। सबप्रकार के लौकिक सुख रहते हुए भी उन्हें संसार में सुख दिखाई नहीं दिया। अतः सुमतिनाथ संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने विचार किया कि “अल्पसुख की इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान मानव इस विषय रूप क्षणिक एवं आदि-मध्य-अन्त में आकुलता उत्पन्न करनेवाले सुख में लम्पट क्यों हो रहे हैं ?

यदि ये संसारी प्राणी कांटों में लिपटे आटे के लोभ में कांटे से अपना कंठ छिदाने वाली मछली के समान आचरण न करें तो इन्हें विषयरूपी कांटे में फंसकर अपने प्राणों को नहीं खोना पड़ेंगे। जो अपने स्वभाव को समझने में चतुर नहीं है - ऐसे मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्यों में लीन रहें; परन्तु मैं तो तीन ज्ञान से सहित हूँ; फिर भी अहितकारी कार्यों में लीन कैसे हो गया ?

जबतक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यग्ज्ञान नहीं होता तबतक आत्मा के स्वरूप में स्थिरता कैसे हो सकती है ? और जिसके स्वरूप में स्थिरता नहीं, उसके सुख कैसे हो सकता है ?”

राज्य करते हुए जब उन्हें उन्नीस लाख पूर्व बारह पूर्वांग बीत चुके थे, तब अपनी आत्मा में उन्होंने पूर्वोक्त विचार किया, उसीसमय सारस्वत आदि समस्त लौकान्तिक देवों ने अच्छे-अच्छे स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की, देवों ने उनका अभिषेक किया और उन्होंने उनकी अभय नामक पालकी उठाई। इसप्रकार भगवान सुमतिनाथ ने वैशाख सुदी नवमी के दिन प्रातःकाल वन में एक हजार राजाओं के साथ बेला का नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली। संयम के प्रभाव से उसीसमय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन वे आहार के लिए सौमनस नामक नगर में गये। वहाँ पद्म राजा ने उनका पड़गाहन कर आहार दिया। भगवान सुमतिनाथ ने सर्व पाप की निर्वृत्तिरूप सामायिक संयम धारण किया था। वे मौन से रहते थे। उनके समस्त पाप शान्त हो चुके थे, वे अत्यन्त सहिष्णु थे। उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मात्र बीस वर्ष बिताये। तदनन्तर उसी सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे प्रतिमा योग धारण कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल उन्होंने केवलज्ञान प्रगट किया। देवेन्द्रों ने उनके केवलज्ञान कल्याणक की पूजा कर मंगल महोत्सव मनाया। सप्त ऋद्धियों के धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर निरन्तर सम्मुख रहकर उनकी पूजा करते थे, दो हजार चार सौ पूर्वधारी निरन्तर उनके साथ रहते थे। वे दो लाख चौवन हजार तीन सौ पचास उपाध्यायों सहित थे। ग्यारह हजार अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे। तेरह हजार केवलज्ञानी थे। आठ हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक उनका स्तवन करते थे। दस हजार चार सौ पचास मुनि उनकी वन्दना करते थे। इसप्रकार सब मिलाकर तीन लाख बीस हजार मुनियों से वन्दनीय होकर भी भगवान उन सबसे अप्रभावी एवं परम वीतरागी रहते थे।

अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकायें उनकी अनुगामिनी थीं। तीन लाख श्रावक उनकी नित्य नियमित पूजा करते थे। पाँच लाख श्राविकायें उनके साथ रहकर उनकी धर्मसभा में दिव्यध्वनि का लाभ लेती थी। धर्मसभा में बैठकर तीन गतियों के जीव प्रभु की दिव्यवाणी सुनते थे।

इसप्रकार देव, मनुष्य और तिर्यचों द्वारा पूजित सुमतिनाथ प्रभु ने धर्मलाभ सहित अठारह क्षेत्रों में विहार कर भव्य जीवों को धर्मोपदेश दिया।

जिसप्रकार अच्छी भूमि में बीज बोया जाता है तो उससे विशेष फल का लाभ होता है, उसीप्रकार भगवान ने प्रशस्त-अप्रशस्त सभी भाषाओं में भव्य जीवों के लिए दिव्यध्वनि रूप बीज बोया था। उससे भव्य जीवों को महान धर्मफल की प्राप्ति हुई।

एक भव्य श्रोता के मन में प्रश्न उठा - प्रभो ! बिना छने पानी पीने में क्या दोष है ? जब घर-घर में नलों द्वारा वाटर बक्स से फिल्टर पानी आयेगा तो बार-बार छानना क्यों आवश्यक है ?

हे भव्य सुनो ! अब आगे विज्ञान के युग में वस्त्र से छने जल की उपयोगिता और अधिक बढ़ेगी। न केवल जैन, अन्यमत वाले भी छना (निर्जन्तुक) पानी पीयेंगे; क्योंकि सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से भी सिद्ध हो जायेगा कि बिना छने पानी में चलते-फिरते असंख्य सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं। उन जीवों के उदर में जाने पर वे तो मरते ही हैं, अनेक उदर रोगों को भी उत्पन्न करते हैं। इसलिए जीव रक्षण और स्वास्थ्य संरक्षण की दृष्टि से वस्त्रगालित जल पीना अत्यावश्यक होगा।

यद्यपि वाटर बक्स से फिल्टर होकर पानी आयेगा; परन्तु प्रति दो घड़ी में पानी में जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अतः जब भी पानी पियें, छानकर ही पियें।

केवलज्ञान में भूत एवं भविष्य का ज्ञान भी वर्तमानवत् स्पष्ट जानने में आता है। अतः भाषा में वर्तमानकाल प्रयोग भी निर्दोष समझें।

मनुष्यों को सदा वस्त्र से छना हुआ जल ही पीना चाहिए। अगालित जल पीना पापबन्ध का कारण है। दयालुजनों को स्नान आदि के काम में भी पानी को छानकर ही उपयोग करना चाहिए।

वस्त्रगालित जल में भी एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः सम्मूर्च्छन त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। एतदर्थ ब्रह्मनेमीदत्त छने और प्रासुक (गर्म) जल की अवधि का ज्ञान कराते हुए कहते हैं कि -

गालितं तोयमप्युच्चै, सन्मूर्च्छितमुहूर्ततः।
प्रासुकं याम युग्माच्च सदुष्णं प्रहराष्टकान् ॥

अच्छे प्रकार से छाने गये जल में भी एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी के पश्चात् सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। प्रासुक किया हुआ जल दो प्रहर के पश्चात् तथा खूब उष्ण किया हुआ (उबला हुआ) जल आठ प्रहर के बाद सम्मूर्छित हो जाता है।

पूर्वोक्त कथन के समर्थन में छने पानी की समय सीमा के विषय में निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है -

मूर्हर्त गालितं तोयं, प्रासुकं प्रहर द्वयम् ।

उष्णोदकमहोरात्रं, ततः सम्मूर्छितभवेत् ॥

ध्यान रहे! तत्काल का छना पानी एक मुहूर्त, प्रासुक किया दो प्रहर तथा उबाला हुआ पानी चौबीस घंटे बाद सम्मूर्छित हो जाता है।

जेण अगालिउ जलुपियइ, जाणिज्जइ न पवाणु ।

जो तं पियइ अगालिउ, सो धीवरह पहाणु ॥२७॥

जो अगालित जल पीता है, वह जिन-आज्ञा को नहीं जानता। तथा जो अगालित जल पीता है, वह धीवरों में प्रधान है।

अतः हे बुद्धिमान श्रावक ! स्नान करने में, वस्त्र धोने तथा किसी भी वस्तु का प्रक्षालन करने में तत्काल का छाना हुआ पानी ही काम में लेना चाहिए; क्योंकि जो बिना छने पानी से स्नान आदि भी करते हैं, उनसे जीवों की हिंसा होती है और हिंसा होने से अहिंसा धर्म का नाश होता है।

वस्त्रगालित जल पीना न केवल जैनों का कर्तव्य है; बल्कि जैनेतर धर्मग्रन्थों में भी पानी छानकर ही पीने का विधान है। दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, पट पूतं जलं पिवेत् ।

जीवरक्षा हेतु देखकर कदम रखो और कपड़े से छानकर पानी पीओ।

जैनेतरों के ही दूसरे ग्रन्थ लिंगपुराण में लिखा जायेगा -

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्य वेधकः ।

एकाहेन तदाप्नोति, अपूत जल संकुली ॥

मछली मारनेवाला धीवर मछलियाँ मार-मार कर एक वर्ष में जितना पाप करता है, बिना छना पानी काम में लेनेवाला व्यक्ति एक दिन में उतने पाप का भागी होता है। क्योंकि -

एगम्मि उदगबिंदुमि, जे जीवा जिणवरेहिं पण्णता ।
ते जइ सरिसव मित, जम्बूदीवे ण मायंति ॥

जल की एक बूँद में इतने सूक्ष्मजीव-त्रसजीव होते हैं कि यदि वे आकार में सरसों के दाने के बराबर हो जावें तो जम्बूद्वीप में नहीं समायेंगे - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अतः अहिंसक आचरण के लिए तथा मांस के अतिचार (दोष) से बचने के लिए पानी सदैव छानकर ही काम में लेना चाहिए। कहा भी है -

वस्त्रेणाति सुपीनेन, गालितं तत्पिबेज्जलम् ।
अहिंसाव्रत रक्षाये, मांस दोषाय नोद्ने ॥

अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए एवं मांस के दोष से बचने के लिए अत्यन्त मोटे दोहरे छत्रे से छना हुआ पानी ही पीना चाहिए।

पर ध्यान रहे, छत्रे का कपड़ा सूती हो, स्वच्छ, मोटा व दुहरा हो, टेरिकाट न हो, पतला, पुराना एवं मैला न हो। इकहरा व खिरखिरा भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि पानी में दो तरह के रोगाणु होते हैं। १. बैक्टेरिया और २. वायरस।

इकहरे छत्रे से बैक्टेरिया तो छन जाते हैं; पर वायरस नहीं छनते और दुहरे मोटे सूती कपड़े के छत्रे से वायरस भी छन जाते हैं; अतः स्वस्थ रहने की दृष्टि से भी पानी सदा दुहरे व मोटे छत्र से ही छानना चाहिए।

छने पानी पीने की प्रतिज्ञा लेनेवाला हिंसा के महापाप से तो बचता ही है साथ में सहज ही अनेक बीमारियों से एवं धोखा-धड़ी के खतरों से भी बच जाता है।

उदाहरणार्थ - उसकी उदर विकार उत्पन्न करने वाली बाजारु मिठाइयाँ खाना भी छूट जाती हैं; क्योंकि वे सब अनछने पानी से ही बनती हैं।

संक्रामक रोग फैलानेवाली होटलों की चाय-काफी भी छूट जाती है; क्योंकि ये भी अनछने पानी से बनते हैं।

उसे कोई धोखा-धड़ी से बाजारु अखाद्य या अपेय वस्तुएँ नहीं खिला-पिला सकता; क्योंकि अब वह अनछने पानी का त्यागी होने से बाजारु वस्तुएँ खाता ही नहीं है।

इसतरह छने पानी से दया धर्म के साथ स्वास्थ्य का लाभ भी मिलता है और जीवन भी सुरक्षित होता है। इन सबके साथ उसकी जो सामाजिक प्रतिष्ठा बनती है, वह भी कोई कम नहीं है।

इसतरह छने पानी पीने से लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं; अतः सभी को छना पानी ही पीना चाहिए।

सम्मदेशिखर पहुँचकर प्रभु एकमास तक दिव्यध्वनि बंद करके ध्यानारूढ़ हो गये और प्रतिमा योग को धारण कर वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन प्रातःकाल अनेक मुनियों के साथ परमपद को प्राप्त किया।

जो पहले रत्नसंचय नगर के राजा महाबल हुए, तदनन्तर विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए; फिर ऋषभनाथ के ही वंश में अयोध्या नगरी के अधिपति राजा हुए। वे अभिनन्दननाथ हमारे कल्याण में निमित्त बनें।

जिन्होंने निश्चय और व्यवहार नयों से विभाग कर समस्त पदार्थों का विचार किया। अपने भव की विभूति का नाश करने के कारण देवों ने जिनकी स्तुति की, जो तीनों लोकों के स्वामी कहलाकर भी अपने स्वभाव के स्वामी हैं। संसारी जीवों को संसार से पार उतारने में जिनकी दिव्यवाणी समर्थ सिद्ध हुई, उन अभिनन्दननाथ को शत शत नमन। ॐ नमः। ●

जब पाप का उदय आता है, तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव के हेतु होते हैं, सुख के निमित्त होते हैं, वे ही गले के फन्दे बन जाते हैं। - इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-

महामोह के घने तिमिर को, सम्यक् सूर्य भगाता है।
ज्ञान द्वीप जगमग ज्योति से, मुक्तिमार्ग मिल जाता है॥
मोह नींद में सोये जग को, दिनकर दिव्य जगाता है।
पद्मप्रभ की शरणागत से, भवबन्धन कट जाता है॥

तीर्थकर पद्मप्रभ के पूर्वभव का परिचय कराते हुए गणधर आचार्य उत्तरपुराण में कहते हैं कि धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीतानदी के तट पर एक वत्स देश है। उस देश के सुसीमा नगर में महाराज अपराजित राज्य करते थे। यथा नाम तथा गुण सम्पन्न राजा अपराजित को कोई पराजित नहीं कर सका था। उन्होंने ही अंतरंग एवं बहिरंग सभी शत्रुओं को जीत लिया था।

उसके सत्यधर्म के प्रभाव से सभी ऋतुयें उसके अनुकूल थीं। अतिवृष्टि-अनावृष्टि के कारण कभी अकाल नहीं पड़ा था। इसकारण कृषक जन आदि सभी सुखी थे। उसकी दान की प्रवृत्ति के कारण दारिद्र्य शब्द आकाश कुसुमवत् अस्तित्वविहीन था। राजा यद्यपि रूप, गुणरूप अंतरंग सम्पत्ति आदि से सम्पन्न था; किन्तु उसने इस कथन को झूठा सिद्ध कर दिया था कि “पैसे से पाप और बुराईयाँ पनपती हैं, पैसा बुराई की जड़ है।” उसने प्राप्त पैसे (धन) का जनकल्याण में उपयोग कर पुण्यार्जन तो किया ही, जनता का हृदय भी जीत लिया था।

कुटिल, दुष्ट, चोर, लम्पट आदि शब्द केवल शब्दकोष में ही मिलते थे। उसके प्रभाव से वहाँ के व्यक्तियों में ऐसे कोई दोष नहीं टिक सके थे।

वह राजा संधि और विग्रह आदि सभी नीतियों में निपुण था। इसप्रकार भले कार्यों में उपार्जित पुण्यकर्म

के उदय से प्राप्त उसने चिरकाल तक साम्राज्य का सफलतापूर्वक संचालन करके सुख का उपभोग किया ।

एक दिन वह विचार करने लगा कि “यह संसार का सुख सचमुच क्षणभंगुर है । अबतक इस राज्य को न जाने कितने राजा भोग चुके हैं । पैदा हुए और यों ही खाया-खेला और मर गये । मैं इस उच्छिष्ट (जूठन) का उपभोग कर रहा हूँ । एक दिन मुझे भी यह राज्य छोड़ना ही होगा । क्यों न मैं ही इसका त्याग कर आत्मा की साधना, परमात्मा की आराधना करके इन पुण्य-पाप कर्मों को तिलाञ्जलि देकर अन्य तीर्थकरों की तरह अजर-अमर पद प्राप्त करूँ ।”

यह सोचकर उसने अपने पुत्र सुमित्र को राज्य सौंप दिया और स्वयं वन में जाकर पिहितास्रव जिनेन्द्र को अपना गुरु बनाकर उनसे जिन दीक्षा ले ली । ग्यारह अंगों में विभाजित जिनश्रुत शास्त्रों का अध्ययन करते हुए और अपने समान विश्व के सब जीवों के भले की तीव्र भावना से अर्थात् विश्वकल्याण की भावना से तीर्थकर कर्मप्रकृति का बंध किया । आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह से ममत्व त्यागकर मरण किया । फलस्वरूप अत्यन्त रमणीय अर्द्ध ग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए । वहाँ इकतीस सागर की आयु थी । दो हाथ ऊँचा शरीर, शुक्ल लेश्या थी, वह वहाँ चार सौ पैंसठ दिन में श्वासोच्छ्वास लेता था । इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार का विकल्प आते ही कंठ से अमृत झर जाता है और भूख संतृप्ति हो जाती हैं । अपने तेज, बल और अवधिज्ञान से सातवें नरक तक को प्रभावित कर सकता था, जान सकता था ।

आयु के अन्त में जब उसका यही मध्यलोक में अवतरित होने का कुछ ही समय शेष रहा तो इसी जम्बूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय राजा के यहाँ सुसीमा नामक रानी के उदर में आने के ६ माह पूर्व से जन्म तक १५ माह इन्द्र की आज्ञा से धन कुबेर ने रत्नों की वर्षा की ।

माघ कृष्णा षष्ठी के दिन प्रातःकाल रानी सुसीमा ने हाथी आदि के सोलह स्वप्न देखें तथा मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी भी स्वप्न में देखा । प्रातः पति से स्वप्नों का फल जानकर हर्षित हुई । कार्तिक

मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन उसने पद्मप्रभ नामक पुत्र को जन्म दिया। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही हर्ष से समस्त प्राणियों का दुःख तो दूर हो ही गया, शोक भी शान्त हो गया। मोक्षमार्ग पर अपनी ज्ञानज्योति का प्रकाश करनेवाले और सबको मोक्षमार्ग दिखानेवाले तीर्थंकर पुत्र के जन्म से जन-जन में सुख-शान्ति हो गई। मोह की मुद्रा कान्तिहीन हो गई।

विद्वान परस्पर वार्ता करते हुए कह रहे थे कि जब भावी भगवान पद्मप्रभ सबको प्रबुद्ध करेंगे तब अधिकांश व्यक्ति मोहनीद से जाग जायेंगे। प्राणियों का जन्मजात विरोध शान्त हो जायेगा। श्री की वृद्धि होगी और कीर्ति तीनों लोकों में फैल जायेगी। उसीसमय इन्द्र द्वारा मायामयी बालक रखकर बालक पद्मप्रभ को मेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर सागर के जल से उनका जन्माभिषेक किया। हर्ष के साथ पद्मप्रभ बालक को वापिस लाकर माँ की गोद में रख नृत्य किया और स्वर्ग को प्रस्थान किया।

पद्मप्रभ के शरीर की जैसी सुन्दरता थी, वैसी सुन्दरता न तो कामदेव में थी और न किसी अन्य मनुष्यों में थी। वे कामदेव से भी सुन्दर थे उनमें अवर्णनीय और अनुपम गुण थे, जिनका न तो वाणी से वर्णन किया जा सकता था और न किसी से उनकी उपमा दी जा सकती थी।

जब सुमतिनाथ भगवान की तीर्थ परम्परा के ९० हजार करोड़ सागर बीत गये तब भगवान पद्मप्रभ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु तीन लाख पूर्व की थी। वे देवों द्वारा पूज्य थे। उनकी आयु का जब एक चौथाई भाग बीत गया, तब उन्होंने एक छत्र राज्य प्राप्त किया। उनका वह राज्य वंश परम्परा से उन्हें सहज प्राप्त हुआ था। उन्हें लड़ाई करके या दूसरे राजाओं को पराजित करके राज्य प्राप्त करना अभीष्ट ही नहीं था। जब राजा पद्मप्रभ को राज्यपद पर आसीन किया गया, तब समस्त प्रजा को ऐसा हर्ष हुआ मानों उन्हें ही राज्य मिला है। उनके राज्यशासन काल में प्रजा को ईति-भीति आदि किसी भी प्रकार का भय नहीं था। दरिद्रता तो पता नहीं कहाँ भाग गई थी? सबप्रकार से मंगल ही मंगल प्रगट हो गये थे। दातारों को याचक मिलते ही नहीं थे। वे किसे दान दें? यही एक समस्या थी। सम्पूर्ण राज्य समृद्ध था।

इसप्रकार जब महाराज पद्मप्रभ को राज्य प्राप्त हुआ तब संसार मानों सोते से जाग गया था, पूर्णरूप से अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो गया था। यही राजाओं की राज्यशासन-प्रशासन की सफलता है। समस्त प्रजा सुख-शान्ति से रहे, भयाक्रान्त न रहे।

इसप्रकार सफलता से राज्य शासन के चलते हुए, उन्हें एक दिन वैराग्य हो गया। कहते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। यह बात पूर्ण सत्य है। महाराज पद्मप्रभ को सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की आयु रह गई, तब किसी समय दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया और तत्त्वों को जाननेवाले महाराज पद्मप्रभ संसार को असार जानकर संसार से विरक्त हो गये। इसप्रकार धिक्कारने लगे कि प्रजा आश्चर्यचकित हो आँख फाड़कर देखती रह गई।

वे विचारने लगे कि “इस संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो और खाया न हो। यह जीव अपने पूर्वभवों में जिन पदार्थों का अनन्तबार उपभोग कर चुका है, उन्हें ही बार-बार भोगता है; अतः अभिलाषा रूप सागर में गोते खाते इस जीव से क्या कहा जाये ?

यह शरीर रोगरूपी सर्पों की वांमी है। यह जीव अपनी आँखों से स्पष्ट देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी सांपों से डसे जाकर नष्ट हो गये हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे। फिर भी यह इस रोग के घर रूप इस शरीर से मोह कर रहा है। यह बड़ा आश्चर्य है।

जो हिंसा-झूठ-चोरी आदि पापों में रचा-पचा है, इनके दुष्परिणाम पर ध्यान ही नहीं देता और इन्द्रियों के विषय, जो प्रत्यक्ष आकुलता के जनक हैं, उन्हें सुख समझकर भोग रहा है, उसके लिए विचारणीय यह है कि ये भोग भुजंग के समान दुःखद हैं। अतः जिस धर्म साधना से पुण्य और पाप - दोनों कर्म बन्धनों का अभाव होकर अविनाशी और निराकुल सुख मिलता है, उसे शीघ्र धारण करें। स्वयं को समझदार समझने वाले व्यक्तियों को तो कम से कम इस ओर ध्यान देना ही चाहिए।

इसप्रकार संसार, शरीर और भोगों से विरक्त महाराज पद्मप्रभ के समाचार ज्ञात कर लोकान्तिक देव

उनके इन कल्याणकारी विचारों की अनुमोदना हेतु आये और उनका उत्साह बढ़ाया। चारों निकायों के देवों ने उनके दीक्षाकल्याणक को खूब उत्साहपूर्वक मनाया।

तत्पश्चात् महाराज पद्मप्रभ अब वैरागी बन गये और क्षणिक नाशवान राज्य के सुख से मुँह मोड़ देवोपनीत निवृत्ति नामक पालकी में बैठकर मनोहर नामक वन में चले गये और वहाँ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन शाम के समय विधिपूर्वक स्वयं दीक्षित होकर मुनि हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। दूसरे दिन आहार चर्या के लिए वर्धमान नामक नगर में पधारे। राजा सोमदत्त ने उनका विधिपूर्वक पड़गाहन कर आहार दान दिया। राजा की विशिष्ट भक्ति से दिए आहार के फलरूप पंचाश्चर्य हुए।

तदनन्तर मुनिराज पद्मप्रभ ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र द्वारा कर्मों का संवर और तप के द्वारा निर्जरा करते हुए छह माह छद्मावस्था में मौनपूर्वक बिताये। तत्पश्चात् क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर उन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उसीसमय इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की एवं उनके समोसरण (धर्मसभा) की रचना की गई।

एक जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठा – हे प्रभो! मूलगुणों के विविध रूप क्यों हैं? क्या गणधर आचार्यों में परस्पर मतभेद के कारण ऐसा हुआ है? भगवान महावीरस्वामी के बाद पंचमकाल में जब तीर्थंकर का विरह होगा, तब इन मूलगुणों का क्या स्वरूप रहेगा?

उत्तर – हे भव्य! तुम्हारा प्रश्न अति उत्तम है। मतभेदों का तो कोई प्रश्न ही नहीं। सभी कथन आगम के अनुकूल हैं। तुम्हारी शंका का समाधान भी आगम में ही है, सुनो। ऐसे प्रश्न पूर्व में ही होते आये हैं और आगे भी होंगे; क्योंकि यह चरणानुयोग का आचरण संबंधी प्रश्न है। अतः जब-जब जिस पाप प्रवृत्ति का बाहुल्य होता है, तब-तब आचार्य उस प्रवृत्ति का त्याग कराने के लिए उन्हें मूलगुण की कोटि में सम्मिलित कर लेते हैं; क्योंकि उन स्थूल पापप्रवृत्ति को त्यागे बिना सम्यग्दर्शन की पात्रता भी नहीं आती।

विक्रम की दूसरी सदी से उन्नीसवीं सदी तक जिनागम में जो विविध रूपों में अष्ट मूलगुणों की चर्चा

होगी, उनमें से पुरुषार्थसिद्धयुपाय एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उल्लिखित मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों के त्याग तथा मद्य-मांस-मधु व पाँच पापों के स्थूल त्यागरूप अष्टमूलगुण ही अधिक प्रचलित रहेंगे; क्योंकि जनसाधारण में चरणानुयोग के ग्रन्थों में ये दोनों ग्रंथ ही स्वाध्याय व पठन-पाठन में रहेंगे। दूसरे, जहाँ हिंसा के त्याग का नियम ले लिया गया हो, वहाँ कोई हिंसा के आयतन रात्रिभोजन, अनछना जल आदि का उपयोग भी कैसे कर सकता है ? अतः अन्य मनीषियों द्वारा प्रतिपादित विविध मूलगुण भी इन्हीं में अन्तर्गर्भित हैं और आगे भी होते रहेंगे। इसकारण शेष अचर्चित रह जायेंगे।

पुराण साहित्य में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले पद्मपुराण, महापुराण एवं हरिवंश पुराणों में आगत श्रावकाचार के प्रकरण में अष्ट मूलगुणों की जो चर्चा होगी, वहाँ भी देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ जुआ, रात्रि भोजन, वेश्या संगम एवं परस्त्री रमण के त्याग को अष्ट मूलगुणों में विशेषरूप से उल्लेख किया जायेगा।

महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य आठ की संख्या कायम रखने के कारण मधु-मांस एवं पाँच उदुम्बर फलों के साथ हिंसा आदि पाँचों पापों को एक गिनकर आठ मूलगुण कहेंगे। ध्यान रहे, उनके द्वारा मद्य-त्याग की जगह हिंसादि पापों के त्याग को स्थान दिया जायेगा, जो उचित ही है।

इससे यह नहीं समझना कि उन्हें मद्य-त्याग कराना इष्ट नहीं होगा। मद्य तो सामाजिक दृष्टि से भी वर्जित रहेगा ही; अतः मद्य के कथन को गौण करके उसके स्थान पर पापों के त्याग को मुख्य किया है और किया जाता रहेगा।

चामुण्डराय चारित्रसार में अपने देशकाल के अनुसार हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के स्थूल तथा जुआ, मांस और मद्य सेवन के त्याग को अष्टमूलगुण नाम देंगे। इसकारण इनके कथन में मधुत्याग गौण हो जायेगा।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि चारित्रसार का कथन मूलतः आदिपुराण से उद्धृत होगा। एक ही ग्रन्थ में दो

जगह प्रकरण के अनुसार अलग-अलग कथन होगा। एक जगह मद्य के त्याग को गौण किया जायेगा और दूसरी जगह मधु के त्याग को। इसी से स्पष्ट है कि उन्हें मद्य व मधु दोनों का ही त्याग इष्ट है।

प्रश्न - जिनागम में मूलगुणों का उपदेश त्रिकाल आवश्यक क्यों है ?

उत्तर - देखो, जिस पात्रता के बिना धर्म का प्रारंभ ही संभव न हो, वह पात्रता तो आत्मकल्याण चाहने वालों को प्राप्त करना ही होगी। उसमें किसी भी काल में छूट नहीं मिल सकती, अभी तो तीर्थंकर का प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त है। विक्रम की दूसरी सदी के इतिहास में विभिन्न नामों से लगभग चालीस श्रावकाचार उपलब्ध होंगे, जो प्रकाशित भी होंगे, उनमें श्रावकों के आचरण का विस्तृत विवेचन होगा। प्रायः सभी में मद्य-मांस-मधु एवं पंच-उदुम्बर फलों के त्याग पर ही विशेष बल दिया जायेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कहीं/कभी/कोई जैन श्रावकों का वर्गविशेष मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का सेवन करता होगा? यह तो जैनों की परम्परागत-सनातन चली आयी कुल की मर्यादा है कि किसी भी जैनकुल में कभी भी मद्य-मांस-मधु एवं पंच-उदुम्बर फलों का सेवन नहीं होता; फिर भी यह जो अष्ट मूलगुण धारण करने-कराने का उपदेश दिया गया है, उसका मूल कारण यह है कि परम्परागत चली आई वह सुरीति सदैव अखण्डितरूप से चलती रहे। भूल से भी कभी कोई इस मर्यादा का उल्लंघन न करे। इस भावना से ही इनका प्रतिपादन होता रहा है और होते रहना चाहिए।

आजतक जो जैनों में मद्य-मांस-मधु व अभक्ष्य-भक्षण नहीं है, वह शास्त्रों के इन्हीं उपदेशों का सुपरिणाम है। यदि यह उपदेश इतने सशक्तरूप में जिनवाणी में न होता तो निश्चित ही जैनसमाज में इन दुर्व्यसनों का कभी न कभी, कहीं न कहीं प्रवेश अवश्य हो गया होता।

अबतक जिसतरह बचे हैं, भविष्य में भी इसीतरह इन दुर्व्यसनों और हिंसक प्रवृत्तियों से समाज को बचाये रखना है; एतदर्थ आज भी सतत् सावधान रहने की आवश्यकता है। अन्यथा इस भौतिक और भोगप्रधान युग में, जबकि सब ओर दुर्व्यसनों का बोलबाला है, जैन नवयुवकों को इनसे अछूता रख पाना असंभव नहीं तो कठिन तो हो ही जायेगा।

भले ही अबतक जैनकुल में परम्परागत कोई मांस न खाता-पीता हो; फिर भी उसके खतरे से सावधान करने हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय की चर्चा तो सदैव अविरलरूप से चलती ही रहना चाहिए। चर्चा से संपूर्ण वातावरण प्रभावित होता है। जो दुर्भाग्यवश इन दुर्व्यसनों में फंस गये हैं, उन्हें उससे उबरने का मार्ग मिल जाता है और जो अबतक बचे हैं, वे भविष्य के लिए सुरक्षित हो जाते हैं। उनकी आगामी पीढ़ियाँ भी इससे बची रहती हैं। इसतरह इन उपदेशों और सामूहिकरूप से किए जा रहे प्रचार-प्रसार की उपयोगिता असंदिग्ध है और आगे भी रहेगी।

पहले जमाने में भी जैनों में मद्य-मांस-मधु का सेवन नहीं था, फिर भी जैन वाङ्मय में चरणानुयोग का ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, जिसमें श्रावक के लिए आठ मूलगुणों के धारण करने व सात व्यसनों के त्याग का उपदेश न हो।

पाश्चात्य संस्कृति और आधुनिक सभ्यता आनेवाली दौड़ में पंचसितारा (फाइव स्टार) होटलों के प्रताप से धनिक नवयुवकों में तो मांस के सेवन की शुरुआत होनी ही है। ऐसी स्थिति में उन्हें मार्गदर्शन देने की एवं ऐसा वातावरण बनाने की महती आवश्यकता है और भविष्य में भी रहेगी।

जो व्यक्ति इन अखाद्य-भोजन और अपेय-पान को हृदय से बुरा मानते हैं, वे तो इन्हें खाते-पीते हुए भी समाज और परिवार से मुँह छिपाते हैं, शर्म महसूस करते हैं, खेद प्रकट करते हैं, वे स्वयं अपराधबोध अनुभव करते हैं; अतः उन्हें तो फिर भी सुलटने के अवसर हैं। पर जो लोग इसे सभ्यता और बड़प्पन की वस्तु मान बैठे हैं या आगे ऐसा ही मानेंगे। इसे सभ्यता, बड़े और पढ़े-लिखे होने का मापदंड समझ बैठेंगे। उनकी स्थिति चिंतनीय रहेगी। ऐसे लोगों को मद्य-मांसादि के सेवन से होनेवाली हानियों का यथार्थज्ञान हो तथा उनके हृदय में करुणा की भावना जगे, उनमें मानवीय गुणों का विकास हो, वे सदाचारी बने; एतदर्थ भी इसकी सतत् चर्चा आवश्यक रहेगी, अनिवार्य रहेगी।

भगवान महावीर स्वामी के २ हजार वर्ष बाद से ही उल्टी गंगा बहेगी। जहाँ पाश्चात्य देशों में मद्य-मांस का बाहुल्य रहेगा, वे तो दिनों-दिन शाकाहार की ओर बढ़ेंगे और भारत, जो ऋषियों-मुनियों का

देश कहा जाता है, शुद्ध सात्विक शाकाहार ही जिसका मुख्य आहार रहा है, वह पश्चिमी सभ्यता की देखा-देखी मद्य-मांस की ओर अग्रसर होगा।

हमें अपने उज्वल भविष्य के लिए एकबार पुनः अपने ऋषियों, मुनियों एवं मनीषियों द्वारा प्रतिपादित मूलगुणों के विभिन्नरूप एवं उनका समन्वयात्मक दृष्टिकोण समझकर, उन्हें अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाना होगा, तभी हम सच्चे श्रावक बन सकेंगे।

प्रश्न - आगम में मूलगुणों का वर्गीकरण किसप्रकार किया जायेगा ?

उत्तर - विक्रम की दूसरी सदी से लेकर श्रावकाचारों में उपलब्ध मूलगुणों की विविध व्याख्याओं का वर्गीकरण आठ वर्गों में हो जाता है, जो इसप्रकार होगा -

(१) “मद्य-मांस-मधु और पाँच-उदुम्बर फलों का त्याग” इस वर्ग के प्रतिपादक आचार्यों में आचार्य अमृतचन्द्र, पद्मनन्दि, सोमदेव, देवसेन, पण्डित आशाधर एवं पाण्डे रायमल्ल प्रमुख होंगे।

(२) “मद्य-मांस-मधु एवं पाँच पापों का स्थूल त्याग” इस वर्ग के समर्थक आचार्य समन्तभद्र एवं शिवकोटि होंगे।

(३) “मधु-मांस का त्याग, पाँचों पापों से विरति एवं जुआ खेलने का त्याग।” इस वर्ग के प्रतिपादक आचार्य जिनसेन (द्वितीय) प्रमुख होंगे।

(४) “पाँच-उदुम्बर फल, सात-व्यसन, अचार-मुरब्बा तथा फूल व फलों से बने गुलकन्द आदि का त्याग।” इसके प्रतिपादक आचार्य वसुनन्दि हैं।

(५) “मद्य-मांस-मधु पाँच उदुम्बर फल एवं रात्रिभोजन त्याग।” - आचार्य अमितगति।

(६) “मद्य-मांस-मधु, जुआ खेलना, वेश्यागमन एवं रात्रिभोजन त्याग।” - आचार्य रविषेण।

(७) “पाँच-उदुम्बर फल एवं सात व्यसनों का त्याग” - आचार्य गुणभूषण।

इस वर्ग के प्रतिपादक आचार्य गुणभूषण हैं।

इसप्रकार उपर्युक्त अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि मद्य-मांस-मधु एवं पंच-उदुम्बर फलों का त्याग तो सबको इष्ट है ही, साथ ही अपने-अपने देशकाल व परिस्थितियों के अनुसार जब/जहाँ/जिस पाप की प्रचुरता या दुर्व्यसनों का इतना बाहुल्य देखा जायेगा कि उनके त्यागे बिना धर्मश्रवण व ग्रहण की पात्रता ही नहीं आती, तो उनके त्याग की अनिवार्यता देखकर उन प्रवृत्तियों के त्याग पर विशेष बल दिया है और दिया जायेगा।

वैसे अष्ट मूलगुणों में उन सब उक्त-अनुक्त पापों का त्याग तो अन्तर्गर्भित है ही, जो श्रावकधर्म के मूल आधार हैं, पर वर्तमान समय को देखते हुए आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पाक्षिक श्रावकों के कर्तव्यों में कुछ महत्त्वपूर्ण कर्तव्य इसप्रकार हैं -

(१) मधु, मांस और मद्य आदि सभी प्रकार की मादक वस्तुओं का त्याग, (२) रात्रि में अन्नाहार का त्याग, (३) कंदमूल और उदुम्बर फलों का त्याग, (४) बिना छने जलपान का त्याग, (५) बाजारु अपेय एवं अखाद्य पदार्थों का त्याग, (६) जुआ आदि सप्त व्यसनों का त्याग, (७) द्विदल आदि अभक्ष्य-भक्षण का त्याग, (८) सामान्य स्थिति में प्रतिदिन देवदर्शन और सुबह-शाम स्वाध्याय करने का नियम, (९) वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामय धर्म में दृढ़ श्रद्धा।

इन उपर्युक्त कर्तव्यों के पालन किए बिना सच्चा पाक्षिक श्रावकपना भी नहीं होता।

वर्तमान चौबीसी के छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ की धर्मसभा में कुल तीन लाख तीस हजार मुनि सदैव उनकी दिव्यध्वनि का लाभ लेते थे। इनके अतिरिक्त श्रावकों, तिर्यंचों एवं देवों की संख्या असंख्यात थी।

एक श्रोता के मन में प्रश्न उठा - मद्य-मांस-मधु में ऐसा क्या दोष है, जिससे धर्म सुनने का पात्र भी नहीं हो सकता ? मद्य-मांस-मधु खाने-पीनेवाले को धर्म सुनने का निषेध क्यों किया ? क्या भगवान के समवशरण में मांसाहारी पशु नहीं होते ? यदि ऐसा है तो भगवान महावीर के दसभव पूर्व के जीव मांसाहारी

सिंह को चारणऋद्धि के धारक मुनियों द्वारा उपदेश कैसे दिया जा सकेगा ? और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर - गुड़, जौ, महुआ, द्राक्ष आदि अनेक वस्तुओं को सड़ाकर मद्य बनती है। वस्तुओं को सड़ाने से उसमें असंख्य/अगणित जीव उत्पन्न हो जाते हैं। मद्यपान करने से उनकी दर्दनाक मौत का महापाप मद्यपान करनेवाले को लगता है, जिसका फल नरक-निगोद है।

मद्यपान से न केवल पाप होता है, साथ में इस मद्य के सेवन से सर्वप्रथम तो बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट होने से व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है। मद्य कामोत्तेजक होती है, इसे पीनेवाला कामासक्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अन्याय-अनीति रूप क्रियाएँ करने लगता है। इससे उसे संसार में सदा संक्लेश और दुःख ही दुःख उत्पन्न होता है। मद्यपान करनेवाले की प्रतिष्ठा तो धूल-धूसरित होती ही है, स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

मद्यपान करनेवाला व्यक्ति नशे में अपने हृदय के सब भावों को लीलामात्र में ही प्रगट कर देता है। मद्यपान से मनुष्य की कान्ति, कीर्ति, बुद्धि और सम्पत्ति क्षणमात्र में विनाश को प्राप्त हो जाती है।

जो मदिरा इन्द्रियों के सम्पूर्ण विकास को रोक देती है, शरीर में शिथिलता उत्पन्न कर देती है और चेतनता को निर्दयतापूर्वक हर लेती है - ऐसी मदिरा क्या विष के समान नहीं है ?

यह सुरा सैंकड़ों पापों की जड़ है, इसका सेवन मन को विमोहित कर देता है। विमोहित चित्तवाला पुरुष सभी शुभकार्य करना छोड़ देता है, धर्म को छोड़ देता है, जीवघात करने लगता है। इसतरह पाप में प्रवृत्त हुआ प्राणी मरकर नरक में चला जाता है, नारकी बन जाता है। शराबी मनुष्य मानसिक भ्रम के कारण अपनी माँ को भी सेवन करने में तत्पर हो जाता है।

शराब के त्याग की प्रेरणा देते हुए जैनाचार्य समय-समय पर उपदेश देंगे कि मोह की कारण होने से, सांसारिक आपदाओं का आलय होने से एवं लोक व परलोक में दोष कारक होने से मानव को इस मद्यपान

का सदैव के लिए त्याग करना चाहिए। मद्य न केवल मादक है, हिंसामूलक भी है और आत्मा का पतन करनेवाली भी है। शराब के पीने से उसमें उत्पन्न हुए जीवों के समूह तत्काल मर जाते हैं तथा काम, क्रोध, भय आदि पाप परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं।

मद्यं मोहयति मनो, मोहित चित्तस्तु विस्मृति धर्मम् ।

विस्मृत धर्म जीवो, हिंसामविशंकमाचरति ॥६२॥ - आचार्य अमृतचन्द्र

मद्य मन को मोहित करती है, मोहित मनवाला धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ व्यक्ति निडर व निशंक होकर हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। इसतरह मद्य के सेवन में कोई एक दो ही दोष हों - ऐसी बात नहीं है, यह तो दोषों का समुद्र है, हिंसा का आयतन है।

मद्य में उत्पन्न होनेवाले रसज जीव सदा ही उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। मद्य की एक-एक बूंद में मद्य के ही रूप-रस के धारक अनंतजीव होते हैं। मद्य की एक बूंद में उत्पन्न होनेवाले जीव यदि संचार करें, फैल जावें तो समस्त तीन लोकरूप संसार को पूर देंगे - इसमें जरा भी संदेह नहीं है। ऐसी मद्य को पीने से मद्य के सभी जीव तत्काल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसतरह मद्यपान करने से जो हिंसा होती है, उसके फल में उसे नियम से नीचगति ही प्राप्त होती है।

यदि स्वयं को दुर्गति के दुःखों में नहीं डालना हो तो मद्य को पीना तो दूर, उसे छूना भी नहीं चाहिए।

मद्य का व्यसन ऐसा दुर्व्यसन है कि जो इसे एकबार पकड़ लेता है, फिर यह उसे जीवनभर के लिए जकड़ लेता है। इससे घर-परिवार तो बिगड़ता ही है, कई पीढ़ियों तक इसका असर रहता है। जो स्वयं मद्य पीता हो, वह अपने पुत्र-पौत्रों को किस मुँह से मना कर सकता है। फिर उसकी गति सांप-छछुन्दर जैसी हो जाती है। गले में अड़े छछुन्दर को सांप न निगल पाता है, न उगल पाता है, निगलता है तो पेट फटता है, उगलता है तो अंधा हो जाता है। यही स्थिति शराबी की होती है, पीना छोड़ भी नहीं पाता और ढंग से पी भी नहीं सकता, बस शेष जीवन रोते-रोते पश्चाताप करते-करते बीतता है।

हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मद्य सब बुराइयों की मूल जड़ है। सब पापों की अगुआ है; इसके सेवन से मनुष्य को हिताहित का ज्ञान नहीं रहता तथा हिताहित का ज्ञान न रहने से मानव संसार रूपी जंगल में भटकानेवाला कौन-सा पाप नहीं करता ? अर्थात् सभी पाप करता है।

लोक में यह कथा प्रसिद्ध रहेगी कि मद्यपान से यादव बर्बाद हो गये और जुआ खेलने से पाण्डव।”

जैनेतर धर्मग्रन्थों में भी मद्यपान का निषेध किया जायेगा। महाभारत में कहा जायेगा कि -

मद्य तीन प्रकार की होती है, गौडी, पेष्टी व माधवी। इन तीनों में से जैसी एक, वैसी ही सब। अतः ब्राह्मणों को यह सुरापान नहीं करना चाहिए। इसी ग्रन्थ में आगे कहा जायेगा कि जो ब्राह्मण एकबार भी मद्य पीता है, उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है, वह शूद्र हो जाता है।

मांसत्याग - यह तो सब जानते हैं कि प्राणियों की हिंसा किए बिना मांस उत्पन्न नहीं होता तथा यह भी सभी लोग अच्छी तरह समझते हैं कि प्राणीघात करना महापाप है, इससे स्वर्ग नहीं मिलता; इसलिए सुखाभिलाषी को मांस का खाना, खिलाना त्याग देना चाहिए।

मांस के लिए जीवों को मारनेवाला, मांस का दान देनेवाला, मांस पकानेवाला, मांस खाने का अनुमोदन करनेवाला, मांसभक्षण करनेवाला मांस को खरीदने-बेचनेवाला ये सभी दुर्गति के पात्र हैं।

प्रश्न - मांस खानेवाले ने तो जीव हिंसा की नहीं है, उसे पाप क्यों लगेगा ?

उत्तर - जो मनुष्य अपने शरीर की पुष्टि की अभिलाषा से मांस खाते हैं, वस्तुतः वे ही प्राणियों के घातक हैं; क्योंकि मांस खानेवालों के बिना जीववध करनेवाला इस लोक में कभी कोई नहीं देखा गया।

मांस की मांग ही जीववध को बढ़ावा देती हैं। अतः मांसाहारी ही मूलतः जीव हिंसा के दोषी हैं। जो व्यक्ति शरीर के पोषक सुखद तात्त्विक उत्तम अन्नाहार और फलाहार शाक-सब्जी आदि भोज्य पदार्थों को छोड़कर मांस खाने की इच्छा करते हैं, वे मानों हाथ में आये हुए अमृत रस को छोड़कर कालकूट विष को खाने की इच्छा करते हैं।

जो मनुष्य यह कहते हैं कि मांस खाने में कोई दोष नहीं है, वे लोग मनुष्य के रूप में भेड़िया, सिंह गिद्ध, स्वान, व्याघ्र, शृगाल और भीलों की संख्या ही बढ़ा रहे हैं।

इसी संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र का चिन्तन भी द्रष्टव्य है। वे लिखेंगे कि प्राणिघात के बिना मांस की उत्पत्ति संभव नहीं है; अतः मांस को खानेवाले पुरुषों के अनिवार्यरूप से हिंसा होती है।

जो स्वयं ही अपनी मौत मरे हुए भैंस, बैल, गाय आदि पशुओं का मांस है, उसके सेवन में भी उस मांस के आश्रित रहनेवाले असंख्य-अनंत सूक्ष्म निगोदिया जीवों के विनाश में हिंसा होती है।

कच्ची, पकी या पक रही मांस की पेशियों में उसी पशु की जाति के अनंत निगोदिया जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती है; अतः जो व्यक्ति कच्ची या पकी हुई मांसपेशी को खाता है या छूता भी है, वह अनेक कोटि जीवों का घात करता है। अतः मांस सर्वथा अभक्ष्य है। मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्धभरा है, दूसरों के प्राणघात से ही मांस का उत्पादन होता है तथा कसाई के घर जैसे दुःस्थान से प्राप्त होता है और फलकाल में दुर्गति का कारण है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खा सकते हैं ?

जिस पशु-पक्षी को हम मांस खाने के लिए मारते हैं, यदि वह हमें दूसरे जन्म में न मारता होता, बदला न लेता होता तो भले हम पशु हत्या कर लेते अथवा मांस के बिना जीवन का अस्तित्व ही संभव न होता तो भी पशु हत्या करने का कुछ औचित्य समझ में आ सकता था; परन्तु ऐसी बात नहीं है। मांस के बिना भी हमारा जीवन चलता ही है और हम जिसकी हत्या करेंगे, अवसर आने पर वह भी हमारा मांस नोंच-नोंच कर खायेगा ही, फिर भी हम ऐसी मूर्खता क्यों करते हैं ? यह बात गंभीरता से विचारणीय है।

श्रमणसंस्कृति के सिवाय वैदिक संस्कृति में भी मांसाहार को अभक्ष्य और अखाद्य बताया जायेगा, उसका निषेध भी किया जायेगा।

महाभारत समस्त हिन्दू समाज का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ होगा, उसमें मांसाहार का निषेध करते हुए कहा गया है कि -

“यदि खादको न स्यात्, न तदा घातको भवेत् ।

घातकः खादकार्थाय, तद् घातयति वै नरः ॥

यदि कोई मांस खानेवाला ही न हो, तो कोई भी किसी बकरे, मछली, मुर्गे आदि को न मारे। मांस खानेवालों के लिए ही तो धीवर, कसाई आदि पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं को मारते हैं।”

इसकारण मांस खानेवाला जीव हिंसा करनेवाले से भी अधिक पाप के फल का भागी है। यदि कोई मांस खायेगा ही नहीं तो बिना कारण कोई जीवों को क्यों मारेगा ?

महाभारत के ही अनुशासनपर्व में इस संबंध में धर्मराज युधिष्ठिर और भीष्मपितामह का एक अन्यन्त प्रभावोत्पादक संवाद द्रष्टव्य है -

युधिष्ठिर - हे पितामह ! आपने बहुत बार कहा है कि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है। मैं जानता हूँ कि मांस खाने से क्या-क्या हानि होती है ?

भीष्म - हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य सुन्दर रूप, सुडौल शरीर, उत्तमबुद्धि, सत्व बल और स्मरण शक्ति प्राप्त करना चाहता हो, उसे हिंसा का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। इस विषय में ऋषियों ने जो सिद्धान्त निश्चित किये हैं या करेंगे। वे ज्ञातव्य हैं।

स्वयंभुव मनु का वचन होगा कि जो मनुष्य न मांस खाता है, न पशु-हिंसा करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है; वह सारे प्राणियों का मित्र है।

नारद कहेंगे कि जो मनुष्य दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उसे अवश्य दुःख उठाना पड़ता है।

वृहस्पति का कथन होगा कि जो मनुष्य मधु और मांस त्याग देता है, उसे दान, यज्ञ और तप का फल मिलता है।

मांस, घास, लकड़ी या पत्थर से नहीं निकलता। वह तो जीव हत्या से ही मिलता है; इसलिए उसे खाने में महान दोष है। जो लोग सदा मांस भक्षण करते हैं, उन्हें राक्षस समझना चाहिए। हिंसक लोग ही पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं। यदि मांस को अभक्ष्य समझकर सब लोग उसे खाना छोड़ दें तो जीव-जन्तुओं की हत्या अपने आप बन्द हो जाये।

नियम पालन करनेवाले महर्षियों ने मांस-भक्षण के त्याग को धन, यश, आयु तथा स्वर्ग की प्राप्ति का प्रधान साधन बताया है।

हे युधिष्ठिर! पूर्वकाल में मैंने महर्षि मार्कण्डेय से मांस भक्षण के जो दोष सुने हैं, उन्हें बताता हूँ।

जो मनुष्य जीवित प्राणियों को मारकर अथवा उसके मर जाने पर, उसका मांस खाता है; वह उन प्राणियों का हत्यारा ही माना जाता है। जो मांस खरीदता है, वह धन से; जो खाता है वह उपयोग से और जो मारनेवाला है; वह शस्त्रप्रहार करके पशुओं की हिंसा करता है। इसप्रकार तीनतरह से प्राणियों की हत्या होती है। जो स्वयं तो मांस नहीं खाता; पर खानेवालों की अनुमोदना करता है, वह भी भावदोष के कारण मांसभक्षण के पाप का भागी होता है। इसीप्रकार जो मारनेवाले को प्रोत्साहन देता है, उसे भी हिंसा का पाप लगता है।

इसप्रकार विद्वानजन अहिंसारूप परमधर्म की प्रशंसा करते हैं। अहिंसा परमधर्म है, परमतप है और परमसत्य है। अहिंसा से ही धर्म उत्पन्न होता है।

मांसाहार का दुष्परिणाम बताते हुए वैष्णवधर्म के ही दूसरे ग्रन्थ 'विष्णुपुराण' में कहा जायेगा कि -

“यावन्ति पशु रोमाणि, पशु मात्रेषु भारतः।

तावद् वर्ष सहस्राणि, पंचयते पशु घातकः॥

हे राजन्! जो मनुष्य जिस पशु को मारता है, वह उस मरे हुए पशु के शरीर में जितने रोम हैं; उतने ही हजार वर्षपर्यन्त नरक में दुःख भोगता है।”

इसी विष्णुपुराण में आगे मांसाहार के त्याग का सुफल बताते हुए कहा जायेगा कि -

“सर्वमांसानि यो राजन्!, यावज्जजीवं न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं, प्राप्नुयात् नैव संशयः ॥

हे राजन् ! जो किसी भी जीव के मांस को जीवनपर्यन्त नहीं खाता; वह निःसंदेह स्वर्ग में ऊँचे दर्जे का देव होता है।

मांसाहार का निषेध करते हुए हिन्दूधर्म के ही तीसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा मिलेगा कि - “जिस प्राणी का मांस मैं यहाँ खाता हूँ, वही प्राणी परलोक में मेरा मांस खाता है। यही मांस की मांसता है - ऐसा मनीषियों ने कहा है।

चारित्रसार में आये हुए श्रावकाचार प्रकरण में भी यही भाव प्रगट करते हुए कहा जायेगा कि “मांसाहारी यह क्यों नहीं सोचता अथवा वह इस बात को क्यों भूल जाता है कि जिस पशु-पक्षी का मांस वह खा रहा है, वही पशु-पक्षी जब परलोक या अगले जन्म में मेरी जीवित अवस्था में ही मेरा मांस नोंच-नोंच कर खायेगा, उससमय मुझ पर क्या बीतेगी? इसीलिए तो कहा गया है कि -

“आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् अर्थात् जो दूसरों का व्यवहार स्वयं को अच्छा न लगे, वैसा व्यवहार हम दूसरों से न करें।”

मांसाहारी पुरुषों की साधुजन भी निंदा करते हैं और वह परलोक में भी भारी दुःख भोगता है।

मांसाशिनं साधवो निन्दन्ति, प्रेत्यच दुःखभाग भवेत् ।

फिर भी न जाने उसकी बुद्धि पर कैसे पत्थर पड़ गये हैं, जिसके कारण उसे अपना हिताहित ही भासित नहीं होता। यह भी मांसाहार का ही दुष्परिणाम है, जो उसकी बुद्धि कुंठित हो गई है और अपने भले-बुरे का ज्ञान भी नहीं रहा है।”

मांसाहार से होनेवाली मानसिक व शारीरिक हानियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मांस का एक अंश मात्र भी भक्षण करने से जीवों के भाव सब ओर से संक्लेशरूप व क्रूर हो जाते हैं। क्रूर व संक्लेश परिणाम पापबंध के कारण बनते हैं। वह तीव्र पापबंध जीवों को नानाप्रकार के मानसिक व शारीरिक दुःखों का कारण बनता है। फिर उसे उन दुःखों से कोई नहीं बचा सकता। सभी को अपने किए की सजा भुगतनी ही पड़ती है। संतकवि श्री तुलसीदासजी भी यही भाव व्यक्त करते हुए कहेंगे -

“कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा।

अपनी-अपनी करनी का फल तो प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है, अतः सबको ऐसे निंद्य व हिंस्य कर्म से तो बचना ही चाहिए, जो दुर्गति का कारण हो और जिससे अनंत काल तक दुःख उठाना पड़े।”

यहाँ किसी को यह आशंका हो सकती है कि हिरण, बकरी, गाय, मेढा और मुर्गा आदि प्राणियों के शरीर के समान उड़द, मूंग, गेहूँ, चावल और साग-सब्जी व फलादि भी तो प्राणी के अंग होने से मांस ही है; अतः यदि अन्न आदि भक्ष्य हैं तो मांस भी भक्ष्य ही होना चाहिए। जीवों के संयोग की अपेक्षा तो सभी समान ही हैं न ? जैसा पशु-पक्षियों के शरीर में जीव का संयोग है, वैसे ही साग-सब्जी व अन्न में भी जीव का संयोग होता है।

जिनागम में इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि सभी प्रकार का मांस तो जीवों का ही शरीर है, पर सभी जीवों का शरीर मांस नहीं होता।

जीव दो प्रकार के होते हैं - एक स्थावर और दूसरे त्रस। त्रस जीवों का शरीर मांसमय होता है, दो इन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी त्रसकाय कहे जाते हैं, इन सबका शरीर मांसमय होता है तथा सभी प्रकार के अन्न, फल, शाक आदि और पानी स्थावर जीव हैं, इन सबके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, इन एकेन्द्रियों जीवों का शरीर मांसरहित होता है। इनके खाने से मांस का दोष नहीं लगता।

अतः अन्न, फल व साग-सब्जी तो भक्ष्य हैं; किन्तु मांस अभक्ष्य है, खाने योग्य नहीं है।

देखो, अपनी माँ तो स्त्री है, पर सभी स्त्रियाँ माँ तो नहीं हैं। इसीतरह मांस तो जीवों का शरीर है। पर सभी जीवों का शरीर मांस नहीं है। तथा जिसतरह नारी जाति की अपेक्षा सभी स्त्रियाँ समान होने पर भी पत्नी भोग्य है और माँ भोग्य नहीं है, पूज्य है, उसीतरह जीव जाति की अपेक्षा त्रस व स्थावर-जीव होने पर भी स्थावर जीवों का शरीर भक्ष्य है और त्रस जीवों का नहीं।

और भी देखो, दूध और मांस दोनों ही गाय के अंग हैं, गाय में से उत्पन्न होते हैं, उनमें दूध तो शुद्ध है, भक्ष्य है और मांस अशुद्ध है, अभक्ष्य है। इसप्रकार की वस्तुगत ही यह विचित्रता है। कहा भी है -

“हेयं पलं पयः पेयं, समे सत्यापि कारणे ।
शुद्ध दुग्धं न गोमांसम् वस्तु वैचित्र्यमीदृशम् ॥

दूध और मांस दोनों के कारण समान होने पर भी दोनों एक ही शरीर से उत्पन्न होने पर भी मांस हेय है और दूध पेय है।”

देखो वैष्णव संस्कृति में भी गाय से उत्पन्न होनेवाले दूध, दही, घी आदि पंचगव्यों को तो ग्राह्य कहा है तथा गाय से उत्पन्न होनेवाले गोरोचन को तो पूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्यों में भी उपादेय कहा है; किन्तु गोमांस भक्षण न करने की शपथ दिलाई है। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि अन्न, फल व वनस्पति भी प्राणी के अंग होने से मांस की तरह अभक्ष्य हैं।

वस्तुतः बात यह है कि दूध, दही, अन्न, फल व खाद्य सब्जियाँ भक्ष्य हैं और मांस सर्वथा अभक्ष्य है।

इस संदर्भ में कुछ ऐसे भी ज्वलंत प्रश्न किए जाते हैं, जिनका समाधान अपेक्षित है।

जो लोग शौक से अपनी इच्छा पूर्ति के लिए मद्य-मांस का सेवन करते हैं, उनकी बात तो वे जाने; परन्तु बहुत से व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन्हें मांसाहार जरूरी है, या मांस खाना और जीवों का वध करना जिनकी मजबूरी है, जैसे भील, धीवर, कसाई और सिंह आदि। लाखों लोग और पशु इस आजीविका से जुड़े हैं,

यदि सभी मांसाहार त्याग दें तो उनका क्या होगा? जिनका जन्म-जन्मान्तरों एवं पीढ़ी-दर-पीढ़ियों से मांसाहार ही मुख्य भोजन रहा है, वे उसके बिना कैसे जीवित रह सकते हैं ?

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यदि मछलियों, मुर्गों, बकरों, भेड़ों आदि मांसोत्पादक पशुओं को मांस के लिए मारा नहीं जाएगा तो इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ जायेगी कि लोक में समायेगी ही नहीं, तब क्या होगा ?

तीसरी समस्या यह उपस्थित होती है कि यदि सभी मनुष्य मांस खाना छोड़ दें तो भारी संख्या में मनुष्य जाति भूखों मर जाएगी; क्योंकि इतना अनाज कहाँ से लाया जाएगा ? मांसाहार से अनाज की भारी बचत होती है। मांस अन्न की कमी की पूर्ति करता है। इस समस्या से कैसे निबटा जायेगा?

मांसाहार के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि मांस खाने से मांस बढ़ता है। मांस सीधे मांस की पूर्ति कर देता है; अतः मांसाहार का सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर - अरे भाई! ऐसे तर्क तो पक्ष व विपक्ष में बहुत दिए जा सकते हैं, पर वास्तविक बात यह है कि सभी मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही हैं। मनुष्य की शारीरिक संरचना ही ऐसी है, जिसमें मांस पचाने की शक्ति ही नहीं होती; फिर भी जो मजबूरी से मांस खाते हैं, वे अनेक बीमारियों से घिर जाते हैं; क्योंकि उनकी आंते अतिरिक्त बोझ कबतक सह सकती हैं ?

दूसरे मजबूरी की जो बात कही जाती है, वह भी निराधार है; क्योंकि मांस मिलना इतना सरल भी नहीं है, जितना अन्न-फल व साग-भाजी आदि। मांस तो हमेशा साग-भाजी व अन्य अन्न से महंगा व दुर्लभ होता है; फिर मजबूरी कैसी ?

निर्दय परिणामों के बिना मांसाहार संभव ही नहीं है। यह शारीरिक शक्ति के लिए जरूरी भी नहीं है; क्योंकि इसके बिना भी सबसे अधिक श्रम करनेवाला घोड़ा घास व अन्न खाकर अपनी शक्ति का संचय कर लेता है।

जहाँ तक बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या है, उसे प्रकृति स्वयं संतुलित रखती है। मनुष्यों को इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है तथा अकेला अन्नाहार राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता, यह तर्क भी निराधार है; क्योंकि मांसोत्पादन करने के बजाय हम अन्नोत्पादन का ही अभियान क्यों न चलाएं? कितनी जमीन बिना जुती यों ही बंजर पड़ी है। हम चाहें तो सब समस्याएँ सुलटा सकते हैं, बशर्ते यदि हमें मांसाहार की हानियाँ समझ में आ जावें।

जहाँ तक मांसाहारी सिंह को धर्मोपदेश देने की बात एवं पात्रता का प्रश्न है वह एक विशेष परिस्थिति थी - वह सिंह तीर्थकर का जीव था, उसके भव का अन्त निकट था, चारणऋद्धिधारी मुनिराज ज्ञानी थे। वे उस जीव की पात्रता से सुपरिचित थे, अतः उन्हें उपदेश देने का भाव आया और उनका निमित्त पाकर उस सिंह ने पश्चाताप के आंसू बहाकर प्रायश्चित्त किया और व्रती बन गया। यदि ऐसा कोई भव्य पात्र जीव हो तो यह अपवाद है, उसे उपदेश देने में कोई हानि नहीं; किन्तु इस बहाने मांसाहार करते-करते कोई स्वच्छन्दता पूर्वक जिनवाणी सुनने की बात करे तो ठीक नहीं है। दूसरी बात सिंह को मांसभक्षण करते हुए सम्यक्त्व नहीं हुआ था; अपितु मांस का त्याग करने पर सम्यक्त्व हुआ था।

अतः हमारा कर्तव्य है कि हम सब इसकी अधिक से अधिक चर्चा करें और लोगों को सत्य ज्ञान करायें, ताकि मांसाहार से होनेवाली हिंसा के पाप और शारीरिक स्वास्थ्य की हानि से बचा जा सके।

मधुत्याग - मधु (शहद) मधु-मक्खियों द्वारा संचित फूलों का रस है, पर वास्तव में देखा जाये तो यह अनेक अभक्ष्य पदार्थों का एक ऐसा घृणित मधुर मिश्रण है, जिसमें न केवल फूलों का रस है, वरन् इसमें मधु-मक्खियों का मृत कलेवर, उनके अंडे और भ्रूण भी मिले होते हैं, मधु-मक्खियों का मल-मूत्र भी मिला होता है और मधु-मक्खियों के मुँह की लार भी मिली होती है, क्योंकि मुँह में वे फूलों का रस चूस-चूस कर लाती हैं।

मधु प्राप्त करने की प्रक्रिया से कौन परिचित नहीं है ? मधु प्राप्त करने का अर्थ है लाखों मधु-मक्खियों की दर्दनाक मौत, हजारों को बे-घर करना तथा असंख्य अंडों और भ्रूणों को निर्दयतापूर्वक मसल देना।

मधु तोड़नेवाले सबसे पहले मधुछत्ते पर प्राणघातक हमला करते हैं, गहरा धुंआ करके मक्खियों को मार भगाते हैं; फिर उनके घर-परिवार को नष्ट करके उनकी जीवनभर की संग्रहीत सम्पत्ति को छीन लेते हैं।

काश! कोई हमारे साथ और हमारे घर-परिवार के साथ ऐसा निर्दयतापूर्वक व्यवहार करे तो हम पर क्या बीतेगी ? क्या कभी मधु खानेवालों ने यह कल्पना भी की है ?

मधु का उत्पादन तो अतिनिर्दयतापूर्वक होता ही है, वह स्वयं भी अनन्त जीवों का कलेवर है। इसतरह मधु संचय करने में एवं उसके खाने-पीने में जो लाखों जीवों की हिंसा होती है, वह तो प्रत्यक्ष ही है, साथ ही उस मधु में मांस-मदिरा की भांति रसज त्रस जीव भी निरन्तर पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं, इसकारण मांस-मदिरा की भांति ही मधु भी अत्यन्त हेय है। आगम इसका साक्षी है -

“मधु सकलमपि प्रायो मधुकर हिंसात्माकं भवति लोके ।
भजति मधुमूढघीको, यः संभवतिऽहिंसकोऽत्यन्तम् ॥

मधु की एक-एक बूँद मधुमक्खी की हिंसारूप होती है; अतः जो मन्दमति मधु का सेवन करता है, वह अत्यन्त हिंसक है।

स्वयमेव विगलितं यो, ग्रहणीयाद् छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा, तदाश्रय प्राणिनां घातात् ॥

छल द्वारा मधु के छत्ते से मधु प्राप्त करने में अथवा स्वयमेव चुए हुए मधु को ग्रहण करने से भी हिंसा तो होती ही है; क्योंकि उसके मिश्रित रहनेवाले अनेक क्षुद्र जीवों का घात तो होता ही है।

बहुजीव प्रघातोत्थं, बहुजीवोद्भावास्पदम् ।
असंयम विभीतेन, त्रेधा मध्वपि वर्जयेत् ॥

संयम की रक्षा करनेवालों को बहुत जीवों के घात से उत्पन्न तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति के स्थानभूत मधु को मन-वचन-काय से छोड़ देना चाहिए।

योऽति नाम भेषजेच्छया, सोऽपि याति लघु दुःखमुल्बणम् ।
किं न नाशयति जीवितेच्छया, अक्षितं झटिति जीवितम्विषम् ॥

जो औषधि की इच्छा से ही मधु खाता है, सो भी तीव्र दुःख को शीघ्र प्राप्त होता है; क्योंकि जीने की इच्छा से खाया हुआ विष क्या शीघ्र ही जीवन का नाश नहीं कर देता ?

माक्षिकं मक्षिकानां हि, मांसासुक पीडनोद्भवम् ।
प्रसिद्धं सर्व लोक स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥

मधु की उत्पत्ति मक्खियों के मांस व रक्त आदि के निचोड़ से होती है, यह बात सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध है तथा शास्त्रों में भी यही बात बतलाई गई है ।

इसके अतिरिक्त मधु-मक्खियों का मल-मूत्र और वमन होने से ग्लानि युक्त भी है, क्या कोई व्यक्ति किसी के मुँह का उगला हुआ कौर (ग्रास) खा सकता है ? यदि नहीं तो फिर मधु-मक्खियों के मुँह से उगली हुई मधु कोई कैसे खा सकता है ? ध्यान रहे, मधु में मधु-मक्खियों का मल-मूत्र भी मिला रहता है; क्योंकि उनके छत्ते में पृथक् से मूत्रालय व शौचालय की व्यवस्था नहीं होती ।

इसप्रकार युक्ति व आगम से यह सिद्ध है कि मधु के खाने में मांस खाने का दोष लगता है; क्योंकि मधु-मक्खियाँ स्वयं भी त्रसजीव होने से उनका कलेवर भी मांस ही है ।

इसके सिवाय एक बात यह भी है जिसप्रकार मांस में सूक्ष्म निगोदिया जीव उत्पन्न होते व मरते रहते हैं, उसीप्रकार मधु में भी सदा जीवोत्पत्ति होती रहती है ।

जो मनुष्य भोजन में पड़ी हुई मक्खी को देखकर मुँह के ग्रास को उगल देता है, थूक देता है; वही मनुष्य लाखों मधु-मक्खियों एवं उनके असंख्य अंडों को निर्दयतापूर्वक निचोड़कर निकाले गये मधु को कैसे खा-पी जाता है ?

इसतरह हमें पापरूप कीचड़ से निकालने एवं मोक्षमार्ग की पात्रता प्राप्त कराने के लिए सारी वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत है, अब हमारा दायित्व है कि हम श्रावकाचार को यथार्थरूप में अपनाकर जिनवाणी को सार्थक करें।

इसप्रकार तीर्थकर पद्मप्रभ धर्मोपदेश द्वारा भव्यजीवों को मोक्षमार्ग में लगाते थे। आयु के अन्तिम काल में वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक माह का योग निरोध किया तथा एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण कर फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी के दिन शाम को चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा शेष कर्मों का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त किया। उसीसमय इन्द्रादि देवों ने आकर निर्वाणकल्याणक की पूजा की।

जो पहले सुसीमा नगरी के अधिपति अपराजित नामक राजा हुए फिर तप धारण कर विश्वकल्याण की भावना भाते हुए तीर्थकर नामकर्म का बन्ध करके अन्तिम नव ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर कौशाम्बी नगरी में अनन्त गुणों सहित पद्मप्रभ तीर्थकर हुए। वे पद्मप्रभ स्वामी हम सबके कल्याण में निमित्त बनें - यह मंगल भावना है।

दीवारों के भी कान होते हैं। अतः ऐसी बात कहना ही नहीं चाहिए, जिस बात को किसी से छिपाने का विकल्प हो और प्रगट हो जाने का भय हो। जो भी बातें कहो, वे तौल-तौल कर कहो, ऐसा समझ कर कहो, जिन्हें सारा जगत जाने तो भी आपको कोई विकल्प न हो, भय न हो; बल्कि जितने अधिक लोग जाने, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-३१

सर्वज्ञ समदर्शी सुपारस, शिवमग बताते जगत को ।
सप्तम सुपारस है वही, भगवन बनाते भगत को ॥
पत्थर सुपारस है वही, सोना करै जो लोह को ।
भगवन सुपारस है वही, भस्मक करै जो मोह को ॥

तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के पूर्व भवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि धातकी खण्ड के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नामक देश है । उसके क्षेमपुर में नन्दिषेण राजा राज्य करता था । पुण्योदय से यद्यपि उसे सभी प्रकार की अनुकूलता थी, वह पूर्ण निरोग, बलिष्ठ, अजातशत्रु था, विशाल राज्य से युक्त, आज्ञाकारी नौकर-चाकर सभी कुछ उसके अनुकूल था । इसप्रकार वह श्रीमान्, बुद्धिमान, राजा बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों के साथ राज्यसुख का अनुभव करता था । तथापि वह संसार के सुख को क्षणिक नाशवान और आकुलता उत्पन्न करनेवाला जानकर संसार-शरीर और भोगों से विरक्त हो गया । आत्मज्ञानी तो वह था ही, संयोगों की क्षणिकता एवं संसार की असारता देख उसे वैराग्य हो गया ।

वह विचार करने लगा कि “यह जीव दर्शनमोह और चारित्रमोह के कारण मन-वचन-काय की विपरीत प्रवृत्ति से कर्मों को बांधकर उनसे प्रेरित हुआ चारों गतियों में भटकता है । इस अनादिनिधन दुखद संसार में चिरकाल से चक्र की तरह भ्रमण करता हुआ दुःख भोगता है । दैवयोग से कदाचित् काललब्धि पाकर दुर्लभ मोक्षमार्ग पाता है, फिर भी मोहित हुआ स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करता है । मैं भी उन्हीं में एक हूँ, अतः मुझे भी बारम्बार धिक्कार है ।”

“अब मैं सर्वज्ञ निरूपित मोक्षमार्ग को प्राप्त करके समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्मल होकर अनन्त सुखों को प्राप्त करूँगा।”

इसप्रकार विचार कर राजा नन्दिषेण ने अपने राज्यपद पर धनपति नामक सज्जनोत्तम पुत्र को बिठाकर और स्वयं अनेक राजाओं के साथ हर्षपूर्वक अर्हन् नामक मुनि से दीक्षित हो गया। मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् श्रुत के ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर सोलहकारण भावना भाने से उसे तीर्थकर नामक नामकर्म की प्रकृति का बन्ध हो गया। तथा आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक समताभाव से देह का त्याग कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसके शुक्ललेश्या थी। दो हाथ ऊँचा शरीर था। चार सौ पाँच दिन में श्वास लेता था और सत्ताईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, भूख की इच्छा होते ही कंठ से अमृत झर जाता था, जिससे क्षुधा शान्त हो जाती थी। उसकी ऋद्धि और अवधिज्ञान द्वारा जानने की मर्यादा सप्तमी पृथ्वी तक थी। सत्ताईस सागर की आयु थी।

इसप्रकार स्वर्ग के सुख भोगकर आयु के अन्त में जब उनका समय पृथ्वी पर अवतीर्ण होने का हुआ तब इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में काशी देश के अन्तर्गत बनारसी नगरी में सुप्रतिष्ठित राजा के घर में रानी पृथ्वीषेण के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से जन्म तक १५ मास तक नियमितरूप से कुबेर ने रत्नों की वर्षा की। माता ने भाद्रपद शुक्लषष्ठी के दिन सोलह स्वप्न देखे। साथ ही मुख में प्रवेश करता हुआ श्वेत हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में आया। पति से स्वप्नों का फल जानकर रानी पृथ्वीषेण बहुत हर्षित हुई। तदनन्तर ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन बाल तीर्थकर के रूप में पुनः उनका जन्म हुआ। इन्द्रों ने सुमेरुपर्वत के पर्वत पर उनका जन्माभिषेक महोत्सव मनाया। उनके चरणों की वंदना करते हुए उनका ‘सुपार्श्वनाथ’ नामकरण किया।

पद्मप्रभ जिनेन्द्र के बाद नौ हजार करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी। उनकी आयु बीस लाख पूर्व की थी। वे अपनी कान्ति से चन्द्रमा

को लज्जित करते थे। जब उनके कुमार काल में पाँच लाख पूर्व बीत गये तब उन्होंने किसी दानी की भांति धन का परहित में सदुपयोग करने के लिए साम्राज्य स्वीकार किया।

यद्यपि कुमार सुपार्श्व के पुण्यप्रताप से इन्द्र ने उनके मनोरंजन की सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था थी। सर्व नाट्यशास्त्रों में निपुण नट, नृत्यकला में निपुण नर्तक-नर्तकियाँ, संगीतकला के सफल कलाकार युवराज सुपार्श्वप्रभु के मनोरंजन के लिए सदैव उपस्थित रहते थे। तथापि युवराज सुपार्श्वनाथ तो तद्भव मोक्षगामी, जन्म से ही मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक सम्यग्दृष्टि पुरुष थे, वे इन संयोगों का स्वरूप भली-भांति जानते थे अतः वे इनमें अधिक रचे-पचे नहीं थे।

वे सर्वप्रिय तथा सर्वहितकारी वचन बोलते थे। उनका अतुल्यबल था। उनकी आयु अनपवर्त्य थी। उनके अशुभकर्म का उदय अत्यन्त मन्द और शुभकर्म का अनुभाग अत्यन्त उत्कृष्ट था। उनके चरणों के नखों में समस्त इन्द्रों के मुख कमल प्रतिबिम्बित हो रहे थे। इसप्रकार प्रकृष्टज्ञानी भाग्यवान सुपार्श्वनाथ अगाध सन्तोष सागर में गोते लगाते थे। जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ - इन आठ कषायों का ही केवल उदय रह जाता है - ऐसे सभी तीर्थकरों के अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद देशसंयम हो जाता है। इसलिए यद्यपि उनके भोगोपभोग की वस्तुओं की प्रचुरता थी तो भी वे अपनी आत्मा को अपने वश में रखते थे। उनकी वृत्ति नियमित थी तथा असंख्यात गुणी निर्जरा का कारण थी।

जब सुपार्श्वनाथ की आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व रह गई, तब किसी समय ऋतु का पर्वत न देखकर वे ऐसा चिन्तवन करने लगे कि “समस्त पदार्थ नश्वर हैं। उनके निर्मल सम्यग्ज्ञान रूप दर्पण में काललब्धि का कारण समस्त राज्यलक्ष्मी छाया की क्रीड़ा के समान नश्वर जान पड़ने लगी।”

वे आगे विचार करते हैं कि - “मैं अबतक यह नहीं जान सका कि यह राज्यलक्ष्मी इसप्रकार शीघ्र नष्ट हो जानेवाली तथा माया से भरी है।” ऐसा विचार कर पार्श्वप्रभु अपने गार्हस्थ जीवन को बारम्बार धिक्कारते हैं।

इसप्रकार तीर्थंकर पार्श्वप्रभु के मन में उत्कृष्ट वैराग्य प्रगट हुआ। जिससमय उन्हें ऐसी वैराग्यभावना जाग्रत हुई, उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना की तथा नानाप्रकार से वैराग्य की प्रशंसा करते हुए उनकी स्तुति की। तदनन्तर सुपार्श्वनाथ देवों द्वारा उठाई हुई मनोगति नामक पालकी पर आरूढ़ होकर वन में चले गये और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन शाम को एक हजार राजाओं के साथ संयमी हो गये। उसीसमय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।

दूसरे दिन सुपार्श्व मुनिराज आहारहेतु सोमखेट नामक नगर में गये। वहाँ उन्हें महेन्द्रदत्त राजा ने पड़गाह कर आहारदान दिया। सुपार्श्व मुनि छद्मस्थ अवस्था में ९ वर्ष तक मौन रहे। बाद में उसी वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुए।

देवों ने आकर उनका केवलज्ञान कल्याणक मनाया और भगवान सुपार्श्वनाथ के केवलज्ञान की पूजा की। उनके पंचानवै (९५) गणधर थे। दो हजार तीस पूर्वधारी, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस उपाध्याय उनके साथ रहते थे। नौ हजार अवधिज्ञानी मुनि, ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहभागी थे। पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक उनके उपासक थे।

नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे। आठ हजार छह सौ वादी उनकी वन्दना करते थे। इसप्रकार सब मिलाकर वे तीनलाख मुनियों के स्वामी थे। तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ और संख्यात तिर्यच उनकी वंदना करते थे।

इसप्रकार धर्म प्रेमी भव्यात्माओं को धर्माभूत पान कराते हुए समोशरण के साथ वे विहार करते थे।

समोशरण में एक जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठा - “उसने अपने प्रश्न को व्यक्त करते हुए कहा - प्रभो! लोग कहते हैं कि ‘दया धर्म का मूल है’ परन्तु जो दयाधर्म का मूल है उस दया का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

हाँ सुनो! वस्तुतः दया दो प्रकार की है - १. स्वदया और २. परदया। लोग परदया को ही दया जानते हैं, उनकी दृष्टि स्वदया की ओर जाती ही नहीं। परदया से पुण्य होता है और स्वदया से धर्म।

भूख से, प्यास से अथवा अन्य किसी भी दुःख से दुःखी जीवों को देखकर जो स्वयं दुःखी होकर उनके दुःखों को दूर करना चाहता है, उसके उस मिश्रित शुभभाव को सामान्यतया दया, करुणा या अनुकम्पा कहते हैं।

“सर्व प्राणियों के प्रति उपकारबुद्धि रखना, मैत्रीभाव रखना, द्वेषबुद्धि छोड़कर मध्यस्थभाव रखना भी दया है, अनुकम्पा है। किन्तु यह भी परदया ही है।

प्राणीमात्र के प्रति वैरभाव छोड़कर निष्कषायभाव हो जाना भी पर अनुकम्पा का ही श्रेष्ठरूप है।

“अनुकम्पा त्रिप्रकारा धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पाचेति।”

परदया तीनप्रकार की है – एक सकलसंयमी मुनिराजों के प्रति जो दयाभाव आता है, वह धर्मानुकम्पा है। दूसरी – देशव्रती संयतासंयत नैष्ठिक श्रावकों के प्रति उत्पन्न हुए अनुकम्पा के भावों को मिश्रानुकम्पा कहते हैं और तीसरी – सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण जीवों पर, प्राणीमात्र पर जो दयाभाव रखते हैं, उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

गूंगे-बहरे, लूले-लंगड़े, अंधे-कोड़ी, दीन-निर्धन, रोगी और घायल व्यक्तियों को देखकर, विधवा, अनाथ, असहाय, अबला और सताई हुई नारियों को देखकर, लुटे-पिटे, चीत्कार करते, रोते-बिलखते आर्तनाद करते, सुरक्षा की भीख मांगते मानवों को देखकर, कटते-पिटते, मरते-मारते, भूखे-प्यासे, तड़फते, भयाक्रान्त पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों को देखकर तथा सबल पशुओं द्वारा निर्बल पशुओं को जीवित निगलते देखकर, मछलियों, मुर्गे-मुर्गियों व भेड़-बकरियों को धीवरों व कसाइयों के हाथों निर्दयता पूर्ण व्यवहार करते देखकर जो हृदय में करुणा का स्रोत प्रवाहित होता है, दिल दहज जाता है, मन रो पड़ता है, हरतरह से उन दुःखी प्राणियों की मदद सहायता करने की तीव्र भावना होती है, उस भावना का तीसरी सर्वानुकम्पा कहते हैं।

जिनके हृदय में जीवों के प्रति दयाभाव नहीं है, उनके हृदयों में धर्म कैसे ठहर सकता है। यह दयाभाव

धर्मरूप वृक्ष का मूल है। इसका सर्वत्रतों में प्रथम स्थान है। यह सम्पदाओं का धाम है और गुणों का निधान है। अतएव विवेकीजनों को जीवों के प्रति दयाभाव अवश्य रखना चाहिए।”

परन्तु लगभग सभी व्यक्ति केवल इस सर्वानुकम्पा को ही दया समझते हैं और उनका ऐसा समझना अकारण भी नहीं है, क्योंकि लोक में तथा शास्त्रों में इसी की बाहुल्यता है।

धर्मानुकम्पा व मिश्रानुकम्पा को प्रायः सभी श्रद्धा व भक्ति की भावना ही समझते हैं, पर वह दया का ही एक प्रकार है। जब संयत (मुनि) या संयतासंयत (क्षुल्लक-ऐलक) आदि धर्मात्माओं को किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में देखकर हमारा हृदय दुःखी हो जाता है, तो वह शुभभाव तो स्पष्ट अनुकम्पा है ही, साथ ही उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति के शुभभावों को भी आगम में अनुकम्पा कहा गया है।

सर्वानुकम्पा से सामान्य पुण्यबंध होता है और मिश्रानुकम्पा व धर्मानुकम्पा सातिशय (विशेष) पुण्यबंध की कारण है। इसप्रकार ये तीनों ही प्रकार की दया परदया ही हैं, इनसे पुण्यबंध होता है।

पर ध्यान रहे, इनके सिवाय एक दया और है, जिसे स्वदया कहते हैं। स्वदया अर्थात् अपने दुःख देखकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर, इनसे भेदज्ञान करके कांटे की तरह चुभनेवाली माया-मिथ्या-निदान त्रिशल्यों का त्याग कर निष्कषाय हो जाना ‘स्वदया’ है।

इस सबमें स्व-अनुकम्पा ही सर्वश्रेष्ठ अनुकम्पा है, क्योंकि पर-अनुकम्पा तो अज्ञानदशा में भी अनंतबार की, पर स्व-अनुकम्पा हमने आज तक नहीं की, अन्यथा आज हम इस दुःखद स्थिति में नहीं होते, क्योंकि स्वदया निर्बन्ध दशा प्रगट करने की कारण है।

ध्यान रहे, यह स्व-अनुकम्पा मिथ्यात्व शल्य निकले बिना उत्पन्न ही नहीं होती; क्योंकि मिथ्यात्व से आत्मा में पर-पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट रूप मिथ्या कल्पनायें उत्पन्न होती हैं। मिथ्याकल्पनाओं से राग-द्वेषादि भावों से आत्मा कर्मों से बंधता है और कर्मबन्धन से संसार परिभ्रमण होता है।

इसप्रकार स्व-अनुकम्पा के अभाव में ही यह जीव अनादि से संसार-सागर में गोते खा रहा है। यदि

हमें वस्तुतः संसार के सुख दुःखरूप लगे हों, संसार में भटकते-भटकते थकान महसूस होने लगी हो तो पर-दया के साथ-साथ स्वदया भी करनी ही होगी।

यह स्वदया ही वस्तुतः धर्म का मूल है। यह स्वदया का भाव सबके हृदय में जागृत हो - ऐसी मंगल कामना है।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि जो स्वयं दुःखरूप हो वह दया पुण्यरूप तो होती है, पर उस दया से धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो सुखस्वरूप है, वीतरागभावरूप है जबकि दया भाव दुःखरूप है, रागरूप है। यद्यपि परदया करना भी प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है, पर उसे धर्म की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। 'दया धर्म का मूल है' इस उक्ति का भी यही अर्थ है कि दयाधर्म नहीं, धर्म का कारण है, धर्म के पहले दया भाव होता ही है।

भव्य श्रोता को जिज्ञासा जगी - प्रभो! दया का स्वरूप तो समझ में आ गया, अब कृपया भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या है, इसे भी स्पष्ट कर दीजिए?

दिव्यध्वनि में समाधान आया - हाँ, हाँ, सुनो ! जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता हो या बहुत स्थावर जीवों का घात होता हो तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन करने योग्य न हों या नशाकारक अथवा अस्वास्थ्यकर हों, वे सब अभक्ष्य हैं। इन अभक्ष्यों को पाँच भागों में बांटा जाता है -

१. त्रसघात, २. बहुघात, ३. अनुपसेव्य, ४. नशाकारक, ५. अनिष्ट।

(१) त्रसघात - जिन पदार्थों के खाने से त्रसजीवों का घात होता हो, उन्हें त्रसघात अभक्ष्य कहते हैं। पंच-उदुम्बर फलों में अनेक त्रस जीव पाये जाते हैं, अतः ये त्रसघात अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

(२) बहुघात - जिन पदार्थों के खाने से बहुत (अनंत) स्थावर जीवों का घात होता है, उन्हें बहुघात अभक्ष्य कहते हैं। समस्त कन्दमूलों में अनंत स्थावर निगोदिया जीव रहते हैं। इनके खाने से अनंत जीवों का घात होता है, अतः ये खाने योग्य नहीं हैं। जैसे - आलू, शकरकन्द, मूली आदि।

(३) अनुपसेव्य - जिनका सेवन उत्तम पुरुष बुरा समझें, वे लोकनिंद्य पदार्थ अनुपसेव्य हैं। जैसे - लार, मूत्र आदि पदार्थ। लोकनिंद्य होने से इनका सेवन तीव्र राग के बिना संभव नहीं है, अतः ये अभक्ष्य हैं।

(४) नशाकारक - जो वस्तुएँ नशा उत्पन्न करती हैं, मादक होती हैं; उन्हें नशाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे शराब, अफीम, भंग, गांजा, तम्बाखू आदि।

(५) अनिष्ट - जो वस्तुएँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों, वे भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि हानिकर वस्तुओं का उपभोग भी तीव्र राग के बिना संभव नहीं है। अतः वे पदार्थ भी अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

जिनागम में २२ अभक्ष्य पदार्थों को विशेष नामोल्लेखपूर्वक त्यागने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि उनके सेवन से अनंत त्रसजीवों की हिंसा है। वे इसप्रकार हैं -

ओला घोरबड़ा निशिभोजन, बहुबीजा बेंगन संधान।
बड़ पीपर ऊमर कटूमर, पाकर फल जो होय अजान ॥
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अतितुच्छ तुषार चलितरस, यो जिनमत बाईस बखान ॥

उपर्युक्त २२ अभक्ष्यों में ओला (बर्फ-अगालित जल), घोरबड़ा (दहीबड़ा-द्विदल), निशिभोजन, बड़, पीपर, ऊमर, पाकर और कटूमर (पाँचों उदुम्बर फल), आमिष (मांस), मधु (शहद), मदिरापान - इन ११ का कथन तो पीछे मूलगुणों में कर ही आये हैं, ये तो अभक्ष्य हैं ही। इनके अतिरिक्त बहुबीजा, बेगन, संधान (अचार-मुरब्बा), मक्खन, अनजान फल (जिसे जानते न हों) कंद (आलू, अरबी, प्याज, लहसुन), मूल (गाजर, मूली), मिट्टी, विष, अमर्यादित मक्खन तुच्छफल (जिसका बढ़ना चालू है, ऐसे अपरिपक्व फल-सप्रतिष्ठित फल) तुषार, चलितरस (सड़े-गले पदार्थ, जिनका स्वाद बिगड़ने लगा हो) इनमें भी अनंत त्रसजीव होते हैं। अतः ये भी अभक्ष्य हैं, त्याज्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं। अहिंसा प्रेमियों को अपने परिणामविशुद्धि और पाप से बचने के लिए यथाशक्य इन सबका त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

पुनः प्रश्न हुआ - प्रभो ! भक्ष्य-अभक्ष्य भी समझ गया, मात्र एक प्रश्न और है - द्विदल किसे कहते हैं? उनके खाने में क्या दोष हैं ?

उत्तर - सुनो ! चना, उड़द, मूंग, मसूर, अरहर आदि सभी प्रकार के दो दल वाले अनाजों को दही, छाछ (मट्ठा) में मिलाकर बनाये गये कड़ी, रायता, दहीबड़ा आदि को खाना द्विदल अभक्ष्य है।

यद्यपि उपर्युक्त दो दल वाले सभी अनाज भक्ष्य हैं, खाने योग्य हैं और मर्यादित दही व छाछ भी भक्ष्य है, तथापि इनको मिलाकर खाने से यह अभक्ष्य हो जाते हैं, क्योंकि दालों और दही छांछ के मिश्रण से बने पदार्थों का लार से संयोग होने पर तत्काल त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अतः इनके खाने में मांस का आंशिक दोष (अतिचार) है।

यह बात युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध होती है। परन्तु उपर्युक्त खाद्य पदार्थों के बनाने की विधि को लेकर दो पक्ष प्रचलित हैं, आगम में भी दोनों तरह के उल्लेख मिल जायेंगे, अतः यह अपने स्व-विवेक पर निर्भर करता है कि हम क्या करें ?

पहला पक्ष पण्डित आशाधरजी के सागारधर्मांमृत में उद्धृत योगशास्त्र के निम्नांकित श्लोक को आधार बनाकर छांछ व दही को उष्ण करके दो दलवाले अनाज मिलाकर बनाई गई कढ़ी आदि खाने में दोष नहीं मानेंगे। वे कहेंगे -

“आम गोरस सम्पृक्त, द्विदलादिषु जन्तवः।

दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मस्तस्मातानिविर्वर्जयेत् ॥

वे आम का अर्थ कच्चे गोरस से सम्पृक्त (मिले हुए) अन्न को खाना ही द्विदल अभक्ष्य मानेंगे। जो भी हो, पर इससे इतना तो सिद्ध हो ही जायेगा कि कच्चे दही छांछ में दो दलवाले अन्न के मिश्रण से त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न केवल कच्चे या उष्ण किए हुए दही छाँछ का रहा, सो उसके लिए विवरणाचार का निम्नांकित आगम प्रमाण दिया जायेगा, जो इस अभक्ष्य भक्षण के दोष से बचने के लिए पर्याप्त होगा, मूल श्लोक इसप्रकार लिखा होगा -

आमेन पक्केन च गो रसेन, पुद्गलादि युक्त द्विदलं तु कायं ।

जिहादितीस्यात्त्रसजीवराशि, सम्मूर्च्छिनमानश्यतिनामचित्रं ॥६॥

अर्थात् कच्चे व पके हुए दोनों प्रकार के गोरस में दोदल वाले अनाज के मिश्रण में मुँह की लार मिलते ही त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः इनका खाना सर्वथा वर्ज्य है।

शंका - अब यहाँ विचारणीय बात केवल यह है कि जब दोनों तरह के प्रमाण मिलेंगे तो दही व छाँछ को गर्म करके खाने में क्या हानि है ?

समाधान - सबसे बड़ी हानि यह है कि प्रश्न में द्विदल खाने के प्रति अनुराग झलकता है, अन्यथा मैं पूछता हूँ कि कच्चा व पके दोनों ही प्रकार के दही छाँछ से बने भोजन के न खाने से हानि क्या है ? क्या उसके बिना जीवन संभव नहीं है ? जिसमें जरा भी शंका हो तो उसमें हमारा पक्ष निर्विवाद मुद्दे की ओर ढलना चाहिए, न कि विवादस्थ मुद्दे की ओर। अतः हमारा तो दृढ़ मत है कि त्रसघात से बचने के लिए कच्चे-पके दोनों प्रकार के दही-छाँछ से बने द्विदल पदार्थ त्यागने योग्य है।

प्रश्न - द्विदल अभक्ष्य के संदर्भ में केवल दूध, दही व छाँछ को ही गोरस क्यों माना, घी भी तो गोरस है, घी को क्यों छोड़ दिया ?

उत्तर - यहाँ इस संदर्भ में 'गोरस' योग रूढ शब्द है इसलिए गोरस शब्द का अर्थ दूध, दही व छाँछ ही है। 'गोरसेनक्षीरेण दध्ना त्क्रेण च' - ऐसा सागार धर्मा मृत की टीका में स्पष्ट उल्लेख किया होगा। अतः घी मिश्रित द्विदल अन्न खाने में दोष नहीं है।

जैनेतर ग्रंथों में भी लिखा मिलेगा कि -

गोरस माम मध्ये तु, मुद्गादि तथैव च ।
भक्ष्यमाणं कृतं नूनं, मांस तुल्यं युधिष्ठिरः ॥

हे युधिष्ठिर ! गोरस के साथ जिन पदार्थों की दो दालें होती हैं - उनके सेवन से मांस भक्षण के समान पाप लगता है ।

इसप्रकार तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ की दिव्यदेशना का लाभ भव्यजीवों को भरपूर मिला ।

अन्त में जब आयु का एकमाह शेष रह गया तब विहार बंद करके वे सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे । वहाँ एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया ।

इसतरह फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन प्रातः सूर्योदय के समय शेष अघातिया कर्मों का क्षय होते ही सिद्धपद प्राप्त कर लोकाग्रमें विराजमान हो गये ।

उनके मुक्त होते ही कल्पवासी देवों ने उनका निर्वाण कल्याणक का महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को चले गये । भगवान पार्श्वप्रभु के तीन भव पूर्व को आचार्य गुणभद्र पुनः स्मरण करते हुए कहते हैं भगवान सुपार्श्वनाथ तीन भव पूर्व क्षेमपुर नगर के स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुए । फिर उसी भव में राज्य का मोह त्यागकर तपश्चरण करके तथा तीर्थंकर प्रकृति बांधकर नव ग्रेवेयकों में मध्य के ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए । तदनन्तर जो बनारस नगरी में जन्म से ही तीन के धारक इक्ष्वाकु वंश के तिलक महाराजा सुपार्श्व से तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ बने ।

वे सुपार्श्व प्रभु हम सबके मुक्तिमार्ग में अवलम्बन बनें - यह मंगलभावना है । ●

चन्द्र जिनका चिह्न है, वे चन्द्रप्रभ परमात्मा ।
जो पूजता उनके चरण, वह आत्मा परमात्मा ॥
जो चलें उनके चरण-पथ, वे भव्य अन्तरात्मा ।
जो जानता उनको नहीं, वह व्यक्ति है बहिरात्मा ॥

जो स्वयंशुद्ध है और जिनकी दिव्यध्वनि समस्त समोशरण में बैठे भव्य जीवों की परिणति को विशुद्ध बनाने में साक्षात् निमित्तकारण है । वे चन्द्रमा की प्रभा के समान चन्द्रप्रभस्वामी हम सबकी आत्मशुद्धि में भी निमित्त बनें ।

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि - “हे भव्य ! जिनका स्मरणमात्र पापों के क्षय का कारण है, उनके सम्पूर्ण चरित्र के सुनने से पापाचार नष्ट क्यों नहीं होंगे ? होंगे ही । अतः सर्वप्रथम चन्द्रप्रभ भगवान के सात भवों की चर्चा करते हैं ।

पुराणों में चर्चित शलाका पुरुषों के चरित्र भी सम्यग्ज्ञान के कारण हैं; अतः आत्महिताभिलाषियों को शलाका पुरुषों के चरित्र भी पढ़ना/सुनना आवश्यक है । अर्हन्त भगवान ने चार अनुयोगों के द्वारा जो चार प्रकार के सूक्त (जिनवाणी की कथनशैली) बतलाये हैं, उनमें प्रथमानुयोग (पुराण) प्रथम सूक्त है ।

धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष का उपदेश देनेवाले भगवान ऋषभदेव आदि के पुराणों को जो जीभ (रसना) कहती है, जो कान सुनते हैं, जो मन सोचता है; वही जीभ है, वही कान है और वही मन है; इनके सुने बिना तो ये सब जड़-इन्द्रियाँ केवल मांस के लोथड़े (पिण्ड) हैं, अन्य कुछ भी नहीं ।

जब वे अपने छठवें पूर्वभव में श्रीवर्मा थे, तब उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त हो गया था ।

चन्द्रप्रभ भगवान के पूर्वभवों की चर्चा करते हुए कहा है कि - इस मध्यलोक में एक पुष्कर द्वीप है। उसके बीच में मानुषोत्तर पर्वत है। यह पर्वत चारों ओर से वलय (चूड़ी) के आकार गोल है तथा मनुष्यों के आवागमन का सीमा क्षेत्र है। उसके भीतरी भाग में दो मेरुपर्वत हैं। एक पूर्व मेरु, दूसरा पश्चिम मेरु। पूर्व मेरु के पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के तट पर एक सुगन्धि नाम का देश है। जो कि किला, वन, खाई, खाने और बिना बोये होनेवाले धान्य आदि से सुशोभित है।

उस देश के सभी मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों में विभक्त थे। जैसे तपस्वी सरल परिणामी होते हैं वैसे ही वहाँ के किसान भी सरल परिणामी, भोले-भाले और धार्मिक थे। वे परिश्रमी थे। खेती की रक्षा के लिए रात्रि जागरण करते थे। जिसप्रकार तपस्वी क्षुधा-तृषा परिषह सहते थे, उसीप्रकार किसान भी भूखे-प्यासे रहकर परिश्रम करते थे।

जिसप्रकार ललाट के बीच में तिलक होता है, उसीप्रकार अनेक शुभ स्थानों से सहित उस देश के मध्य में श्रीपुर नाम का नगर था। उस श्रीपुर में बड़े-बड़े ऊँचे भवन थे। वहाँ के रहनेवाले लोग सज्जन, सम्यग्दृष्टि, और व्रती-संयमी थे। उस नगर के विवेकीजन उत्सव के समय मंगल के लिए और शोक के समय शोक दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान की पूजा किया करते थे।

इन्द्र के समान कान्ति का धारक श्रीषेण नाम का राजा उस श्रीपुर नगर का स्वामी था। उसकी अत्यन्त विनयशील श्रीकान्ता नाम की स्त्री थी। वह सर्वगुण सम्पन्न थी। वह स्त्री अन्य स्त्रियों के लिए आदर्श थी। वह दम्पत्ति - देव दम्पत्ति के समान पापरहित और उत्कृष्ट सुख प्राप्त करनेवाला था; परन्तु संसार में अखण्ड पुण्य किसी के नहीं होता। वे राजा श्रीषेण और रानी श्रीकान्ता देवतुल्य सुख भोगते हुए भी बहुत काल तक सन्तान सुख से वंचित रहे; एतदर्थ उन्होंने औषधि उपचार के उपाय भी किए; परन्तु सफल नहीं हुए। अन्ततोगत्वा उन्होंने पुत्र अभिलाषा से मुख मोड़कर अपने उपयोग को धर्म कार्यों में लगा लिया। उन्होंने रत्नों की जिन प्रतिमाएँ बनवाईं, उन्हें अष्ट प्रातिहार्य और अष्ट मंगल द्रव्यों से सुशोभित किया। उनकी

प्रतिष्ठा करवाई, प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान की स्तुति-पूजा आदि करने लगे, अष्टान्हिका पर्व में लोक-परलोक संबंधी अभ्युदय को देनेवाली अष्टान्हिका पूजा की।

संयोग की बात है कि जब उन्होंने निर्वाँछक होकर स्वयं को धर्म कार्यों में लगा लिया तो एक दिन पुण्ययोग से रानी ने हाथी, सिंह, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक होते हुए स्वप्न देखा। उसीसमय उसके गर्भ धारण हुआ तथा गर्भ के सभी लक्षण प्रगट होने लगे। 'स्त्रियों का लज्जा ही प्रशंसनीय आभूषण है' यह सिद्ध करने के लिए ही मानों रानी की समस्त चेष्टाएँ लज्जा से सहित हो गईं। इसप्रकार उसके गर्भ के चिह्न निकटवर्ती मनुष्यों के लिए कुछ कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे।

एक दिन रानी की प्रधानदासी ने हर्ष से राजा के पास जाकर और प्रणाम कर रानी के गर्भवती होने का समाचार सुनाया। रानी के गर्भ का समाचार सुनकर राजा का हृदय कमल वत प्रफुल्लित हो गया। जो वंश वृक्ष के वृद्धिगत करने के लिए चन्द्रोदय के समान है - ऐसे पुत्र की संभावना के समाचारों से राजा प्रसन्नचित्त हो गया। राजा ने उन दासियों के लिए इच्छित पुरस्कार दिया और आनन्दित होता हुआ रानी के महल में गया। वहाँ उसने देखा मानो उसकी रानी रत्नगर्भा पृथ्वी ही हो।

राजा को देखकर रानी खड़ी होने की चेष्टा करने लगी; परन्तु राजा ने कहा - "हे देवी! बैठी रहो! राजा ने उच्चासन पर बैठकर रानी से प्रेमवार्ता की तथा संतानसुख के लिए बधाई दी; फिर धन्यवाद देते हुए रानी के महल से राजभवन चला गया।

तदनन्तर कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर उनके पुण्यकर्म के उदय से सूर्य को उत्पन्न करनेवाली पूर्व दिशा की भांति रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस भाग्यवान पुत्र का नाम बन्धुजनों ने श्रीवर्मा रखा। जिसप्रकार दरिद्र को कुबेर का खजाना मिलने से संतोष होता है, उसीप्रकार पुत्र की प्राप्ति से श्रीषेण राजा और श्रीकान्ता रानी संतुष्ट हुए। पुत्र के तेज के समक्ष सूर्य का तेज भी फीका पड़ता था, चंद्र के समान उसकी कान्ति थी। राजपुत्र श्रीवर्मा द्वितीया के चन्द्र के समान वृद्धिगत होने लगे। यौवन अवस्था को प्राप्त होने पर राजा श्रीषेण ने पुत्र श्रीवर्मा को राज्य सौंप दिया और स्वयं आत्मकल्याण में तत्पर हो गये।

एक दिन वन में श्री पद्म नाम के जिनराज अपनी इच्छा से पधारे। राजा श्रीवर्मा ने यह समाचार सुनकर उस दिशा में सात कदम चलकर नमस्कार किया और बड़ी विनय के साथ उसी समय जिनराज के पास जाकर तीन प्रदक्षिणायें दीं, नमस्कार किया और यथास्थान आसन ग्रहण किया। राजा ने जिनराज से धर्म का स्वरूप पूछा और जिनराज के कहे अनुसार वस्तुतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया। वस्तुस्वरूप समझते ही और संसार की असारता का अनुभव करते ही राजा ने भोगों की तृष्णा त्याग दी और धर्माराधना में अपना मन लगाया। फलस्वरूप उन्होंने सम्यग्दर्शन रूपी मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी पर पग रखा।

कालान्तर में श्रीवर्मा आषाढ़ मास की पूर्णिमा को जिनेन्द्रदेव की पूजा करके अपने आप्त जनों के साथ महल की छत पर बैठा था। वहाँ उल्कापात देखकर उसे वैराग्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातः अपने पुत्र को राज्यसत्ता सौंपकर श्री पद्म जिनेन्द्र के पास उसने दीक्षा धारण कर ली और श्रीप्रभ नामक पर्वत पर विधिपूर्वक संन्यास मरण किया। फलस्वरूप प्रथम स्वर्ग में दो सागर की आयुवाला श्रीधर नामक देव हुआ। वह देव अणिमा-महिमा आदि आठ गुणों से युक्त था। सात हाथ ऊँचा उसका शरीर था, पीतलेश्या थी, एकमाह में श्वास लेता था। दो हजार वर्ष में अमृतमय मानसिक आहार लेता था। काय प्रविचार से संतुष्ट रहता था। इसतरह अपने पुण्यकर्म के परिपाक से प्राप्त हुए भोगों का उपभोग करता हुआ वह सुख से रहता था।

धातकीखण्ड की पूर्व दिशा में जो ईष्वाकार पर्वत है, उसके दक्षिण की ओर भरतक्षेत्र में एक अलका नाम का सम्पन्न देश है। उसमें अयोध्या नाम का नगर है। उस नगरी में अजितंजय राजा और अजितसेना रानी थी। एक रात्रि में उसने आठ शुभ स्वप्न देखे। प्रातःकाल उठकर उसने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा - राजा ने फल बताते हुए कहा - “हे देवी! स्वप्न में हाथी देखने का फल बलवान पुत्र उत्पन्न होना है, बैल देखने का फल वह पुत्र गंभीर होगा, सिंह देखने का फल पुत्र अत्यन्त बलवान होगा। चन्द्रमा देखने का फल वह पुत्र सबको संतुष्ट करेगा। सूर्य देखने का फल वह पुत्र तेजस्वी और प्रतापवान होगा,

शंख देखने का फल वह चक्रवर्ती होगा। सरोवर देखने का फल वह बत्तीस लक्षणों वाला होगा। कलश का फल निधियों का स्वामी होगा।”

स्वप्नों का फल जानकर रानी अति प्रसन्न हुई, कुछ माह बाद श्रीधर देव के जीव को रानी ने पुत्र के रूप में जन्म दिया, पुत्र का नाम अजितसेन रखा।

दूसरे दिन स्वयंप्रभ नामक तीर्थकर अशोकवन में आये। राजा ने सपरिवार उनकी पूजा-स्तुति की, धर्मोपदेश सुना और सज्जनों के छोड़ने योग्य राज्य अजितसेन पुत्र को देकर संयम धारण कर लिया तथा स्वयं ने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

अनुरागवश अजितसेन राज्यलक्ष्मी का स्वामी तो बना ही, युवावस्था में ही प्रौढ़ों की भांति भौतिक सुखों में लीन हो गया। पूर्व पुण्योदय से उसे चक्रवर्ती का वैभव भी प्राप्त हो गया। चक्ररत्न प्रगट होते ही दिग्विजय करना एकदम आसान हो गया। इस चक्रवर्ती के राज्यकाल में कोई दुःखी नहीं था।

यद्यपि अजितसेन छहखण्ड का अधिपति हो गया था; परन्तु उसे उस राज-वैभव में आसक्ति नहीं थी। यथार्थ में पुण्य का उदय तो वही सार्थक है जो नवीन पुण्यकर्म का बन्ध करनेवाला है। उसके राज्य की सुव्यवस्था और सुशासन से सर्व प्रजा सुखी थी। इसकारण प्रजा उसे बहुत चाहती थी।

अपने पराक्रम से जिसने समस्त दिशाओं को प्रभावित कर दिया है - वह अजितसेन इन्द्रादि से भी महान था। उसका धन दान देने में, बुद्धि धार्मिक कार्यों में और शूरवीरता प्राणियों की रक्षा करने में ही लगती थी। वह सदा पूर्ण स्वतंत्रता के साथ शुभ कार्यों में संलग्न रहता था, इसकारण पुण्य कभी क्षीण नहीं होता था।

इसप्रकार वह तृष्णा रहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ सुखी रहता था। उसके वचनों में सत्यता थी, चित्त में दया थी, धार्मिक कार्यों में निर्मलता थी। प्रजा की अपने गुणों के समान रक्षा करता था, फिर वह राजर्षि क्यों न हो? होगा ही।

सज्जनता उसका स्वाभाविक गुण था, अन्यथा वह प्राण हरण करनेवाले शत्रुओं पर भी क्रोध क्यों नहीं करता ? शत्रुओं पर तो क्रोध सभी को आ जाता है, पर वह सज्जनोत्तम था, इसकारण उसका कोई शत्रु ही नहीं था। उसके राज्य में कोई अत्यावश्यक धन बर्बाद नहीं करता था और न कोई ऐसा अधिक कृपण ही था कि जरूरत पड़ने पर भी धन खर्च न करे।

इसप्रकार वह राजा अपनी प्रजा का पालन करनेवाला होने से प्रजा के लिए अत्यन्त प्रिय था। उसका ऐसा उत्कृष्ट चरित्र पाठकों के लिए सदा अनुकरणीय है। यदि हम राजा अजितसेन के गुणों को थोड़ा भी अपना सकें तो हमारा लौकिक और पारलौकिक जीवन धन्य हो सकता है।

जब वह राजा यौवन को प्राप्त हुआ, तब उसके पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से चक्रवर्ती पद प्राप्त होने से चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हो गई थीं तथा भजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधियाँ, रत्न, नगर और नाट्य इन दश भोगों का वह अनुभव करता था।

श्रद्धा आदि गुणों से सम्पन्न उस राजा ने किसी समय एक माह का उपवास करनेवाले अरिन्दनामक साधु को आहार दान देकर ऐसे सातिशय पुण्य का बन्ध किया। जिससे उसके घर में रत्नवृष्टि आदि आश्चर्य हुए। दूसरे दिन वह राजा अजितसेन जिनेन्द्र की वन्दना करने के लिए मनोहर उद्यान में गया। वहाँ उसने जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा धर्मश्रवण किया। उसके मन में अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा हुई तो दिव्यध्वनि द्वारा उसकी जिज्ञासा पूर्ण तो हुई ही, साथ ही संसार को असार जानकर उसे वैराग्य भी हो गया।

वह जितशत्रु नाम के अपने पुत्र को राज्य देकर मोह राजा को जीतने के लिए तत्पर हो गया तथा बहुत से राजाओं के साथ उसने तप धारण कर लिया। निरतिचार तप को करता हुआ आयु के अन्त में वह समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ। वहाँ उसकी २२ सागर की आयु थी। तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह ग्यारह माह में एकबार श्वांस लेता था। बाईस हजार वर्ष के बाद एकबार अमृतमयी मानसिक आहार लेता था। उसके देशावधि ज्ञान रूप नेत्र छठवीं पृथ्वी तक के पदार्थों को देखते थे।

इसप्रकार निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक स्वर्ग के सुख भोगकर आयु के अन्त में देह त्यागकर धातकीखण्ड द्वीप में सीता नदी तट पर मंगलावती देश के कनकप्रभा राजा के घर कनकमाला रानी के उदर से शुभ स्वप्नों द्वारा अपने उत्पन्न होने की सूचना देता हुआ 'पद्मनाथ' नाम का पुत्र हुआ। वह बालकोचित सेवाविशेष के द्वारा निरतिचार वृद्धिगत होता गया। समय पर उसे मूलगुण और सामान्य श्रावक के व्रतादि देकर विद्यागृह में प्रविष्ट कराया। कुलीन विद्यागुरु और अन्य विद्यार्थियों के साथ रहकर राजकुमार समस्त विद्याओं को सीखने में तत्पर रहता था। उसमें विद्यार्थी के सभी लक्षण थे, जो इसप्रकार हैं -

“काकचेष्टा वकोध्यानं, श्वान निद्रातथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी, विद्यार्थी पंचलक्षणम्॥”

विद्याध्ययन में सफलता पाने हेतु पाँच लक्षण बताये हैं - कौए के समान सक्रिय चेष्टा, बगुले की तरह ध्यान में एकाग्रता, कुत्ते की भांति कच्ची नींद, भूख से कम खाना और गृह अर्थात् माता-पिता से मोह-ममत्व का त्याग होना जरूरी है, अन्यथा विद्यार्थी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

वह आलस्य त्याग कर अपने सब काम स्वयं करता था। वह यहाँ तक स्वावलम्बी था कि दासी-दासों द्वारा करानेवाले काम भी स्वयं करता था। वह जितेन्द्रिय भी था। वह बुद्धिमान बालक विनय की वृद्धि के लिए सदा वृद्धजनों की संगति कर उनसे मंगल आशीर्वाद प्राप्त करता था। शास्त्रों से सीखकर विनय करना तो कृत्रिम विनय है; परन्तु उसमें स्वाभाविक विनय गुण था, वह जानता था कि विनय विद्यार्थी का विशेष गुण है। इस गुण से अन्य गुणों का भी विकास होता है। कहा भी है -

“विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रतां।
पात्रत्वाद् धनयाति धनात्धर्मं ततो सुखम्॥”

जब बालक युवा हो गया तो उसके विवाह हुए। दूसरी ओर पुत्र-पौत्रादि से घिरे रहनेवाले राजा कनकप्रभ सुख से राज्य शासन करते हुए प्रजा का पालन करते थे।

प्रसन्नता की बात तो यह है कि ऐसी सुख-समृद्धि में रहते हुए भी भली होनहारवाले व्यक्ति समय से चेत जाते हैं। राजा कनकप्रभ ने भी एक दिन मनोहर नामक वन में पधारे हुए श्रीधर नामक जिनराज से धर्म का स्वरूप सुनकर/समझकर अपने राज्य का भार पुत्र को सौंपकर संयम धारण कर लिया और क्रम-क्रम से निर्वाण प्राप्त कर लिया।

यहाँ राजा कनकप्रभ के पुत्र पद्मनाथ ने भी उन्हीं जिनराज के समीप सामान्य श्रावक के व्रत लिए तथा मंत्रियों के साथ स्वराष्ट्र और परराष्ट्र की नीतियों का विचार करते हुए सुख-संतोष से रहने लगे। अत्यन्त सरल स्वभावी पत्नियों की विनय, हंसमुख प्रकृति, कोमलस्पर्श, विनोदवार्ता और चंचल चितवनों के द्वारा वह राजा पद्मनाभ परम प्रसन्न रहता था। रानियों का आकर्षक व्यक्तित्व और मनमोहक स्वभाव आदि जो राजा पद्मनाभ के मन को मोहित करने में कारण थे, वही सब अन्तर से कषायों की मन्दता, भेदविज्ञान और संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होते ही उसके वैराग्य के कारण बन गये।

उसे विचार आया कि “ये सब भोगोपभोग पूर्वभव में किए पुण्य के फल हैं, पुण्य क्षीण होते ही ये सब देखते ही देखते कब/कहाँ/विलीन हो जायेंगे, पता भी नहीं चलेगा और चौरासी लाख योनियों में भटकते-फिरेंगे।” इसप्रकार तत्त्वज्ञान से अनजान मनुष्यों को यह सब बताते हुए राजा पद्मनाभ भी श्रीधर मुनि के समीप जाकर दीक्षित होने के लिए तत्पर हो गया।

उसने विचार किया कि जबतक औदयिकभाव रहता है, तबतक आत्मा को संसार भ्रमण करना पड़ता है और औदयिकभाव तबतक रहते हैं जबकि कर्म रहते हैं और कर्म तब तक रहते हैं कि जबतक उनके कारण मिथ्यात्व आदि भाव रहते हैं; अतः मिथ्यात्वादि ही संसार के मूल हैं। मिथ्यात्व को स्थूल नष्ट किए बिना अन्य कारणों का अभाव हो ही नहीं सकता। यही सब पापों का बाप है।

पद्मनाभ विचार करते-करते यह सब जोर-जोर से कहने लगे तो उनके समीपस्थ एक सज्जन ने पूछा – आप ये क्या कह रहे हैं ? कौन, किसका बाप है ? साथ ही आप धर्म के मर्म की बात भी कह रहे थे। इन दो बातों को थोड़ा स्पष्ट करके बतायें –

सज्जन श्रोता ने कहा मैं कुछ समझा नहीं क्या पापों में भी बाप-बेटा का रिश्ता होता है और सम्यक्त्व क्या चीज है ? थोड़ा खुलासा करके समझाइए न ?

हाँ, सुनो! जैनदर्शन में मिथ्यात्व को सर्वाधिक अहितकारी और सम्यक्त्व को परम हितकारी बताया है। इस संदर्भ में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है।

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्व, समं नान्युत्तनुभृताम् ॥३४॥

प्राणियों को तीनों लोकों व तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याणकारी वस्तु नहीं है।

इस जीव का तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कोई आत्मबन्धु नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई दुःखदायक शत्रु नहीं है; इसलिए मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को अंगीकार करो। यही आत्मा को कुमार्ग से बचानेवाला है।

एक मिथ्यात्वभाव से ही सब पापों का जन्म होता है; अतः इसे सब पापों का बाप कहा जाता है और सम्यक्त्व ही धर्म का मर्म है, धर्म का मूल है, इसकारण इसे मोक्ष का मूल कहा जाता है।

मिथ्यात्व का अर्थ है - आत्मा, साततत्त्व और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के संबंध में उल्टी समझ, विपरीत मान्यता और सम्यक्त्व का अर्थ है इनके संबंध में सच्ची समझ, यथार्थ मान्यता।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का शुभारंभ ही नहीं होता।

सम्यग्दर्शन की महिमा में यहाँ तक लिखा है “इस संसार में एकमात्र सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान व चारित्र का बीज है, इष्टपदार्थ की सिद्धि है, परम मनोरथ है, अतीन्द्रिय सुख है और यही कल्याणों की परम्परा है - ऐसे सम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन करते हुए कहा गया है कि शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा जीवादि सातों तत्त्वों की तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपो भृताम् ।

त्रिमूढापोढमष्टांगम्, सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

आत्मश्रद्धा के साथ सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। वह सम्यग्दर्शन तीन मूढ़ता एवं आठों मदों से रहित और आठों अंगों सहित होता है।

देव-शास्त्र-गुरु व सात तत्त्वों के संबंध में उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। विपरीत अभिप्राय सहित अतत्त्वश्रद्धान का नाम ही मिथ्यात्व है। जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, वैसा मानना तथा जैसा है वैसा नहीं मानना - ऐसे विपरीत अभिप्राय सहित अन्यथा प्रतीति ही मिथ्यादर्शन है।

इस मिथ्यात्व के कारण जीवों को समीचीन (सच्चा) धर्म अच्छा नहीं लगता। जिसतरह पित्तज्वरवालों को मीठा दूध अच्छा नहीं लगता, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियों को वीतरागधर्म की बात अच्छी नहीं लगती, शुद्धात्मा की बात नहीं सुहाती; अतएव मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश देते हुए मार्मिक शब्दों में कहा गया है कि -

वरं सर्पमुखं वासो, वरं च विषभक्षणम् ।

अचलाग्नि जले पातो, मिथ्यात्वे च जीवितम् ॥

मिथ्यात्व सहित जीवन जीने से तो सर्प के मुख में प्रवेश करना अच्छा है, विषभक्षण कर लेना अच्छा है, दावाग्नि में भस्म हो जाना या पानी में डूबकर मर जाना अच्छा है; पर मिथ्यात्व सहित जीवन जीना किसी भी हालत में अच्छा नहीं है; क्योंकि इनके कारण तो एक पर्याय ही नष्ट होती है, पर मिथ्यात्व के कारण तो भव-भव में दुःख भोगना पड़ता है।

भगवान की दिव्यध्वनि में आया मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि इसी के कारण सब पापों की परम्परा चलती है। इसी विपरीत मान्यता या उल्टी समझ के कारण पर-पदार्थों में कर्तृत्व एवं इष्ट-अनिष्ट की मिथ्याकल्पना होती है, उसमें राग-द्वेष का जन्म होता है, राग-द्वेष से कर्मबन्ध होकर संसार में जन्म-मरण का दुःख होता है।

जिनधर्म में तो यह आमनाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़ाकर फिर छोटा पाप छोड़ाया है, इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप जानकर पहले छोड़ाया है।

आगम में इस मिथ्यात्व के विषय में क्या-क्या नहीं कहा, जितने कठोर शब्द हो सकते थे, लगभग सबका प्रयोग करके इसे त्यागने की प्रेरणा दी है, जो मूलतः इसप्रकार है -

सकल दुरितं मूलं, पाप वृक्षस्य बीजं ।
नरक गृह प्रवेशं, स्वर्ग मोक्षैक शत्रुम् ॥
त्रिभुवन पति निघं, मूढ लोकैर्गृहीतुम् ।
त्यजः सकलमसारं, त्वं च मिथ्यात्व बीजम् ॥

मिथ्यात्व के समान पाप और सम्यग्दर्शन के समान धर्म नहीं है; अतः सामान्य श्रावकों को मिथ्यात्व के कारणभूत मिथ्या देव-गुरु-धर्म तथा इनके सेवकों से भी सदा दूर ही रहना चाहिए, ताकि उसके दुष्प्रभाव से बचा जा सके।

जहाँ असंयम रहता है, वहाँ उसके साथ प्रमाद, कषाय और योग भी रहते हैं, जहाँ प्रमाद रहता है वहाँ उसके साथ कषाय और योग - ये दो कारण रहते हैं तथा जहाँ कषाय का भी अभाव हो जाता है वहाँ मात्र योग ही बंध का कारण बचता है। मात्र योग से अनन्त संसार का बन्ध नहीं होता। समय पाकर सभी कर्म निर्जरित हो जाते हैं। कर्मों के नाश होते ही जीव के संसार का अभाव हो जाता है।

जो पापरूप हैं और जन्म-मरण ही जिसका लक्षण है - ऐसे संसार के कारण नष्ट हो जाने पर आत्मा के क्षायिकभाव ही शेष रह जाते हैं।

इसप्रकार अंतरंग में हिताहित का यथार्थ स्वरूप जानकर पद्मनाभ ने बाह्य सम्पदाओं की प्रभुता अपने पुत्र सुवर्णनाभ को सौंप दी और बहुत राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। अब वह मोक्ष का कारणभूत दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप - इन चार आराधनाओं का आचरण करने लगा। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करने लगा।

इसतरह ग्यारह अंग का पारगामी बनकर, उसने तीर्थकर नामकर्म की सातिशय पुण्यशाली प्रकृति का बंध किया तथा सिंह निष्क्रीडित आदि कठिन तपस्या करके आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर सर्वार्थसिद्धि के वैजयन्त विमान में तैंतीस सागर की आयु का धारक अहमिन्द्र हुआ।

तत्पश्चात् जब उस अहमिन्द्र की आयु छह माह शेष बची, तब इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्रीय आश्चर्यजनक वैभव के धारक राजा महासेन एवं रानी लक्ष्मणा के घर रत्नों की वर्षा आरंभ हो गई, अहमिन्द्र के अंतिम ६ माह पूर्ण होने पर वह लक्ष्मणा के गर्भ से तीर्थकर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

तीर्थकर के जीव के गर्भ में आने के ६ माह पूर्व से जन्म तक पन्द्रह माह तक जो रत्नों की वर्षा होती है, देवियाँ माता की सेवा करती हैं, माता सोलह स्वप्न देखती हैं। वह सब प्रक्रिया सभी तीर्थकरों के गर्भ-जन्म काल के समान हुई।

देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि के सुखों का समुचित उपभोग करनेवाली रानी ने चैत्र कृष्ण पंचमी के दिन पिछली रात्रि में १६ स्वप्न देखे। प्रातः सज-धजकर सिंहासन पर बैठे महाराज से रानी ने रात्रि के पिछले प्रहर में देखे स्वप्नों का फल पूछा - राजा महासेन ने अपने अवधिज्ञान से उन स्वप्नों का फल जानकर रानी को प्रत्येक स्वप्न का फल बतलाया, जिन्हें सुनकर रानी बहुत हर्षित हुई। श्री, हीं, घृति, कीर्ति आदि देवियाँ माता की सेवा में रहकर उनकी कान्ति, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा बढ़ाती रहती थीं।

इसप्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर रानी ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन देवपूजित, अचिंत्य प्रभा के धारक और तीन ज्ञान से सम्पन्न पुत्र को जन्म दिया। उसीसमय इन्द्र ने आकर महासुमेरु के शिखर पर विद्यमान सिंहासन पर तीर्थकर बालक को विराजमान किया, क्षीरसागर के जल से उनका जन्माभिषेक किया, सबप्रकार के आभूषणों से विभूषित किया, फिर हर्षोल्लास से हजार नेत्रों से उनके दर्शन किए; फिर

भी तृप्त नहीं हुआ - ऐसी शोभा थी, तीर्थकर बाल की। उनके जन्मते ही कुमुदिनियाँ खिल गईं, उसे ही सार्थक करते हुए प्रभु का नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा गया।

इन्द्र ने राजमहल में ले जाकर त्रिलोकनाथ चन्द्रप्रभ के सामने आनन्द नामक नाटक प्रदर्शन किया और ताण्डव नृत्य किया। पश्चात् बालक चन्द्रप्रभ को माता-पिता के लिए सौंप दिया। कुबेर को बालक चन्द्रप्रभ की सेवा में छोड़कर इन्द्रगण अपने-अपने स्थान चले गये।

यद्यपि विद्वान लोग स्त्री पर्याय को निन्द्य बताते हैं, महिलाएँ ऐसा अनुभव करती हैं कि उनके तीनोंपन पराधीनता में ही बीतते हैं। पहले पिता के आधीन, फिर पति के आधीन और अन्त में पुत्र के आधीन, पर उन्हें अपने अन्दर ऐसी हीन भावना नहीं रखना चाहिए; क्योंकि वे ही महिलायें जब तीर्थकर तुल्य महाभाग्यवान पुत्रों को जन्म देती हैं तो वे जगत माता बन जाती हैं तथा वस्तुस्वभाव की ओर से देखें तो भगवान आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक। वह तो लिंगातीत है, फिर हम देह की ओर से अपनी पहचान बनाकर दीनता-हीनता का अनुभव क्यों करें? यदि पुरुष का आत्मा श्रेष्ठ है तो नारी का आत्मा भी किसी से कम नहीं है, धन्य हुई वे माताएँ, जो तीर्थकर जैसे पुत्रों को जन्म देकर जगत के कल्याण में निमित्त बनीं। देवताओं ने भी इसप्रकार नारी जाति को महान उपकारक जगज्जननी कह उनकी स्तुति की।

भगवान सुपार्श्वनाथ के मुक्त होने के बाद जब नौ सौ करोड़ सागर का अन्तर बीत चुका, तब भगवान चन्द्रप्रभ उत्पन्न हुए। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित है। उनकी आयु दश लाख पूर्व की थी।

तीर्थकरों के इतने भारी अन्तराल से हमें यह सबक सीखने को मिलता है कि हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि भगवान महावीर को मुक्त हुए मात्र साधिक ढाई हजार वर्ष ही हुए हैं और उनकी दिव्यध्वनि का सम्पूर्ण सार हमें आचार्यों द्वारा प्राप्त है। इस अपेक्षा विचार करो तो चौथे काल के जीवों को तीर्थकरों का कितना भारी अन्तराल झेलना पड़ा। उस लम्बे काल तक जिनवाणी की अविच्छिन्न धारा संभव ही नहीं थी; अतः हमें इस मनुष्य पर्याय में किसी पन्थवाद के पक्षपात में न पड़कर तथा धर्मक्षेत्र में राजनीति की चालबाजियाँ न चला कर सीधे-सरल ढंग से जिनवाणी के रहस्य को समझ कर अपना मानव जन्म सफल कर लेना चाहिए।

बालक चन्द्रप्रभ का बाल्यकाल देव-देवियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बीता था, वे अपने कौमार्य काल में भी चन्द्रमा के समान कान्ति और सूर्य के सामने तेजवंत थे तथा अतुल्य बलवान थे। वहाँ के लोग कौतूहल वश परस्पर बातचीत करते हुए कहते थे कि विधाता ने इनका शरीर अमृत से बनाया है। चन्द्रमा की कान्ति को लज्जित करनेवाली उनकी कान्ति है, सूर्य के तेज को फीका कर देनेवाला उनका दिव्यतेज था। उनका शरीर शुक्ल वर्ण का था और भाव भी शुक्ल अर्थात् उज्वल थे।

दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होने पर उनका राज्याभिषेक किया गया। छह लाख पचास हजार पूर्व तथा चौबीस पूर्वांग का लम्बा समय सुखपूर्वक क्षण के समान ही बीत गया तभी तो यह उक्ति प्रसिद्ध हुई कि सुख का समय बीतते पता नहीं चल पाता और दुःख का एक पल पहाड़-सा लगता है। वे एक दिन आभूषण धारण करके घर में ही दर्पण में अपना मुख कमल देख रहे थे। वहाँ उन्होंने मुख पर कोई वैराग्यप्रेरक चिह्न देखा और वे इसप्रकार विचार करने लगे कि देखो! यह शरीर नश्वर है तथा इससे जो प्रीति की जाती है वह दुःखदाई है।

इसप्रकार जिन्होंने आत्मतत्त्व की समझ पूर्वक वैराग्य भावना भायी - ऐसे राजा चन्द्रप्रभ के समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्म स्वर्ग को वापिस चले गये। तदनन्तर महाराजा चन्द्रप्रभ ने भी वरचन्द्र नामक पुत्र का राज्याभिषेक किया। तत्पश्चात् देवों द्वारा वैरागी चन्द्रप्रभ के दीक्षाकल्याणक की पूजा की गई। तत्पश्चात् देवों द्वारा उठाई गई विमला नामक पालकी में सवार होकर वन में गये। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लिया और वे पौष कृष्णा एकादशी के दिन एक हजार राजाओं के साथ स्वयं दीक्षित होकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया।

तीसरे दिन वे आहारचर्या के लिए नलिन नामक नगर गये। वहाँ सोमदत्त राजा ने उन्हें आहार दिया, फलस्वरूप रत्नवृष्टि आदि पंच आश्चर्य प्रगट हुए। मतिवान चन्द्रप्रभ २८ मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हुए निरन्तर आत्मा की विशुद्धि बढ़ा रहे थे। अंतरंग बहिरंग तपों को धारण कर निरन्तर वस्तु का चिन्तन करते थे। उत्तम क्षमा आदि दशधर्मों का पालन करते थे। बारह भावनाओं के द्वारा संसार, शरीर और भोगों

की निःस्सारता का विचार करते हुए मुनिराज चन्द्रप्रभ समस्त पदार्थ में माध्यस्थ भाव रखते हुए परमयोग को प्राप्त हुए।

इसप्रकार जिनकल्प मुद्रा के द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावन में बेला का नियम लेकर स्थिर हुए। फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूपी तीन परिणामों से सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रगट हो गया। उन्होंने पहले शुक्ल ध्यान के प्रभाव से मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया, जिससे उनका सम्यग्दर्शन अवगाढ़ सम्यग्दर्शन हो गया।

बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट कर लिया। उपयोग जीव का मुख्य गुण है; क्योंकि वह जीव के सिवाय अन्य कहीं नहीं पाया जाता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय जीव के उपयोग का घात करते हैं; इसकारण वे घातिया कर्म कहलाते हैं, भगवान के घातिया कर्मों का नाश हुआ था और अघातिया कर्मों में से भी कुछ प्रकृतियों का नाश हुआ था। इसप्रकार वे परमभावगाढ़ सम्यग्दर्शन, यथाख्यातचारित्र, क्षायिक ज्ञान-दर्शन तथा ज्ञानादि पाँच लब्धियाँ पाकर शरीर सहित सयोग केवली जिनेन्द्र हो गये। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे और सबके हित में निमित्त होने से हितंकर भी कहलाते थे। उनके चौँतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य थे। वे देवों के देव थे। अपनी प्रभा से उन्होंने समस्त संसार को प्रभावित एवं आनन्दित किया था। भगवान की दिव्यध्वनि में प्रतिसमय सम्पूर्ण द्वादशांग आता है - ऐसा दिव्यध्वनि का सातिशय स्वरूप है। श्रोता के मन में ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ कि “हे भगवान! इस संसार में कितने ही लोग नास्तिक हैं, परलोक की सत्ता स्वीकृत ही नहीं करते, इसकारण स्वच्छन्द होकर पापाचरणों में प्रवर्तन करते हैं। कितने ही लोग केवल भाग्यवादी हैं, इसकारण पुरुषार्थहीन होकर अकर्मण्य हो रहे हैं। उनका कहना है -

“अजगर करै न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम ॥

हे भगवन् ! आप ही बतायें वास्तविकता क्या है ? गणधरदेव ने उत्तर में कहा - “वस्तुतः कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। न ज्ञानमात्र है और न शून्यरूप ही है; किन्तु प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति रूप अनेक धर्मोंवाली है। आत्मा है; क्योंकि उसमें ज्ञान का सद्भाव है। आत्मा पुनर्जन्म लेता है; क्योंकि उसे पूर्व पर्याय का स्मरण होता है, संस्कार भी पूर्वजन्म के अगले जन्म में जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है; क्योंकि उसके ज्ञान में वृद्धि होते देखी जाती है।”

हे भव्य ! एकद्रव्य से दूसरा द्रव्य जुदा है। एक द्रव्य में रहनेवाले अनंत गुण भी जुदे हैं, प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी हैं।”

शंकाकार ने कृतज्ञता प्रगट करते हुए स्तुति की - “हे नाथ ! आपने स्याद्वाद शैली में अनेकान्त स्वरूप वस्तु को समझाया। आत्मवस्तु के अकर्ता स्वभाव को समझाकर जीवों की राग-द्वेष-परिणति को कम करने में जो महान योगदान दिया है, उसके लिए तत्त्वज्ञानी आपका महान उपकार मानते हैं।”

तत्पश्चात् चन्द्रप्रभस्वामी के समोशरण ने समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हुए सम्मेदशिखर जाकर विहार बंद कर दिया तथा एक हजार मुनियों सहित प्रतिमा योग धारण कर एक माह तक शिला पर आरूढ़ हो ध्यानस्थ रहे। फाल्गुन शुक्ल सप्तमी के दिन शाम के समय योग निरोध कर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए तथा चतुर्थ शुक्ल ध्यान के द्वारा शरीर का त्याग कर सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद प्राप्त किया। उसीसमय इन्द्रों ने आकर निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया।

जो पहले श्रीवर्मा हुए, फिर श्रीधर देव हुए, फिर अजितसेन तत्पश्चात् अच्युत स्वर्ग के इन्द्र हुए, फिर पद्मनाभ हुए, उसके बाद अहमिन्द्र, तदनन्तर अष्टम तीर्थकर हुए। ऐसे चन्द्रप्रभस्वामी के चरणों में शत्-शत् वन्दन, शत्-शत् नमन।

यदि मन में शंकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का विचार करने योग्य है, प्रमादी हो गया हो तो चरणानुयोग का विचार करना योग्य है और कषायी हो गया हो तो प्रथमानुयोग (कथा-पुराण) को विषयवस्तु का विचार करना योग्य है और यदि जड़ हो गया हो तो करणानुयोग का विचार करना योग्य है।

- अज्ञात



अष्टविधि से रहित हो, फिर भी कहाते सुविधि नाथ ।
तिल-तुष परिग्रह भी नहीं, फिर भी कहाते जगतनाथ ॥
जो शरण उनकी गहत है, वह होत भवदधि पार है ।
अक्षय अनन्त ज्ञायक प्रभु की, वन्दना शत बार है ॥

जिन्होंने अनेक जीवों को मोक्षमार्ग में लगाया, मोक्षमार्ग की सम्यक् विधि बताई - ऐसे सुविधिनाथ हमारे मार्गदर्शक बने । जो अष्टविधि कर्म से रहित हैं; फिर भी जिनका नाम सुविधिनाथ है - ऐसे सुविधिनाथ हमारे कल्याण में निमित्त बनें । जिनके पास तिलतुषमात्र परिग्रह नहीं है फिर भी इन्द्रों ने उनकी जगतनाथ कहकर स्तुति की है । जो ऐसे सुविधिनाथ की शरण में आता है वह निश्चित ही भवोदधि से पार हो जाता है । अतः उन अक्षय अनन्त नौवें तीर्थकर सुविधिनाथ, जिनका दूसरा नाम पुष्पदन्त है, उन्हें सौ-सौ बार नमन करता हुआ, उनका संक्षिप्त चरित्र लिखने का प्रयास कर रहा हूँ, साहस जुटा रहा हूँ ।

मैं जानता हूँ, मानता भी हूँ कि “वस्तु की स्थिति सदा एक जैसी नहीं रहती”, फिर भी मैं इस संकल्प में सफल होऊँगा - इस आशा से इस ‘शलाका पुरुष’ को पूरा करने हेतु आशान्वित हूँ ।

सुविधिनाथ के पूर्व भवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में कहते हैं कि “पुष्करार्थ द्वीप की पूर्व दिशा में जो मेरुपर्वत हैं, उसके पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का एक देश है । उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नाम का राजा राज्य करता था, वह अत्यन्त पराक्रमी था । वह अपनी प्रजा का दूध देनेवाली गाय के समान भरण-पोषण करता था, उसकी सुरक्षा करने और सुखी करने का पूरा-पूरा प्रयास करता था । प्रजा भी प्रसन्नता से राज्य को ‘कर’ देकर राजा के भंडार

को भरपूर रखती थी। राजा के मंत्रीगण भी प्रसन्न व संतुष्ट रहकर अपने-अपने कार्यों के प्रति जागरूक और ईमानदार थे। राजा भी उनके परिवार के सुख-दुःख का बराबर ध्यान रखता था और समय-समय पर कुशल क्षेम पूछता रहता था।

जिसप्रकार मुनियों में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार उस गुणवान, सदाचारी और शास्त्र मर्मज्ञ राजा में भी अनेक गुण वृद्धिगत हो रहे थे। उस राजा ने एक दिन अपने वनपाल से सुना कि 'मनोहर नाम के उद्यान में महान ऐश्वर्य धारक भूत नाम के जिनराज स्थित हैं। वह उनकी वंदना के लिए प्रजा एवं दल-बल के साथ गया। वहाँ जिनराज की वन्दना कर तीन प्रदक्षिणा दीं और विनयपूर्वक यथास्थान बैठ गया। वहाँ राजा-प्रजा सभी ने जिनराज का धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश सुनते ही राजा महाबल को आत्मज्ञान प्रगट हो गया और वह इसप्रकार विचार करने लगा कि - "अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से दूषित हुआ यह आत्मा स्वयं अपने ही कारण अपने आत्मा को दुःख में डाले हुए है तथा भूताविष्ट पुरुष की भांति अविचारी हो रहा है। यह प्राणी मिथ्यामान्यता के वश अनादिकाल से स्वयं ही अहितकारी कार्यों में आचरण करता आ रहा है। संसाररूपी अटवी में भटकता हुआ मोक्षमार्ग में भ्रष्ट हो गया है।"

इसप्रकार चिन्तन करता हुआ वह राजा महाबल संसार से भयभीत हो गया। मोक्षमार्ग को प्राप्त करने की इच्छा से 'धनद' नामक अपने पुत्र को राज्यसत्ता सौंपकर संसार से भयभीत हुए अन्य अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। धीरे-धीरे शास्त्राभ्यास करते हुए वह ग्यारह अंग का पारगामी विद्वान हो गया। सोलहकारण भावनाओं के चिन्तन में तत्पर रहने लगा और तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर अन्त में उसने समाधिमरण धारण कर लिया। समाधिमरण के प्रभाव से वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहाँ बीस सागर की आयु थी। साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। दश-दश माह में श्वांस लेता था। बीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था। उसके मानसिक प्रविचार था, धूमप्रभा पृथ्वी तक उसके अवधिज्ञान की सीमा थी। विक्रिया बल और तेज भी अवधिज्ञान की सीमा के बराबर ही था तथा अणिमा

आदि उत्कृष्ट गुणों से उसका ऐश्वर्य बढ़ा हुआ था। वहाँ के दीर्घ सुख भोगकर वह तीर्थकर के रूप में जिसके कुल में जन्म लेनेवाला था, उसका परिचय कराते हुए कहते हैं कि इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी सुग्रीव राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानी जयरामा थी। उस रानी ने देवों द्वारा अतिशय श्रेष्ठ रत्नवृष्टि आदि द्वारा सम्मान को पाकर फाल्गुन कृष्णा नवमी के दिन प्रभातकाल के समय सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल उसने अपने पति से उन सोलह स्वप्नों का फल जानकर अत्यन्त हर्षित हुई। मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन उस महादेवी के उत्तम पुत्र हुआ। उसीसमय इन्द्रों ने आकर उनका क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया। आभूषण पहनाये और कुन्द के फूल के समान कान्ति से सुशोभित शरीर की दीप्ति से विराजित उन बाल तीर्थकर का नाम पुष्पदन्त रखा।

नौवें तीर्थकर पुष्पदन्त आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ के नब्बे करोड़ सागर के अन्तराल बाद हुए थे। भगवान पुष्पदन्त की आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी। दो लाख पूर्व की उनकी आयु थी। सौ धनुष ऊँचा उनका शरीर था। पचास हजार पूर्व तक उन्होंने कुमार अवस्था का सुख प्राप्त किया था। शेष जीवन भी तीर्थकर जैसे पुण्य प्रकृति की सत्ता में रहने से बहुत ही लौकिक अनुकूलता में बीता, परन्तु उस सुख में रहते हुए भी उन्हें एक उल्कापात देखकर संसार के क्षणभंगुरत्व का आभास हो गया; जिससे उन्हें वैराग्य हुआ।

उनके मन में इसप्रकार का विचार आया कि वह उल्का (विद्युत्) नहीं; बल्कि मेरे अनादिकालीन मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाली दीपिका है। इसप्रकार उस उल्का के निमित्त से प्रतिबुद्ध होकर तत्त्व का इसप्रकार विचार करने लगे कि आज मैंने स्पष्ट देख लिया है कि यह संसार विडम्बनारूप है। काम, क्रोध, शोक, भय, उन्माद, स्वप्न और चोरी आदि में लिप्त या मूर्च्छित हुआ प्राणी सामने रखे हुए असत् पदार्थ को भी सत् समझता है। इस संसार में न तो कोई भी वस्तु स्थिर है और न शुभ है, न कुछ सुख देनेवाली है और न कोई पदार्थ मेरा है। मेरा तो मात्र मेरा आत्मा ही है। यह सारा संसार मुझसे जुदा है

और मैं इनसे जुदा हूँ; फिर भी आश्चर्य है कि मोहोदय से शरीरादि पदार्थों में इस जीव की आत्मीयता हो रही है।”

“शरीर ही मैं हूँ, मेरा लौकिक सुख चिरस्थाई है” इसप्रकार अन्य पदार्थों में जो मेरी विपर्ययबुद्धि हो रही है, उसी से मैं अनेक दुःखमय जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर में पड़कर भवसमुद्र में भ्रमण कर रहा हूँ।” ऐसा विचार कर वे राज्यलक्ष्मी को छोड़ने का विचार करने लगे।

लौकान्तिक देवों ने उनकी पूजा की। उन्होंने सुमति नामक पुत्र को राज्यभार सौंप दिया। इन्द्रों ने उनका दीक्षा कल्याणक मनाया। वे उसीसमय सूर्यप्रभा नामक पालकी में बैठकर पुष्पक वन में गये और मार्गशीष के शुक्लपक्ष प्रतिपदा के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। वे दूसरे दिन आहार के लिए शैलपुर नगर में प्रविष्ट हुए। वहाँ पुष्पमित्र राजा ने उन्हें भोजन कराया। फलस्वरूप पञ्चाश्चर्य प्रगट हुए, इसप्रकार छद्मस्थ अवस्था में तपस्या करते हुए उनके चार वर्ष बीत गये। तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन शाम को दो दिन का उपवास लेकर नागवृक्ष के नीचे स्थित हुए।

तत्पश्चात् उसी दीक्षावन में घातिया कर्मों को नष्टकर अनन्त चतुष्टय प्राप्त किये। चतुर्निकाय देवों के इन्द्रों ने उनके अचिन्त्य वैभव की रचना की। समोशरण बनाया और समस्त पदार्थों का एकसाथ निरूपण करनेवाली सातिशय दिव्यध्वनि खिरने लगी। उनकी धर्मसभा में सात ऋद्धियों के धारक अट्ठासी गणधर थे। पन्द्रह सौ श्रुत केवली, एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षक (उपाध्याय) थे। आठ हजार चार सौ अवधिज्ञानी मुनि, सात हजार केवली, तेरह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी और छह हजार छह सौ वादियों के द्वारा भगवान पुष्पदन्त के चरणों की पूजा होती थी। इसप्रकार सब मिलाकर वे दो लाख मुनियों (गुरुओं) के परमगुरु थे। तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकायें, दो लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें उनकी धर्मसभा के श्रोता थे। इनके अतिरिक्त असंख्यात देव-देवियाँ और तिर्यश्च भी उनके श्रोता थे। भगवान पुष्पदन्त आर्य देश में विहारकर सम्मेदशिखर पहुँचे।

समोशरण धर्मसभा में एक जिज्ञासु को जिज्ञासा जगी। उसके मन में प्रश्न उठा कि हे प्रभो! णमोकार मंत्र के माहात्म्य में बहुत-सी किंवदन्तियाँ और कथाएँ प्रचलित हैं। उनका मूल प्रयोजन क्या है ?

तीर्थकर भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि इस महामंत्र के संबंध में समय-समय पर प्रचारित किंवदन्तियों एवं पौराणिक कथा-कहानियों से जहाँ एक ओर जैनजगत में इस महामंत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है, जिज्ञासा जगी है; वहीं दूसरी ओर अंधविश्वास एवं भ्रान्त धारणायें भी कम प्रचलित नहीं होंगी। इन भ्रान्त धारणाओं एवं अंधविश्वासों के निराकरण के लिए इस महामंत्र के सही स्वरूप का एवं प्रचलित कथा-कहानियों का यदि अभिप्राय समझकर अनुशीलन/परिशीलन किया जायेगा तो ही सही समाधान होगा।

“देखो, इन भोले भक्तों का अविवेक, ये वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान से कैसी-कैसी सौदेबाजी करते हैं। उनसे अपने मनोरथों की पूर्ति कराने के लिए उन्हें कैसे-कैसे प्रलोभन देते हैं। उनसे कैसी-कैसी शर्तें लगाते हैं। कहते हैं - ‘यदि आप हमारे बच्चे को ठीक कर दोगे, मुकदमा जिता दोगे, कमाई करा दोगे, लाटरी खुलवा दोगे...तो हम आपको छत्र चढ़ायेंगे, पूजा-विधान करायेंगे, घी के दीपक की अखण्ड ज्योति जलायेंगे, आपके तीर्थस्थान की ससंघ यात्रा करने आयेंगे, यदि बहू के बेटा हो जायेगा तो उसका मुण्डन कराने तो यहाँ आयेंगे ही, मन्दिर का जीर्णोद्धार भी करा देंगे, तीर्थ पर सीढ़ियाँ लगवा देंगे। मानों, भगवान यह सब कराने के लिए तरस रहे हों, आशा लगाये ही बैठे हों।

इन्हें अपने भगवान पर इतना भी भरोसा नहीं है कि पहले पूजा-पाठ आदि जो कराना चाहता है, करा दे; बाद में काम तो हो ही जायेगा। पर नहीं, क्या भरोसा भगवान का ? काम न हुआ तो ? लोक में ऐसी शंका नहीं करता। हवाई जहाज व रेल के टिकट महीनों पहले लेता है, माल का एडवांस पहले देता है, डॉक्टर की फीस पहले देता है, पर भगवान की पूजा-पाठ कामनायें पूरी होने पर करेगा ?”

“णमोकार महामंत्र जैसे अनादि शाश्वत अचिन्त्य महिमावंत महामंत्र के साथ भी पता नहीं लोग कैसी-कैसी सशर्त कामनायें करते हैं ? फिर लौकिक घटनायें जोड़कर उसकी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। पर

लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाने से अलौकिक महामंत्र की महिमा कैसे बढ़ सकती है ? अरे भाई! लौकिक कार्यों की सिद्धि तो पुण्य के प्रताप से होती है, सीधे मंत्रों के जाप जपने से नहीं। हाँ, यदि निष्कामभाव से मंत्र जपते हुए कषायें अत्यन्त मंद रहें तो पुण्यबंध होता है; पर ज्ञानी उसे भी उपादेय नहीं मानते, उसके फल में लौकिक कामनायें नहीं करते। लौकिक कामनाओं से तो उल्टा पाप बंध ही होता है; क्योंकि ऐसी कामनायें तो तीव्र कषाय में ही संभव हैं। प्रथमानुयोग में प्रयोजन को ध्यान में रखकर प्रेरणाप्रद कथाएँ ऐसी होंगी, जिनमें कहा जायेगा कि णमोकार-मंत्र से ये लाभ हुए। जैसे कि -

- पहली कथा में स्पष्ट उल्लेख होगा कि सुग्रीव के जीव ने बैल की योनि में मरणासन्न दशा में सेठ से णमोकार मंत्र सुनकर स्वर्ग प्राप्त किया था।

- दूसरी कथा में साफ-साफ कहा गया होगा कि चारणऋद्धिधारी ऋषियों के द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुआ बंदर महामंत्र णमोकार के प्रभाव से दोनों लोकों में सुख भोगकर केवली पद को प्राप्त हुआ।

- तीसरी कथा में चर्चा आयेगी कि राजा विंध्यकीर्ति की पुत्री विजयश्री सुलोचना के द्वारा सुनाये गये मंत्र के प्रभाव से इन्द्राणी हुई

- चौथी कथा में यह कहा गया होगा कि वह बकरा, जिसे मरते समय चारुदत्त ने णमोकार मंत्र सुनाया, उससे वह दिव्य शरीरवाला देव हुआ।

- पाँचवी कथा में कहा जायेगा कि वे नाग-नागिनी, जिन्हें पार्श्वकुमार ने मरणासन्न दशा में णमोकार मंत्र दिया था, उससे वे धरणेन्द्र पद्मावती हुए।

- छठवी कथा में कहा होगा कि कीचड़ में फंसी हुई हथिनी विद्याधर द्वारा दिये गये महामंत्र के प्रभाव से भवान्तर में राजा जनक की पुत्री सीता हुई।

- सातवी कथा में यह कहा होगा कि दृढ़सूर्य चोर शूली पर दुस्सह दुःख से व्याकुल होकर यद्यपि जल पीने की आशा से णमोकार मंत्र का उच्चारण कर रहा था, तब भी उसके प्रभाव से वह देव हुआ।

● अंतिम आठवीं कथा में तो यहाँ तक कहा होगा कि विवेकहीन सुभग ग्वाला उस मंत्र के प्रथम पद के उच्चारण मात्र से तद्भव मोक्षगामी सुदर्शन सेठ हुआ और उसने उसी भव से मुक्ति की प्राप्ति की।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि - क्या ये कथाएँ कल्पित होंगी ?

समाधान - नहीं, पौराणिक कथायें पौराणिक होती हैं, न कल्पित न मिथ्या; परन्तु प्रथमानुयोग के प्रयोजन व कथन पद्धति को न समझनेवाले उन कथाओं का अन्यथा अभिप्राय ग्रहण करके अर्थ का अनर्थ करते अवश्य देखे जाते हैं। यदि उपर्युक्त कथाओं के कथन का प्रयोजन व अभिप्राय ग्रहण करके अक्षरशः सर्वथा ऐसा ही मान लिया जाये तो जो प्रतिदिन नियमितरूप से त्रिकाल णमोकार मंत्र का जाप करते हैं, पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हैं, उनके जीवन में अनेक दुःख या संकट क्यों देखे गये ? अथवा जो स्वयं पंचपरमेष्ठी में शामिल हैं - ऐसे पाँचों पांडवों पर ऐसा भयंकर उपसर्ग क्यों होगा ? उन्हें अंगार सदृश जलते हुए लोहे के कड़े क्यों पहनाये जायेंगे ? और पहना भी दिये जायेंगे तो वे ठंडे क्यों नहीं होंगे।

ऐसे और भी अनेक पौराणिक उदाहरण दिये जा सकते हैं; जिन्होंने हृदय से पंचपरमेष्ठी की आराधना की, प्रतिदिन णमोकार मंत्र का जाप किया और स्वयं भी पंचपरमेष्ठी के पदों पर विराजमान रहे, फिर भी उन्हें अनेक प्रतिकूल प्रसंगों का सामना करना पड़ा और आगे भी करना पड़ेगा।

जैसे कि १. भावलिंगी संत तद्भव मोक्षगामी सुकुमाल मुनि को स्यालिनी खायेगी, २. सुकौशल मुनिराज को शेरनी खायेगी, ३. गजकुमार मुनिराज के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी जायेगी, ४. राजा श्रेणिक के द्वारा मुनिराज के गले में मरा हुआ सांप डालने से मुनिराज को लाखों चींटियाँ काटेंगी, ५. श्रीपाल को कुष्ठ रोग होगा, ६. तीर्थकर के भव में मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग होगा, ७. प्रथम तीर्थकर मुनिराज आदिनाथ को छह माह तक प्रतिदिन लगातार आहार हेतु निकलने पर भी आहार नहीं मिला, ८. महासती सीता को दो-दो बार वनवास के दुःख उठाने पड़ेंगे, ९. तद्भव मोक्षगामी राम भी १४ वर्ष तक वन-वन भटकते फिरेंगे, १०. प्रद्युम्नकुमार को अनेक संकटों का सामना करना पड़ेगा, ११.

जीवन्धर और उनके माता-पिता रानी विजया व सत्यन्धर को मरणतुल्य कष्ट झेलने पड़ेंगे, १२. महासती मनोरमा को मजदूरी करनी पड़ेगी, १३. सुदर्शन सेठ को सूली पर चढ़ाया जायेगा, १४. सैंकड़ों मुनियों को घानी में पिलना पड़ेगा, १५. अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों को बलि आदि मंत्रियों कृत उपसर्ग झेलने पड़ेंगे। आखिर ऐसा क्यों होगा ? भविष्य में यह सब होगा, जो मेरे ज्ञान में स्पष्ट झलक रहा है।

जबकि ये सब पंच नमस्कार मंत्र के आराधक तो होंगे ही, इनमें अधिकांश तद्भव मोक्षगामी और भावलिंगी संत भी होंगे और आदिनाथ व पार्श्वनाथ तो साक्षात् तीर्थकर भगवान की पूर्व भूमिका में ही स्थित होंगे, फिर भी उन पर उपसर्ग क्यों होगा ?

इससे स्पष्ट है कि अकेले मंत्रों के स्मरण से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्य की सिद्धि तो अनेक कारणों से ही होती है; फिर भी जिस कारण की महिमा बतानी होती है; प्रथमानुयोग की कथाओं में उसे मुख्य करके शेष कारणों को गौण कर दिया जाता है। यही प्रथमानुयोग की कथनशैली है।

देखो ! एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं, तब कहीं कार्य संपन्न होता है तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी कारण महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिसप्रकार लाखों रुपयों की मशीन में दो रुपये के स्कू का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसीप्रकार प्रत्येक कार्य में सभी कारणों का अपना-अपना स्थान है; पर कथन में कभी कोई कारण मुख्य होता है और कभी कोई अन्य।

उदाहरण के तौर पर हम एक ऐसे बीमार व्यक्ति को लें, जिसे अचानक हार्टअटैक हुआ है और डॉक्टर के कहे अनुसार यदि समय पर मेडिकल सहायता न मिलती तो वह दो घंटे में ही दम तोड़नेवाला था, परन्तु पड़ोसी ने यथासमय उसे इमरजेंसी वार्ड में पहुँचाकर और होशियार डॉक्टर को बुलाकर, रात में २ बजे मेडिकल स्टोर्स खुलवाकर, बीमार को बचाने के लिए अत्यंत आवश्यक दवा की व्यवस्था कर दी; जिससे वह बीमार व्यक्ति बच गया। इसप्रकार उस रोगी के प्राण बचाने में चार कारण मिलें -

१. पड़ोसी, २. डॉक्टर, ३. मेडीकल स्टोर वाला और ४. दवा।

अब देखिये इस घटना के प्रत्यक्षदर्शियों में से एक व्यक्ति तो पड़ोसी के गीत गाते हुए कहता है - “पड़ोसी हो तो ऐसा हो। यदि वह समय पर व्यवस्था नहीं करता तो बेचारा मर ही जाता।”

दूसरा डॉक्टर के गीत गाता है - कहता है - “यदि! ऐसा होशियार डॉक्टर समय पर न मिलता तो वह बेचारा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता।”

तीसरा कहता है - “अरे ! यह तो सब ठीक है; परन्तु यदि वह दवाई समय पर उपलब्ध न होती तो बेचारा डॉक्टर भी क्या कर सकता था ? उस बेचारे दुकानदान की कहो, जिसने रात के दो बजे दुकान खोलकर दवा दे दी।”

चौथा कहता है - “इन बातों में क्या धरा है ? आयुकर्म ही सर्वत्र बलवान है। यदि आयु ही समाप्त हो गई होती तो धनवंतरी जैसा वैद्य भी नहीं बचा सकता था। ये सब तो निमित्त की बातें हैं। जब जीवनशक्ति ही समाप्त हो जाती है तो सारे के सारे प्रयत्न धरे रह जाते हैं। मौत के आगे किसी का वश नहीं चलता। यदि पड़ोसी, डॉक्टर, मेडिकल स्टोरवाला और दवायें ही बचाती होतीं तो डॉक्टर आदि ने अपने सगे माँ-बाप एवं प्रिय कुटुम्ब-परिवार को क्यों नहीं बचा लिया? बचा लेते न वे उन्हें !”

पाँचवें ने कहा - “अरे भाई! चारों व्यक्तियों ने तो केवल अपने-अपने विकल्पों की पूर्ति की है, उन्होंने तो उसके बचाने में कुछ किया ही नहीं, पर आयुकर्म भी अचेतन है, जड़ है, वह भी जीव को जीवनदान देने में समर्थ नहीं है। वह उन चार निमित्तों की तरह ही है। वास्तविक बात तो यह है कि उस मरीज के उपादान की योग्यता ही ऐसी थी कि जिसे-जहाँ जबतक जिन संयोगों में अपनी स्वयं की योग्यता से रहना था, तबतक उन्हीं संयोगों के अनुरूप उसे वहाँ उसी रूप में सब बाह्य कारण-कलाप सहज ही मिलते गये। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कुछ करता ही नहीं, द्रव्यों का समय-समय होनेवाला परिणामन भी स्वतंत्र है। ऐसा ही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

आयुकर्म का उदय भी एक निमित्त कारण ही है। निमित्त होते तो अवश्य हैं, पर वे कर्ता नहीं हैं। कार्य

के समय उनकी उपस्थिति होती है; अतः कभी किसी को महत्त्व मिल जाता है और कभी किसी को। वक्ता के द्वारा जब जिसको जैसा मुख्य गौण करना होता है, कर देता है। वास्तविक कारण तो जीव की तत्समय की योग्यता ही है। अन्य कारण कलाप तो समय पर मिलते ही हैं।

कहा भी है -

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्चतादृशाः ।
सहायतास्तादृशाः संति यादृशी भवितव्यता ॥

अर्थात् जीव का जिससमय जैसा-जो होना होता है, तदनुसार ही बुद्धि या विचार उत्पन्न हो जाते हैं। प्रयत्न भी वैसे ही होने लगते हैं, सहयोगियों में वैसे ही सहयोग करने एवं दौड़-धूप करने की भावना बन जाती है और कार्य हो जाता है; अतः कारणों के मिलाने की आकुलता मत करो। देखो! कारण मिलाने को मना नहीं किया है, बल्कि कारण मिलाने की आकुलता न करने को कहा है।

जिसे वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, उसे आकुलता नहीं होती। भूमिकानुसार जैसा राग होता है, वैसी व्यवस्थाओं का विकल्प तो आता है, पर कार्य होने पर अभिमान न हो तथा कार्य न होने पर आकुलता न हो; तभी कारण-कार्य व्यवस्था का सही ज्ञान है - ऐसा माना जायेगा।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि दवायें और डॉक्टर कुछ नहीं करते तो लाखों डॉक्टर्स, करोड़ों रुपयों के मेडिकल साधन सब बेकार हैं क्या ? और क्या शासन का करोड़ों रुपयों का मेडिकल बजट व्यर्थ ही बरबाद हो रहा है, पानी में जा रहा है ?

यह किसने कहा है कि सब बेकार है ? मैं तो यह कह रहा हूँ कि जब जो कार्य होना होता है, तब उसके अनुरूप सभी कारण कलाप मिलते ही हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं; किन्तु कथन किसी एक कारण की मुख्यता से किया जाता है, अन्य कारण गौण रहते हैं।

मुख्य-गौण करके कथन करने की ये ही तो विभिन्न अपेक्षायें हैं। पहले व्यक्ति ने पड़ौसी को मुख्य

किया, दूसरे ने डॉक्टर को, तीसरे ने दवा को मुख्य किया और चौथे ने आयुर्कर्म को मुख्य कर दिया। इसी कथन शैली को तो स्याद्वाद कहते हैं।

अरे भाई! जिसकी होनहार भली हो उसे तो एक के बाद एक अनुकूल निमित्त भी मिलते जाते हैं और उसके परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, रुचि बढ़ती जाती है। निमित्त तो इसको पहले भी कम नहीं मिले और उन्होंने कितना समझाने की कोशिश की, पर कहाँ समझे ? जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तो कभी सत्साहित्य को श्रेय देते हैं, कभी अपने मित्र को धन्यवाद देते हैं, कभी अपने भाग्य को सराहते हैं तो कभी अपने गुरुजी की प्रशंसा करते हैं। इसप्रकार कभी किसी को मुख्य करते हैं और कभी किसी को। जब किसी एक को मुख्य करते हैं तो शेष कारण अपने-आप गौण हो जाते हैं।

यही बात णमोकार महामंत्र संबंधी पौराणिक कथाओं के संबंध में भी जानना चाहिए। यहाँ स्वर्गादिक की प्राप्ति में परिणामों की विशुद्धि आदि कारण तो अनेक हैं, पर परमेष्ठी की शरण में पहुँचाने के प्रयोजन से णमोकार मंत्र के सुनने-सुनाने को मुख्य किया है और शेष कारणों को गौण कर दिया है। ताकि सभी लोग नरकादि के भय और स्वर्गादि प्राप्ति के प्रलोभन से पंचपरमेष्ठी की शरण में आयें। यहाँ आने के बाद जब वे अरहंतादि का स्वरूप समझेंगे तो उन्हें स्वतः ही सच्चा मोक्षमार्ग मिल जायेगा और स्वर्गादि के क्षणिक सांसारिक सुखों से भी विरक्ति हो ही जायेगी।” भगवान पुष्पदन्त की दिव्यध्वनि में यह आया।

अंत में सम्मेदशिखर पर योग निरोध कर भाद्रशुक्ल अष्टमी के दिन शाम के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देवगण आये और उनका निर्वाण का महोत्सव मनाकर स्वर्ग चले गये।

जिन्होंने मोक्ष का कठिन मार्ग दूसरों को सरल कर दिया, जिन्होंने चित्त में उपशमभाव धारण करनेवाले भक्तों के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया। जिनकी दंतपंक्ति खिले हुए पुष्प के समान अति सुन्दर है – ऐसे भगवान पुष्पदन्त को हमारा बारम्बार नमस्कार।

हे देव! आप परम शान्त है आपकी वाणी कल्याणकारी है, आपका आदर्श चरित्र भव्य जीवों के लिए पथप्रदर्शक है; अतः हम सब भी आपकी शरण को प्राप्त हों - ऐसी कामना है।

जो पहले महापद्म नामक राजा हुए, फिर स्वर्ग में चौदहवें कल्पवासी इन्द्र हुए, तदनन्तर सुविधिनाथ नौवें तीर्थकर हुए - ऐसे परम आराध्य सुविधिनाथ हम सबके मंगलमय हो। ॐ नमः। ●

नोट - यद्यपि ये कथायें भगवान पुष्पदन्त के बाद चतुर्थ एवं पंचमकाल में घटी घटनाओं के आधार पर हैं, पर केवलज्ञान तो तीनों कालों को प्रत्यक्षवत् देखता-जानता है। अतः भविष्य में होनेवाली घटनाओं के आधार पर समाधान संभव है।

प्रथमानुयोग की मूल कथावस्तु और करणानुयोग के सूक्ष्म कथन आदि सभी कुछ केवलज्ञान के आधार से ही लिखे गये हैं, इनमें शंका करने का अर्थ है सर्वज्ञता में शंका करना, केवलज्ञान में शंका करना, अपनी जिनवाणी माता पर अविश्वास करना। अतः आत्मकल्याण चाहनेवाले पाठकों को इन्हें नय, प्रमाण और युक्तियों से निर्णय करके आगम में यथार्थ श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है। - लेखक

विधि का विधान अटल है

विधि का विधान अटल है, उसे कोई टाल नहीं सकता। जो घटना या कार्य जिससमय, जिसके निमित्त से, जिसरूप में होना है; वह उसीसमय, उसी के निमित्त से, उसीरूप में होकर ही रहता है। उसे टालना तो दूर, आगे-पीछे भी नहीं किया जा सकता; बदला भी नहीं जा सकता। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर भी नहीं किया जा सकता। - सुखी जीवन,

चन्दन सम शीतल हो प्रभुवर, चन्द्र किरण से ज्योतिर्मय ।
कल्पवृक्ष से चिह्नित हो अरु, सप्तभयों से हो निर्भय ॥
तुम-सा ही हूँ मैं स्वभाव से, हुआ आज मुझको निर्णय ।
अब अल्पकाल में ही होगा प्रभु, मुक्तिरमा से मम परिणय ॥

जिनका कहा हुआ वीतरागधर्म कर्मरूप सूर्य से संतप्त प्राणियों के लिए चन्द्रमा के समान शीतल है, शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, वे शीतलनाथ भगवान हम सबके लिए शीतलता प्रदान करें, शान्ति उत्पन्न करने में निमित्त बनें ।

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद पूर्व भवों की चर्चा करते हुए आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में लिखते हैं कि पुष्करवर द्वीप के पूर्वार्द्ध भाग में जो मेरुपर्वत है, उसकी पूर्व दिशा के विदेहक्षेत्र में सीतानदी के दक्षिणतट पर एक वत्स नाम का देश है । उसके सुसीमानगर में पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था । राजा साम-दाम-दण्ड और भेद की नीति में निपुण था । इसकारण राज्य में पूर्णरूप से सुशासन था । वह संधि-विग्रह के रहस्य को जाननेवाला था; अतः अन्य राजाओं के साथ भी सद्व्यवहार रखता था । बुद्धिबल से उसने राज्य का खूब विस्तार कर लिया था । इसप्रकार धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों के फल को प्राप्तकर वह सुख-शान्ति से रहता था ।

उस गुणवान राजा ने दैव योग से बुद्धि के प्रयोग से और प्रयत्नपूर्वक उद्यम के द्वारा स्वयं श्री वृद्धि की थी, लक्ष्मी अर्जित की थी और प्राप्त लक्ष्मी का वह सर्वसाधारण के योग्य सभी प्रकार के सुखद और सुलभ साधन जुटा कर प्रजा को प्रसन्न रखता था । न्यायोपार्जित धन के द्वारा याचकों को संतुष्ट रखता था ।

फाल्गुन मास में वसंत ऋतु के सुखद वातावरण का आनन्द लेते हुए जब वह काम की पीड़ा से पीड़ित हुआ तो उसने संकल्प किया कि जिसमें सारा जगत सुख की कल्पना करता है, मैं उस दुःखद काम को आज ही ध्यानरूपी अग्नि से भस्म करता हूँ। इसप्रकार वह संसार के पंचेन्द्रिय भोगों की पीड़ा को पहचान कर जितेन्द्रिय बन कर सच्चे सुख की खोज में लग गया। एतदर्थ उसने चन्दन नामक पुत्र को राज्यभार सौंपकर आनन्द मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और शान्त भावों से सब अंगों का अध्ययन कर चिरकाल तक तपश्चरण किया। सोलहकारण भावनाएँ भाकर तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया। दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य - तीन आराधनाओं का साधन किया तथा आयु के अन्त में समाधिमरण कर 'आरण' नामक पन्द्रहवें स्वर्ग में इन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु बाईस सागर पर्यन्त की थी। तीन हाथ ऊँचा शरीर था। द्रव्य व भाव - दोनों लेश्यायें शुक्ल थीं। ग्यारह माह में श्वास लेता है। बाईस हजार वर्ष में मानसिक आहार लेता था। लक्ष्मीवान था, मानसिक प्रविचार से संतुष्ट रहता था। प्राकाम्य आदि आठ गुणों से सहित था। उसके सुखों की अनुकूलता में असंख्यात वर्ष की आयु एकक्षण समान बीत गई। जब उसकी आयु के छह माह शेष रह गये और वह तीर्थकर के रूप में अवतरित होनेवाला था, तब जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी मलय नामक देश में भद्रपुर नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढरथ की महारानी सुनन्दा के घर को कुबेर की आज्ञा से यक्ष जाति के देव ने छह माह पहले से रत्नों से भर दिया। मानवती सुनन्दा ने भी रात्रि के अन्तिम भाग में सोलह स्वप्न देखकर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकाल राजा ने उनका फल ज्ञात किया और उसीसमय चैत्रकृष्ण अष्टमी के दिन सदाचार आदि गुणों से सहित वह देव स्वर्ग से च्युत होकर रानी के उदर में अवतीर्ण हुआ। देवों ने आकर गर्भकल्याणक की पूजा की। माघ कृष्ण द्वादशी के दिन तीर्थकर पुत्र का जन्म हुआ। उसीसमय बहुत भारी उत्साह से देव लोगों ने आकर जन्मोत्सव के साथ इन्द्राणी द्वारा माता की गोद में मायामयी बालक को सुलाकर तीर्थकर पुत्र को उठाया और सुमेरु पर्वत ले गये। वहाँ उन्होंने बालक का अभिषेक किया और शीतलनाथ नाम रखा।

भगवान पुष्पदन्त के मुक्त होने के बाद नौ करोड़ सागर का अन्तर बीत जाने पर शीतलनाथ का जन्म

हुआ था। उसके जन्म लेने के पूर्व पल्य के चौथाई भाग तक जिनधर्म का विच्छेद रहा। इसकारण ये धर्म लुप्त हो गया। शीतलनाथस्वामी के शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी। आयु एक लाख पूर्व की थी और शरीर नब्बे धनुष ऊँचा था। जब आयु के चतुर्थभाग प्रमाण कुमार काल व्यतीत हो गया तब उन्होंने अपने पिता का राज्य पद संभाला तथा प्रधानसिद्धि प्राप्तकर प्रजा का पालन किया। महाप्रतापी तीर्थकर राजा शीतलनाथ के राज्य में प्रजा सर्वप्रकार से सुख सम्पन्न एवं धर्मपरायण थी। पचास हजार पूर्व तक उन्होंने सफलता पूर्वक प्रजा को प्रसन्न एवं समृद्धि से सम्पन्न रखते हुए राज्य संचालन किया।

जब उनका संसार में रहने का काल मात्र पच्चीस हजार पूर्व शेष रहा था तो उन्होंने भव के अन्त करने की तैयारी की। इसीसमय एक वैराग्यप्रेरक घटना घटी, जो इसप्रकार है -

महाराजा शीतलनाथ एक दिन वनविहार करने गये। वहाँ रंग-बिरंगे पुष्पों पर पड़े हुए ओस बिन्दु सच्चे मोतियों जैसे चमक रहे थे। उनकी अद्भुत शोभा निहारते हुए शीतनाथ वन में विहार कर रहे थे। कुछ ही समय पश्चात् सूर्य की किरणों से वे ओसबिन्दु सूख गए। प्रभात का सौन्दर्य भी अब पहले जैसा नहीं रहा। यह देखकर शीतलनाथ को वैराग्य हो गया। वे विचारते हैं कि “अहो! ये मनुष्य जीवन और यह ज्ञानियों के संयोग, यह प्राकृतिक सौन्दर्य, ये इन्द्रियों के भोग सब ओस की बूँदों की भांति क्षणभंगुर हैं।

जीव के ये हर्ष-विषाद के विभावभाव भी क्षण-क्षण में पलट जाते हैं। इन पर-पदार्थों या परभावों के भरोसे रहना योग्य नहीं है। अपने स्थिर और असंयोगी आत्मतत्त्व का ही आलम्बन सारभूत है। शेष सब संयोग असार हैं, पुण्य के फलरूप विषयों में यदि सुख होता तो मुझे पुण्य की पराकाष्ठा रूप उत्कृष्ट सुख-सामग्री प्राप्त है, फिर भी मेरा मन संतुष्ट क्यों नहीं है ? ठीक ही तो कहा है -

“जो संसार विषैँ सुख होता, तीर्थकर क्यों त्यागें।

काहे को शिव साधन करते, संयम सौँ अनुरागे ॥

मेरे पहले भी अनादि काल से असंख्य-अनन्त तीर्थकर पद प्राप्त करके उन पदों का भी त्याग करके

ही सुखी हुए हैं, फिर मैं अभी तक इस दल-दल में क्यों फंसा हूँ ? वस्तुतः विषय सामग्री का सुख सुख है ही नहीं, यह तो दुःख का ही एक रूप है, मिठास लपेटी तलवार के समान है। आश्चर्य है कि सारा संसार इसमें सुख माने बैठा है।” इसप्रकार विचार करते हुए वे संसार-शरीर एवं भोगों से सर्वथा विरक्त हो गये।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि भगवान् शीतलनाथ ने पहले भी अनेक बार इन घटनाओं को देखा होगा; किन्तु जब उनके वैराग्य का काल पका, वैराग्य की काललब्धि आई तो वे ही चिर-परिचित घटनायें उनके वैराग्य में निमित्त बन गईं। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग में निमित्त का इतना ही स्थान है। इसीलिए तो निमित्त को अकिंचित्कर कहा गया है। यदि निमित्त ही कर्ता होता तो क्या महाराज शीतलनाथ ने पहले कभी ओस बूँदों को नष्ट होते नहीं देखा होगा। जबकि वन-विहार उनकी दैनिक चर्या थी।

महाराजा शीतलनाथ का संसार अल्प रह गया था, उनकी काललब्धि का परिपाक हुआ और उन्हें वैराग्य हो गया, उन्होंने संकल्प किया कि “अब मैं मोह का सर्वथा नाश करके शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट कर सिद्धपद प्राप्त करूँगा।”

महाराजा शीतलनाथ ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसीसमय परम विशुद्धि से उनको जातिस्मरण ज्ञान हुआ कि “मैं पूर्वभव में पद्मगुल्म राजा था। उससमय भी ऋतु परिवर्तन देखकर ही मेरा चित्त संसार से विरक्त हुआ था और इससमय भी वे ओसबिन्दु ही मेरे वैराग्य के कारण बने हैं।” इसप्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार कर उन्होंने विवेकियों के द्वारा छोड़ने योग्य अपना सारा साम्राज्य पुत्र को दे दिया।

इसप्रकार प्रभु की दीक्षा का अवसर जानकर ब्रह्मलोक से लौकान्तिक देव आये और प्रभु की स्तुति करके उनके वैराग्य की प्रशंसा की, अनुमोदना की। उसीसमय इन्द्रगण शुप्रभा नामक पालकी लेकर आ गये। उसमें आरूढ़ होकर विरागी प्रभु ने संसार से मोह छोड़कर, अपनापन त्यागकर, मोक्ष साधने के लिए वन की ओर विहार किया। माघ कृष्ण द्वादशी (अपनी जन्म तिथि) के दिन ही शीतलनाथ प्रभु ने स्वयंबुद्ध होकर दीक्षा धारण कर ली।

बाह्य में वस्त्रादि समस्त परिग्रह और अंतरंग में शेष अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायें छोड़कर वे आत्मध्यान में एकाग्र हो गये। अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषायों के अभाव से वे शीतल तो थे ही, अब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का त्याग कर परम शीतल हो गये। उन्होंने कषायों की कलुषता को आत्मध्यान द्वारा धो डाला।

तीनरत्न, चार ज्ञान, पाँच महाव्रत तथा छह आवश्यक के धारी परम दिगम्बर मुनिराज शीतलनाथ दो उपवास के पश्चात् तीसरे दिन आहार हेतु अरिष्ट नगरी में पधारे और वहाँ के राजा पुनर्वसु ने नवधाभक्ति से अत्यन्त हर्ष पूर्वक खीर का आहारदान देकर उन्हें पारणा कराया। तीर्थकर को मुनिदशा में प्रथम आहार देनेवाले उन राजा के महाभाग्य की देवों ने भी प्रशंसा की। “अहो दान...महादान...कहकर आकाश से पुष्पवृष्टि करके दिव्यवाद्य बजाये।

शीतलनाथ प्रभु ने तीन वर्ष तक मुनिदशा में रहकर आत्मध्यान द्वारा परमात्मपद की साधना की और अन्त में पौषकृष्णा चतुर्दशी को सायंकाल केवलज्ञान प्रगट करके स्वयं परमात्मा बन गये। देवों तथा मनुष्यों ने परमात्मपद प्राप्ति का महान उत्सव किया। अरे! तिर्यच भी उन परमात्मा को देखकर आनन्दित हो उठे। नरक गति के जीवों को भी तीर्थकर के प्रभाव से दो घड़ी को साता का अनुभव हुआ और आश्चर्यचकित होकर तीर्थकर की महिमा करके उनमें से कितने ही जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। इसप्रकार शीतलनाथ प्रभु के प्रताप से नरक में भी नारकियों को सम्यक्त्व की अपूर्व शीतलता प्राप्त हुई। धन्य है तीर्थकरत्व की दिव्यता और धन्य है प्रभु का केवलज्ञानकल्याणक।

देवों ने धर्मसभा के रूप में अद्भुत समोशरण की रचना की और इन्द्र स्वयं आकर प्रभु की पूजा करके धर्मश्रवण करने बैठा। शीतलनाथ भगवान की उस धर्मसभा में इक्यासी गणधर थे, वे सप्तऋद्धि के धारक थे। चौदह सौ श्रुत केवली मुनिवर थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी थे। कुल मिलाकर एक लाख मुनिवर मोक्ष की साधना कर रहे थे। उनमें सात हजार तो प्रभु जैसे ही केवलज्ञानी अरहंत थे। वे भी समोशरण के श्रीमण्डप में पाँच हजार धनुष ऊपर प्रभु के समकक्ष ही विराजते थे।

अहा! एक साथ हजारों केवली और लाखों मुनियों के सत्समागम का वह मंगलमय दृश्य मुमुक्षुओं के चित्त में मोक्ष साधना की भावना को जाग्रत करता था। वहाँ तीन लाख आर्यिकायें और पाँच लाख श्रावक-श्राविकायें भी प्रभु का उपदेश सुनकर आनन्दपूर्वक मोक्षमार्ग में अग्रसर थे। देवों का तो कहना ही क्या? कितने ही तिर्यच भी प्रभु के दर्शन करके तथा धर्मोपदेश सुनकर आत्मज्ञान प्राप्त करके अन्तरात्मा होकर परमात्मपद की साधना करते थे।

एक जिज्ञासु को जिज्ञासा जगी - “अभी तो प्रभु का साक्षात् लाभ मिल रहा है। भगवान महावीरस्वामी के बाद कलिकाल में श्रावकधर्म का प्रतिपादन कैसा होगा और कौन करेगा ?

प्रभु की दिव्यध्वनि में आया - हे भव्य ! मूलगुणों के संदर्भ में भगवान महावीर के लगभग दो हजार वर्ष बाद जैन वाङ्मय में श्रावकधर्म का वर्णन मुख्यतः तीन प्रकार से मिलेगा -

१. ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर।
२. बारह व्रतों एवं सल्लेखना को आधार बनाकर।
३. पक्ष, चर्या और साधन को आधार बनाकर।

इन तीनों प्रकारों में प्रथम प्रकार के आधार पर प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय और आचार्य वसुनन्दि प्रमुख होंगे। जो अपने ग्रन्थों में ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का वर्णन करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द यद्यपि श्रावकधर्म के प्रतिपादन में कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखेंगे, फिर भी चारित्रपाहुड़ में श्रावकधर्म का वर्णन ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर किया जायेगा।

स्वामी कार्तिकेय भी श्रावकधर्म पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं रचेंगे, पर ‘कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में धर्मभावना के अन्तर्गत श्रावकधर्म का सविस्तार वर्णन किया जायेगा। वे भी बहुत स्पष्टरूप से ग्यारह प्रतिमाओं को ही इसका आधार बनायेंगे। इसके बाद के आचार्य वसुनन्दि भी इन्हीं का अनुसरण करेंगे।

दूसरे प्रकार में बारह व्रतों को आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों में स्वामी समन्तभद्राचार्य प्रमुख होंगे।

आचार्य समन्तभद्र श्रावकधर्म का वर्णन बारह व्रतों के आधार पर ही करेंगे। अतः व्रतों के बीच में वे मूलगुणों का वर्णन भी करेंगे। वे मूलगुणों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकेंगे। वे रत्नकरण्ड श्रावकाचार के तीसरे अध्याय के अन्त में बिना प्रसंग के ही एक श्लोक में मूलगुणों का नाम मात्र उल्लेख करेंगे।

उसमें वे मद्य-मांस-मधु के साथ पंच उदुम्बर फलों के त्याग को न कहकर पाँच पापों के त्याग की बात कहेंगे; क्योंकि पाँच पापों के स्थूल त्याग बिना हो ही नहीं सकते।

यद्यपि वे स्वयं कोई टिप्पणी नहीं करेंगे, कोई खुलासा भी नहीं करेंगे, पर उन्हीं के अनन्यतम शिष्य आचार्य शिवकोटि के कथन से इस बात की पुष्टि होगी कि उससमय पंच-उदुम्बर फलों के त्याग की बात भी मूलगुणों के संदर्भ में चलेगी, जिसका बाद के आचार्य उल्लेख करेंगे।

आचार्य शिवकोटि लिखेंगे कि मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो अबोध बालकों या अज्ञ पुरुषों के भी होता है, विवेकी जन के तो पाँचों पापों का स्थूल त्याग भी होना ही चाहिए।

इस कथन से भी यह बात सिद्ध होगी कि मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो गृहस्थ की प्राथमिक भूमिका में ही हो जाना चाहिए। भले ही उनका वर्णन चारित्र के प्रकरण में ही क्यों न हो?

श्रावकधर्म के प्रतिपादन का तीसरा प्रकार है - पक्ष, चर्या और साधन - इस आधार पर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य जिनसेन (द्वितीय) होंगे। यद्यपि वे भी श्रावकाचार पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखेंगे, पर महापुराण के ३९वें एवं ४०वें पर्व में वे पक्षचर्या व साधनरूप से श्रावकधर्म का निरूपण करेंगे। जो इसप्रकार है - पाक्षिक :- जिसे अरहंतदेव का पक्ष हो, जो जिनेन्द्र के सिवाय किसी अन्य रागी-द्वेषी देव को, निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय किसी अन्य सग्रन्थ गुरु को और वीतरागधर्म के सिवाय किसी अन्य

सरागधर्म को न माने, मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु एवं वीतराग धर्म का ही पक्ष रखता हो, उसे पाक्षिक कहते हैं।

नैष्ठिक श्रावक :- जो श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है एवं न्यायपूर्वक आजीविका करता है, उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

साधक :- जो जीवन के अन्त में काय को कृष करने के लिए विषय-कषायों को क्रमशः कम करता हुआ आहार आदि सर्वारंभ को छोड़कर परम समाधि का साधन करता है, वह साधक श्रावक है।

आचार्य जिनसेन के पश्चात् आशाधरजी तथा अन्य विद्वान इन तीनों को ही आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करेंगे।

उपर्युक्त तीनों प्रकारों में जिन्होंने ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतों को श्रावकधर्म के निरूपण का आधार बनाया है, उनमें अधिकांश ने तो अष्ट मूलगुणों की चर्चा ही नहीं की और जिन्होंने प्रसंगवश की है, उन्होंने व्रत-प्रतिमा के साथ जहाँ-जहाँ जैसा प्रसंग आया, वहाँ वैसी चर्चा कर दी।

जिन आचार्यों ने श्रावक के मूलगुणों के वर्णन में अष्ट मूलगुणों की चर्चा नहीं की, उनकी दृष्टि में भी मद्य-मांस-मधु आदि प्रथम भूमिका में ही त्याज्य हैं, क्योंकि मूलगुण कहते ही उसे हैं, जिनके धारण बिना श्रावकपना ही संभव नहीं है। जो धर्मतत्त्व को स्वयं सुनता हो, जैनधर्म में पूर्ण श्रद्धा रखता हो तथा सदाचारी हो, उसे श्रावक कहते हैं।

“प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन करना, जल छानकर पीना और रात्रि में भोजन नहीं करना - ये तीन श्रावक के मुख्य बाह्यचिह्न हैं।

जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करता है, सुपात्रों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्ग में शीघ्र गमन करता है।

अष्ट मूलगुणों के धारी सामान्य श्रावक की सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में अटूट श्रद्धा होती है। वह मद्य-मांस-मधु व पंच पापों के स्थूल त्याग के साथ दुर्गति का कारणभूत गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग कर देता है; अतः वह रागी-द्वेषी देव, सग्रंथ गुरु एवं उनके उपासकों की पूजा-उपासना एवं वन्दना नहीं करता। सच्चे धर्म का पक्षमात्र होने से उसे पाक्षिक श्रावक भी कहते हैं। श्रावक के छह आवश्यक कर्तव्यों में सत्पात्र दान और जिनेन्द्र पूजा मुख्य कर्तव्य है। “दाणं पूजा मुखं सावयधम्मो न तेण बिणा”

यद्यपि पाक्षिक श्रावक किसी व्रत का पालन नहीं करता, इस कारण वह अव्रती है, पर जिनधर्म का पक्ष होने से वह श्रावक के मूलगुणों का पालन अवश्य करता है। मूलगुणों का पालन किए बिना कोई नाममात्र से भी श्रावक नहीं कहला सकता।

“जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुणों का धारी एवं सप्त व्यसन का त्यागी हो, उसे दार्शनिक श्रावक कहा गया है।”

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवें अध्याय में “कुल द्वारा गुरुपने मानने को मिथ्याभाव” कहेंगे, पर वह अपेक्षा जुदी है और पाण्डे राजमल्लजी ने जो उपर्युक्त श्लोक में मद्य-मांस-मधु के त्याग को कुलधर्म की संज्ञा देकर इन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है - यह अपेक्षा जुदी है। दोनों में जमीन-आसमान जैसा महान अन्तर है।

पण्डित टोडरमलजी ने जहाँ/जिस प्रकरण में कुल धर्म का निषेध किया होगा, वहाँ तो अत्यन्त स्पष्टरूप से अन्य मतावलम्बियों की कुल परम्परा से गुरुपना मानने संबंधी उस मान्यता का निषेध किया है, जिसमें वे हीन आचरण करते हुए भी अपने को केवल कुल द्वारा श्रेष्ठ मानते व मनवाते हैं।

वहाँ उनका कहना है कि “हमारा कुल ही ऊँचा है, इसलिए हम सबके गुरु हैं।” पर कुल की उच्चता तो धर्मसाधन से है। यदि कोई उच्चकुल में जन्म लेकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे माने ? आदि।

और यहाँ लाठी संहिता में पाण्डे राजमल्लजी का भी यही कहना होगा कि मद्य-मांस-मधु व पंच-उदुम्बर फलों का त्याग तो जैनकुल में जन्म से ही होता है; अतः इस कुल की मर्यादा का निर्वाह तो प्रत्येक जैन को हर हाल में करना ही चाहिए।

उक्त संदर्भ में प्रश्नोत्तर शैली में किया गया उनका निम्नांकित कथन द्रष्टव्य होगा।

कदाचित् यहाँ कोई प्रश्न करे-शंका प्रगट करे कि जब कोई भी जैनी साक्षात् मद्य-मांस-मधु का सेवन करता ही नहीं है तो इतने मात्र से ही जैनों के इन आठों का त्याग सिद्ध नहीं होता ? इसप्रकार सिद्ध साधन होने से इन वस्तुओं को त्याग करानेवाला यह उपदेश क्या निरर्थक नहीं है?

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे - नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते; तथापि उनके कितने ही ऐसे अतिचार (दोष) हैं, जो अनाचार के समान हैं, इसलिए धर्मात्मा जीवों को उन अतिचारों का त्याग भी अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ - १. चमड़े के पात्र में रखे घी, तेल, पानी आदि अखाद्य-पदार्थ, अपेय-पदार्थ, विधे हुए-घुने हुए अनाज, जिनमें त्रसजीव पैदा हो जाते हैं, इन सबमें मांस खाने का दोष है, क्योंकि इनमें त्रस जीवों का मांस मिला होता है।

२. मूलगुणों में जो रात्रिभोजनत्याग को सम्मिलित किया गया है, उसके संबंध में भी निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

मूलगुणों के धारण करने में जो रात्रिभोजन का त्याग है, वह अतिचार सहित है, उसमें अतिचारों का त्याग शामिल नहीं है। जबकि रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा में अतिचार रहित त्याग होता है।

मूलगुणों में रात्रिभोजनत्याग की सीमा का उल्लेख करते हुए कहा जायेगा कि - इस व्रत में रात्रि में केवल अन्नादि स्थूल भोजनों का त्याग है, इस भूमिका में पान, जल तथा औषधि आदि का त्याग नहीं है।”

श्रावक को देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान - ये षट्कर्म प्रतिदिन करनेयोग्य हैं।

सामान्यरूप से तो पाक्षिक श्रावक में सामान्य श्रावक के सभी लक्षण पाये जाते हैं, भले ही सम्यग्दृष्टि इन्द्रियभोगों और त्रस-स्थावर हिंसा से पूर्णतः विरक्त नहीं है, पर जिनधर्म का श्रद्धानी होने से उनमें प्रवृत्त एवं अनुरक्त भी नहीं रहता। जो भी प्रवृत्ति देखी जाती है, उसमें उसे खेद वर्तता है, त्यागने की भावना रहती है।

“सामान्य श्रावक को भी अत्यावश्यक-अनिवार्य एकेन्द्रिय जीवों के घात के सिवाय अवशेष एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए और खरकर्म आदि सावद्य कर्म तो कभी करना ही नहीं चाहिए।”

सावद्य का सामान्य अर्थ है हिंसाजनक प्रवृत्ति। यद्यपि पूजा एवं जिनमंदिर का निर्माण आदि कार्य भी सावद्य है, पर ये धर्म के सहकारी व आयतन होने से कथंचित् ग्राह्य कहे गये हैं; परन्तु खरकर्म आदि जो लौकिक सावद्य व्यापार है, जिनमें बहुत जीवघात होता है, वे तो सर्वथा त्याज्य ही हैं।

पाक्षिक श्रावक जिनेन्द्रदेव संबंधी आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा को छोड़ने के लिए सबसे पहले मद्य-मांस-मधु और पंच-उदुम्बर फलों को छोड़ देता है। अपनी शक्ति को नहीं छिपानेवाला यह पाक्षिक श्रावक पाप के भय से स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के त्याग का अभ्यास करता है। यह पाक्षिक श्रावक देवपूजा आदि श्रावक के षट् आवश्यक कर्तव्यों को शक्ति के अनुसार नित्य करता है। सामान्यतः रात्रिभोजन का त्यागी होता है, किन्तु कदाचित् रात्रि में ताम्बूल लवंगादि ग्रहण कर लेता है। आरंभ आदि में संकल्पी हिंसा नहीं करता।

सावयधम्म दोहा के २४२ वें दोहे में कहा जायेगा कि पाक्षिक श्रावक मद्य-मांस-मधु का परिहार करता है, पंच-उदुम्बर फलों को नहीं खाता, क्योंकि इन आठों के अन्दर भारी त्रसजीव उत्पन्न होते हैं।”

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मूलगुणों का कथन भले ही चारित्र के प्रकरण में किया गया हो, पर ये होते तो अव्रती की प्राथमिक भूमिका में ही है। इसकारण यद्यपि ये मूलगुण संयम या चारित्र नहीं है, फिर भी महत्त्वपूर्ण है और अत्यन्त आवश्यक है।

इसप्रकार करोड़ों वर्षों तक धर्मोपदेश देकर अरबों जीवों का मिथ्यात्व छुड़वाते हुए तथा सम्यक्त्वादि रत्नों की प्राप्ति कराते हुए तीर्थंकर शीतलनाथ सम्मेदशिखर पधारे। अब मुक्त होने में उनको केवल एक माह था, इसलिए उन्होंने सम्मेदशिखर की विद्युत्वर टोंक पर स्थिरयोग धारण किया। विहार एवं वाणी रुक गई। पश्चात् अन्तिम शुक्लध्यानपूर्वक योग निरोध करके शेष कर्मों का क्षय करके प्रभु मुक्त हो गये।

अश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन देवों ने निर्वाणकल्याणक का मंगल महोत्सव मनाया। इस अवसर पर अशरीरी सिद्धों का तथा उनके अतीन्द्रिय सुख का चिन्तन करके कितने ही जीवों ने सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में वैसे ही सिद्धसुख का आस्वाद लिया और वे भी सिद्धपुर के पथिक बन गये। ॐ नमः। ●

निश्चयतः धर्मध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयों व मन के विकल्पों से, पर-पदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटाकर अखण्ड, अभेद, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप भगवान् आत्मा पर केन्द्रित करता है, अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है।

वस्तुतः धर्मध्यान ज्ञानोपयोग की वह अवस्था है, जहाँ समस्त विकल्प शमित होकर एकमात्र आत्मानुभूति ही रह जाती है, विचार-श्रृंखला रुक जाती है, चंचल चित्तवृत्तियाँ निश्चल हो जाती हैं। अखण्ड आत्मानुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय एवं ध्याता-ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता।

- इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-१४३

कोई किसी का नाथ नहीं, फिर भी तुम नाथ कहाते हो ।
 श्रेयस्कर कर्तृत्व नहीं, फिर भी श्रेयांस कहाते हो ॥
 जिनवाणी का वक्तृत्व नहीं, पर मोक्षमार्ग दर्शाते हो ।
 अरस अरूपी हो प्रभुवर! अमृत रसधार बहाते हो ॥
 यद्यपि तुम न नाथ हो, है न श्रेय कर्तव्य ।
 फिर भी श्रेयांसनाथ हो, यह व्यवहार वक्तव्य ॥

भव्य जीवों के लिए आश्रय लेनेयोग्य तीर्थकर भगवान श्रेयांसनाथ का मंगलमय चरित्र सब जीवों को श्रेयरूप हो । इस मंगल भावना के साथ श्रेयांसनाथ स्वामी का चरित्र लिखा जाता है ।

तीर्थकर श्रेयांसनाथ के कुछ प्रेरणाप्रद पूर्वभवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र महाराजा नलिन के विषय में बताते हैं कि महाराज नलिन जैनधर्म के प्रेमी तो थे ही, आत्मस्वरूप के ज्ञाता भी थे । संसार में रहकर भी जल में रहनेवाले कमल की भांति संसार से विरक्त थे । धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थों के साथ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ भी उनके निरन्तर चल रहा था । राज्यवैभव में रहते हुए भी उनकी कोई प्रवृत्ति धर्म से विरुद्ध नहीं थी । उनके श्रावक काल का जीवन भी एक आदर्श श्रावक के समान उज्ज्वल था ।

नलिनप्रभ पुष्कर द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में क्षेमपुरनगर के राजा थे । एक बार उसके राज-उद्यान में अनन्त जिनेन्द्र का शुभागमन हुआ । उनके पुण्यप्रताप के निमित्त से प्राकृतिक वातावरण आनन्ददायक हो गया । वनपाल ने आकर राजा को बधाई देते हुए हर्षपूर्वक भगवान अनन्तजिन के पदार्पण करने का समाचार सुनाया ।

राजा नलिन अत्यन्त हर्ष के साथ जिनेन्द्र के दर्शनार्थ दल-बल एवं परिवार सहित पधारे। दर्शन कर एवं तत्त्वोपदेश सुनकर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई एवं उन्होंने अपने जीवन को धन्य माना। आत्मज्ञान तो उन्हें था ही, जिनेन्द्रवाणी को सुनकर उन्हें वैराग्य भी हो गया। वे जिनचरणों में दीक्षा लेकर मुनि हो गये। द्वादशांग में से उनको ग्यारह अंग का ज्ञान हो गया और रत्नत्रय की शुद्धिपूर्वक सोलहकारण भावना भाते हुए विश्वकल्याणक की हेतुभूत वात्सल्यभावना भाने से उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बंध हो गया।

वे नलिन मुनिराज विशुद्ध चारित्र का पालन करते हुए आयु पूर्ण होने पर समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर की थी। अनेक दिव्य देवियों तथा देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव के बीच रहकर भी वे सम्यक्त्व के प्रताप से चैतन्य को कभी नहीं भूले। रागी होने पर भी उनकी चेतना राग से विरक्त रही। स्वर्ग के सुखों को भी वे अतीन्द्रिय सुख के समक्ष दुख ही मानते थे। धन्य है, उनका जीवन और धन्य है वह सम्यक्त्व की महिमा, जिसके रहते वे निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद लेते रहे। वे वहाँ भी यह भावना भाते थे कि “वह धन्य घड़ी कब आयेगी, जब मैं वीतराग पद धारणकर आत्मा की अचिन्त्य महिमा का ध्यान कर परमात्मपद प्राप्त करूँगा।”

अन्त में जब उनके स्वर्ग के दिव्यसुखों से मुक्त होकर मोक्ष की साधना हेतु मनुष्य लोक में आने के मात्र छह माह शेष रहे तो उनके स्वागत हेतु इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा रानी सुनन्दा एवं राजा विष्णु के घर सारनाथ (काशी-बनारस) में १५ माह तक रत्नों की वर्षा की गई।

गर्भ में आने के पूर्व सुनन्दा माता ने सोलह स्वप्न देखे, ९ माह और कुछ दिन पश्चात् फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन तीर्थकर का जीव माता के गर्भ से अवतरित हुआ। जन्मते ही सौधर्म इन्द्र सपरिवार ऐरावत हाथी पर बैठ गया। इन्द्राणी ने माता को मायामयी नींद में सुलाकर तथा मायामयी बालक उनकी गोद में रखकर बाल तीर्थकर श्रेयांस को जन्माभिषेक करने सुमेरुपर्वत पर ले गया। जन्माभिषेक का मंगल महोत्सव मनाया और बालक को माता की गोद में देते हुए दो नेत्रों से दर्शन कर जब तृप्त नहीं हुआ तो

विक्रिया से हजार नेत्र बनाये और दर्शन करते हुए हर्षोल्लास से भरकर ताण्डव नृत्य किया, जिसे देख प्रजा हर्ष-विभोर हो गई।

राजा ने पुत्र जन्म की खुशी में याचकों को देवों द्वारा बरसाये रत्नों का भरपूर दान देकर और महोत्सव में आये इन्द्रादि देवताओं को और मानवों को यथायोग्य सम्मान देकर विदा किया।

श्रेयांसनाथ तीर्थकर का अवतार होते ही जीवों का श्रेय प्रारंभ हो गया। उनसे पूर्व भरतक्षेत्र में असंख्य वर्षों तक जैनधर्म की धारा विच्छिन्न हो गई थी। इन्द्र उन्हें श्रेयांसनाथ नाम दें उससे पूर्व ही प्रभु के निमित्त से जीवों का श्रेय प्रारंभ हो गया। उनके चरण में गेंडा का चिह्न था। जिसप्रकार गेंडा का शरीर शस्त्रों से नहीं भिदता, उसीप्रकार श्रेयांसनाथ के अभेद्य अनेकान्त शासन को किसी भी एकान्तवादी कुचक्र से नहीं भेदा जा सकता था।

इन्द्र ने जन्माभिषेक करने के बाद स्तुति करते हुए कहा कि - “हे देव! आप इस अवतार में ही सर्वज्ञ परमात्मा होंगे और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अनेक जीवों का श्रेय करेंगे, कल्याण करेंगे। आप जीवों के हितरूप मोक्षमार्ग के पोषक हैं, इसलिए आपका श्रेयांसनाथ नाम सार्थक है।”

कुमार श्रेयांसनाथ मात्र सिंहपुरी के ही नहीं, अपितु समस्त काशी देश के गौरव थे और उनके कारण काशी देश सारी दुनिया में प्रसिद्ध था। काशी देश की प्रजा ने सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ के बाद इन बाल तीर्थकर को ही अपनी नगरी में क्रीड़ा करते देखा था। उनके मुँह से निकला - ‘हमारा जीवन धन्य है, जो ऐसे तीर्थकर प्रभु के काल में हमारा जन्म हुआ है।

आनन्दपूर्वक वृद्धिगत होते-होते जब राजकुमार श्रेयांसनाथ युवा हुए तो उनके माता-पिता ने विधिवत् विवाह किया और राज्याभिषेक करके उन्हें सिंहपुरी के राजसिंहासन पर बिठाया। यद्यपि वे धर्मात्मा राजकुमार चैतन्यसुख की श्रेष्ठता के समक्ष उस पुण्य से प्राप्त भोग सामग्री को तुच्छ ही समझते थे। तथापि उन जैसा पुण्य का प्रताप भी किसी के पास नहीं था।

वे मात्र बाह्य समृद्धि में ही नहीं; अपितु अंतरंग श्रेय मार्ग में भी वृद्धिगत थे। उनके पुण्य प्रताप से समस्त

उत्तम पदार्थों की प्राप्ति तो उन्हें स्वतः हो जाती थी। इसलिए उन्हें अर्थ प्राप्ति हेतु कुछ नहीं करना पड़ता था। मात्र मोक्ष हेतु ही उन्हें पुरुषार्थ करना था, जिसे वे राज्य संचालन के साथ करते ही रहते थे।

इसप्रकार महाराजा श्रेयांस ने अपनी गुप्त ज्ञाननिधि की सुरक्षापूर्वक ब्यालीस लाख वर्षों तक सुख से राज्य किया। चौरासी लाख वर्ष की आयु में से तीन भाग अर्थात् त्रेसठ लाख वर्ष बीत गये।

एकबार महाराजा श्रेयांसनाथ वनक्रीड़ा उद्यान में गये। माघ का महीना था। वसंत ऋतु का आगमन निकट होने से वृक्षों के पत्ते गिर गये, पुष्प पत्रों से रहित होकर वृक्षों की शोभा लुप्त हो गई। वे सोचने लगे – यह पुण्य वैभव भी क्षणभंगुर है मेरे संयोग भी छूट जायेंगे। जबतक मैं अपने असंयोगी सिद्धपद की साधना नहीं करूँगा; तबतक इस संसार में कहीं स्थिरता नहीं है। आज ही ऐसे अस्थिर संसार को छोड़कर मैं मुनि होऊँगा और अपने सिद्धपद की साधना करूँगा। पतझड़ जैसे इस पुण्य के भरोसे में बैठा नहीं रहूँगा। ध्रुवपद ही मेरा सिद्धपद है, उसे साधकर सादि-अनन्त काल तक उसमें बैठूँगा।

इसप्रकार महाराजा श्रेयांस की वैराग्यधारा वेगवती होती गई। उनकी चेतना सातवें गुणस्थान में आरोहण करने हेतु तत्पर हुई और वे श्रेयस्कर नामक पुत्र को राज्य सौंपकर बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए जिनदीक्षा हेतु उद्यमी हुए।

उसीसमय ब्रह्मलोक से लौकान्तिक देव आये, उन्होंने वैरागी श्रेयांस को वन्दन किया और वैराग्यवर्द्धक स्तुति करते हुए कहा – “अहो देव ! आप अपने नाम के अनुसार ही श्रेयरूप हैं और श्रेयमार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं; अतः आपके इस कार्य की हम अनुमोदना करते हैं। उस अवसर के अनुकूल विमलप्रभा पालकी लेकर देवों सहित इन्द्र वहाँ आ गये और वैरागी राजा श्रेयांस उस पालकी में आरूढ़ हुए। पहले उस पालकी को मानवों ने उठाया, फिर देवगण उस पालकी को लेकर उद्यान में पहुँचे और वस्त्राभूषण आदि समस्त राज वैभव का त्याग किया। नमः सिद्धेभ्यः कहकर सिद्ध भगवन्तों को स्मरण करके स्वयंभू मुनीश्वर श्रेयांसनाथ ने केशलुंचन किया। पश्चात् एकत्व भावना में झूलते हुए आत्मचिन्तन में एकाग्र हुए तथा उसी क्षण चिदानन्द तत्त्व में लीन होकर शुद्धोपयोगरूप परिणमित हो गये।

अहा! उन परम वीतरागी मुनिराज श्रेयांसनाथ की परमशांत मुद्रा के दर्शन कर इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यच भी अपने चित्त में अनुपम शान्ति का अनुभव करने लगे। सिंह और शशक, सर्प और नेवला अपना बैर भाव छोड़कर मुनिराज के चरणों में एकसाथ बैठ गये। किसी के मन में क्रूरता एवं भय नहीं था।

सभी अपनी क्रूरता और भय को भूलकर अत्यन्त शान्ति से प्रभु की वीतराग छवि निहार रहे थे। उससमय हजारों लोगों ने वैराग्य भावना से विभोर होकर श्रावक के व्रत लिए और अनेक जीवों ने आत्मज्ञान प्राप्त किया। धन्य हुआ मुनिराज श्रेयांसनाथ का दीक्षा कल्याणक महोत्सव, जिसके निमित्त से लाखों जीवों का कल्याण हुआ।

ध्यानस्थ मुनिराज श्रेयांस को सातवाँ गुणस्थान, दिव्य मनःपर्ययज्ञान तथा सात महाऋद्धियाँ प्रगट हुईं। दो दिन उपवास के बाद मुनि श्रेयांस आहारचर्या को निकले। सिद्धार्थ नगर में नन्द राजा ने भक्ति सहित प्रथम पारणा कराया। राजा के पुण्योदय से देवों ने दुन्दुभि वाद्य बजाये और रत्नवृष्टि की।

महामुनि श्रेयांस ने लगभग दो वर्ष तक मौन साधनापूर्वक विहार किया। तत्पश्चात् पुनः अपनी जन्म नगरी सिंहपुर (सारनाथ) पधारे। जिस मनोहर उद्यान में दीक्षा ली थी उसी एक उद्यान में एक के नीचे दो दिन उपवास रखकर ध्यानस्थ हुए और परमशान्त भाव से शुद्धोपयोग द्वारा विकारों का शमन करते हुए वीतरागी हो गये तथा केवलज्ञान को प्राप्तकर सर्वज्ञ परमात्मा बन गये।

केवलज्ञानकल्याणक का महोत्सव मनाने हेतु इन्द्रगण सिंहपुरी नगरी में पहुँचे। एक ही नगरी में तीर्थकर श्रेयांसनाथ के चार कल्याणक हुए। धन्य है वह नगरी, जिसे चार-चार कल्याणक मनाने का मंगल अवसर मिला। दो घड़ी में इन्द्र द्वारा समोशरण की रचना हो गई। तीर्थकर प्रभु की धर्मसभा में भव्य जीवों का समूह आया, जिसमें देव, मनुष्य, तिर्यच आदि सभी आये और शान्ति से धर्मोपदेश सुनने लगे।

तीर्थकर भगवान श्रेयांसनाथ की दिव्यध्वनि में आया - “सम्पूर्ण जैनसमाज में सर्वाधिक श्रद्धास्पद, करोड़ों कण्ठों से प्रतिदिन अनेकानेक बार उच्चरित इस णमोकार महामंत्र में सीधे-सादे अनलंकृत शब्दों

में वीतरागी पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। न तो इसमें बीजाक्षरों का प्रयोग हुआ है और न कुछ गुहा ही है, सबकुछ एकदम स्पष्ट है।

लौकिक कामनाओं से ग्रस्त चमत्कारप्रिय जगत को ऐसा लगता है कि यह कैसा महामंत्र है, जिसमें न तो “ॐ ह्रां ह्रीं” आदि बीजाक्षरों का घटाटोप है और न संकटों के मोचन एवं सम्पत्तियों के उपलब्धि की ही चर्चा है। सर्वसुलभ इस महामंत्र में ऐसा क्या है, जिसके कारण यह साधारण-सा मंगलाचरण सर्वमान्य महामंत्र बन गया, कोटि-कोटि कण्ठों का कण्ठहार बन गया ?

यह तो सर्व विदित ही है कि इस महामंत्र की सरलता, सहजग्राह्यता एवं निष्काम वन्दना ही इसकी महानता का मूल कारण है। मात्र इस महामंत्र की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वीतरागी जैनदर्शन की भी यही महानता है कि वह कामनाओं की पूर्ति में नहीं, बल्कि कामनाओं के नाश में आनन्द मानता है; विषयभोगों की उपलब्धि में नहीं, उनके त्याग में आनन्द मानता है। जगत के सहज स्वाभाविक परिणामन को वस्तु का स्वभाव माननेवाले अकर्तावादी जैनदर्शन में चमत्कारों को कोई स्थान नहीं है। वीतरागी पंच-परमेष्ठियों के उपासक सच्चे जैन वीतरागी भगवान से वीतरागता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं - जैनदर्शन का यह परम सत्य ही इस महामंत्र में प्रस्फुटित हुआ है।

इस महामंत्र की महिमावाचक जो सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वाधिक प्रचलित गाथा उपलब्ध होती है, उसमें भी यही कहा गया है कि “यह मंत्र सब पापों का नाश करनेवाला और सब मंगलों में पहला मंगल है।” इस गाथा के किसी भी शब्द से यह व्यक्त नहीं होता है कि यह महामंत्र शत्रुविनाशक या विषयभोग प्रदाता है। यह महामंत्र शत्रुनाशक तो नहीं, शत्रुता नाशक अवश्य है; इसीप्रकार विषयभोग प्रदाता तो नहीं, विषयवासना विनाशक अवश्य है।

यह महामंत्र भौतिक मंत्र नहीं है, आध्यात्मिक महामंत्र है; क्योंकि उसमें आध्यात्मिक पराकाष्ठा को प्राप्त पंच परमेष्ठियों को स्मरण किया गया है; अतः इसकी महानता भी भौतिक उपलब्धियों में नहीं, आध्यात्मिक चरमोपलब्धि में है। अतः इसका उपयोग भी भौतिक उपलब्धियों की कामना से न किया

जाकर आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए किया जाता है और किया जाना चाहिए। भौतिक अनुकूलता की वांछा से इसका उपयोग करना कौआ को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न को फेंक देने के समान है।

मोह-राग-द्वेष के नाश करने के लिए यह परमौषधि है, विषय-वासनारूपी विष को उतारने के लिए यह नागदमनी जड़ी-बूटी है, भवसागर से पार उतारने के लिए यह अद्भुत अपूर्व जहाज है। अधिक क्या कहें, निजात्मा के ध्यान से च्युत होने पर एकमात्र शरणभूत यही महामंत्र है। इसमें जिन्हें नमस्कार किया गया है, वे पंच परमेष्ठी ही हैं। विषय-वासनाओं से विरक्त ज्ञानी धर्मात्माओं को शरणभूत एकमात्र यही महामंत्र तो है, जिसमें निष्कामभाव से आध्यात्मिक चरमोपलब्धि के प्रति नतमस्तक हो गया है।

भले ही गाथाबद्ध महामंत्र की शाब्दिक रचना किसी काल-विशेष में किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा की गई हो, तथापि यह महामंत्र अपनी विषयवस्तु एवं भावना की दृष्टि से सार्वकालिक अनादि-अनन्त एवं सार्वभौमिक है; क्योंकि इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके पंच-परमपदों को नमस्कार किया गया है। ये परमपद सार्वकालिक हैं; अतः यह महामंत्र भी सार्वकालिक ही है। सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी होने से यह सार्वभौमिक भी है।

दैवयोग से यह भी एक सहज संयोग ही समझिए कि इस महामंत्र की शाब्दिक संरचना भी इसप्रकार की संगठित हुई है कि जिसमें द्रव्यश्रुत के सभी वर्ण (अक्षर) आ गये हैं।

प्राकृतभाषा के नियमानुसार तो इस महामंत्र में इस भाषा के चारों मूल स्वर (अ, इ, उ, और ए) तथा बारह व्यंजन (ज, झ, ण, त, द, ध, र, ल, व, स और ह) निहित हैं ही, संस्कृत वर्णमाला के अनुसार भी “अर्हताणं” के “अर्ह” पद में वर्णमाला के प्रारंभिक “अ” एवं अन्तिम वर्ण “ह” आ जाने से सम्पूर्ण वर्णमाला का प्रतिनिधित्व हो गया है।

इसके अतिरिक्त इस महामंत्र में पाँच पद एवं पाँचों पदों में पैंतीस अक्षर हैं। पहले - ‘णमो अरिहंताणं’ पद में ७, दूसरे - ‘णमो सिद्धाणं’ में ५, तीसरे - ‘णमो आइरियाणं’ में ७, चौथे - ‘णमो उवज्झायाणं’

में ७ और पाँचवें - 'णमो लोए सव्व साहूणं' पद में ९ अक्षर हैं। इसप्रकार कुल ७+५+७+७+९=३५ अक्षर हुए। इनमें ३० तो स्वरसंयुक्त व्यंजन हैं और ५ स्वतंत्र स्वर हैं। इनके स्वर व व्यंजनों का विश्लेषण करके देखें तो इनमें से मंत्रशास्त्र के व्याकरण के नियमानुसार प्रथम पद के अरहंताणं के "अ" का लोप हो जाता है, अतः स्वर ३४ एवं स्वर संयुक्त व्यंजन ३० हैं, इसप्रकार कुल मिलाकर इस मंत्र में ६४ अक्षर होते हैं और पूरी वर्णमाला में भी ६४ अक्षर होते हैं।

इसतरह वर्णमाला की संख्या की अपेक्षा भी इस महामंत्र में द्रव्यश्रुत की पूरी वर्णमाला आ जाती है।

अतः द्रव्यश्रुत की सम्पूर्ण वर्णमाला की दृष्टि से भी णमोकार मंत्र का जाप करने से द्वादशांग का पारायण (पाठ) हो जाता है। इस अपेक्षा से भी णमोकार मंत्र को सम्पूर्ण द्वादशांग का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है; परन्तु यह अपेक्षा जिनागम में अत्यन्त गौण है; क्योंकि जैनधर्म आत्मा का धर्म है, इसमें भावों की प्रधानता है, तत्त्वज्ञान की मुख्यता है। आत्मा के योग व उपयोग के स्वभावसन्मुख हुए बिना, तत्त्वज्ञान हुए बिना केवल मंत्रोच्चारण अधिक कार्यकारी नहीं होता; अतः णमोकार मंत्र के माध्यम से पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो व्यक्ति अपने आत्मा में अपना उपयोग स्थिर करता है, वही इस मंत्र के असली लाभ से लाभान्वित होता है।

यद्यपि पुराणों में प्रयोजनवश प्रथमानुयोग की कथन पद्धति के अनुसार णमोकार मंत्र के माहात्म्य के वर्णन एवं तत्संबंधी कथाओं में अनेक जगह यह भाव प्रगट किया गया है कि - इस महामंत्र के स्मरण से समस्त लौकिक कामनाओं, सुख-समृद्धियों की पूर्ति होती है तथा परलोक से स्वर्गादि की सुख-सम्पदायें प्राप्त होती हैं; किन्तु वस्तुतः वह लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति का मंत्र नहीं, बल्कि उन्हें समाप्त करनेवाला महामंत्र है। वस्तुतः देखा जाय तो इस महामंत्र के विवेकी आराधकों के लौकिक कामनायें होती ही नहीं हैं, होना भी नहीं चाहिए; क्योंकि इसमें जिन्हें स्मरण व नमन किया गया है, वे सभी स्वयं वीतरागी; महान आत्मायें हैं, वे न किसी का भला-बुरा करते हैं, न कर सकते हैं। पंचपरमेष्ठी की

शरण में आने पर जब लौकिक कामनायें स्वतः क्षीण ही हो जाती हैं, तो फिर उनकी पूर्ति का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

यह बात जुदी है कि पंचपरमेष्ठी के निष्काम उपासकों को भी सातिशय पुण्य बंध होने से लौकिक अनुकूलतायें भी स्वतः मिलती देखी जाती हैं तथा वे उन अनुकूलताओं को एवं सुख-सुविधाओं को स्वीकार करते हुए उनका उपभोग करते हुए भी देखे जाते हैं, किन्तु सहज प्राप्त उपलब्धियों को स्वीकार करना अलग बात है और उनकी कामना करना अलग बात। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है।

आतिथ्य-सत्कार में नाना मिष्टान्तों का प्राप्त होना और उन्हें सहज स्वीकार कर लेना जुदी बात है और उनकी याचना करना जुदी बात है। दोनों को एक नजर से नहीं देखा जा सकता। ज्ञानी अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण पुण्योदय से प्राप्त अनुकूलता के साथ समझौता तो सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु वे पुण्य की या पुण्य के फल की भीख भगवान से नहीं माँगते। मंत्र की आराधना के काल में संयोगवशात् जब किसी को लौकिक सुख-सामग्री या समृद्धि प्राप्त हो जाती है तो दोनों का समकाल होने से ऐसी भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि यह समृद्धि इस मंत्र के प्रसाद से हुई है। बिल्ली का झपटना और स्वतः जीण-शीर्ण छींके का टूटना कभी-कभी एक काल में हो जाता है, तब भी यही कहा जाता है कि बिल्ली ने छींका तोड़ दिया। बिल्ली रोज झपटती थी और छींका आजतक नहीं टूटा। यदि उसके झपटने से ही छींका टूटा है तो कलतक क्यों नहीं टूटा ? इसीप्रकार वही मंत्र वर्षों से पढ़ते आ रहे हैं और आजतक कुछ लौकिक लाभ नहीं हुआ। यदि उसी से होता था तो अबतक तो कभी का हो जाना चाहिए था।

हाँ, यह बात अवश्य है कि मंत्राराधना के काल में शुभोपयोग होने से सातिशय पुण्यबंध होता है, उस पुण्य के उदयकाल में धर्माचरण के लिए लौकिक अनुकूलतायें सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

णमोकार मंत्र की आराधना का अन्तिम फल तो अपवर्ग की उपलब्धि ही है; किन्तु इसकी आराधना के मार्ग में बहुत सारी लौकिक उपलब्धियाँ भी प्राप्त होती रहती हैं, जो समय-समय पर उसकी महिमा

बढ़ाने में जुड़ती रहती हैं। उन उपलब्धियों का मूल कारण पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से प्राप्त कषाय की सहज मन्दता एवं उससे प्राप्त पुण्य का उदय है, बस यही णमोकार मंत्र का चमत्कार है।

मोक्षमार्ग के उपदेश में श्रेयांसनाथस्वामी की दिव्यध्वनि में आया कि “हे भव्य जीवो! जैस चेतना स्वभाव हमारे आत्मा का है वैसा ही तुम्हारे आत्मा का है एवं सुख के निधान उसी से भरे हैं, अतः सुख की अनुभूति हेतु स्वयं अपने आत्मा को देखें।”

यह सुनकर अनेक निकट भव्य श्रोताओं ने उत्साहित हो आत्मावलोकन का अन्तर्मुखी पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। अनेकों रत्नत्रय धारण कर मुनि हो गये।

भगवान श्रेयांसनाथ ने भरत क्षेत्र के अनेक देशों में इक्कीस लाख वर्ष तक समोशरण सहित विहार किया। धर्म देशना द्वारा करोड़ों जीवों को कल्याण मार्ग में लगाया। अन्त में आयु का एक मास शेष रहने पर सम्मेदशिखर की संकुल कूट पर पधारे। वहाँ वाणी रुक गई। श्रावण पूर्णिमा के दिन अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों द्वारा शेष कर्म भी क्षय हो गये और उनका निर्वाण हो गया। देवों द्वारा उनका मोक्षकल्याणक महोत्सव मनाया गया।

जो पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में नलिन राजा थे, वही वहाँ से सोलहवें स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए। पश्चात् ग्यारहवें तीर्थकर के रूप में सिंहपुर में अवतरित होकर जीवों के कल्याण में निमित्त बन कर अन्त में सम्मेदशिखर से मुक्त हुए।

कितने सुखी हैं वे

यह रूप-लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते हैं, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुन्दर लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे ?

— इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-५३

वस्तुस्वातंत्र्य सिद्धान्त महा, कण-कण स्वतंत्र बतलाता है।
फिर कोई किसी का कर्ता बन, कैसे सुख-दुःख का दाता है?
हो वीतराग सर्वज्ञ हितंकर, अतः बन गये परम पूज्य।
सौ इन्द्रों द्वारा पूज्य प्रभो! इसलिए कहाये वासुपूज्य ॥

हे प्रभो ! लोक में गंगा नदी की पूजा गंगाजल से होती है, सूर्य की पूजा दीपक से होती है; अतः मैं भी आपके केवलज्ञान की पूजा अपने अल्पज्ञान से करता हूँ। आपने जगत को न केवल जन-जन की, बल्कि कण-कण की स्वतंत्रता का सिद्धान्त बताया है और यह भी बतलाया है कि जगत में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है, इसलिए यह तो मैं मंगल कामना कर नहीं सकता कि आप हमें सुख प्रदान करें; पर मैं इतना जानता हूँ कि यदि मैं आपके वीतरागी व्यक्तित्व को पहचान लूँ, सर्वज्ञ स्वभाव को जान लूँ तो आप तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सर्व हितंकर बनने में समर्थ निमित्त बनते हो, अतः मैं आपको शत्-शत् वन्दन करता हूँ। प्रभो ! आप सौ-सौ इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय हो; इसलिए आपका वासुपूज्य नाम सचमुच सार्थक है।

वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में पाँच तीर्थंकर बालयति हुए हैं, उनमें एक आप भी हैं। आपके पाँचों कल्याणक अंगदेश की नगरी चम्पापुरी में हुए हैं, इसकारण वह क्षेत्र भी परमपूज्य बन गया है। वहाँ की वन्दनार्थ जो जाते हैं, उन्हें ऐसा लगता है कि बालयति वासुपूज्य सिद्धालय में हमारे मस्तक पर ही विराजमान हैं।

ऐसे परम पूज्य तीर्थंकर वासुपूज्य के पूर्वभवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि

वासुपूज्य अपने पूर्वभव में पुष्करवर द्वीप में रत्नपुरी नगरी के महाराजा थे, तब आपका नाम पद्मोत्तर था। आपकी रत्नपुरी नगरी में सम्यक्त्वादि रत्न के धारक धर्मात्मा जीव निवास करते थे। आप प्रजा के लिए कल्पवृक्ष के समान थे। शास्त्रों के मर्मज्ञ थे और जैनधर्म की उपासना द्वारा आत्मतत्त्व को जानकर मोक्षमार्ग में अग्रसर थे। आपकी नगरी में धार्मिक और नैतिक वातावरण था। धर्मात्माओं और गुणीजनों के प्रति आपका श्रद्धा एवं वात्सल्य भाव था तथा मोक्ष की पूर्ण साधना के लिए संयम की भावना भी आपके चित्त में सदैव वर्तती थी।

“उपादान के अनुसार निमित्त तो सहज मिल ही जाते हैं, इस उक्ति के अनुसार राजा पद्मोत्तर को भी एक बार ऐसे उत्तम निमित्त का सुयोग मिला कि उनकी रत्नपुरी के मनोहर उद्यान में ही युगन्धर जिनराज का शुभागमन हुआ।

परमभक्तिभाव से जिनराज के दर्शन करने से राजा पद्मोत्तर का चित्त अतिप्रसन्न हुआ। प्रभु की वाणी से महाराज पद्मोत्तर ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग का उपदेश सुना। उसमें साधु की वीतरागता का स्वरूप सुनकर वे गद्गद् हो गये। साधु के स्वरूप में कहा जा रहा था कि “जिनके विषयों की आशा समूल समाप्त हो गई है, जो हिंसोत्पादक आरंभ और परिग्रह से सर्वथा दूर ही रहते हैं तथा ज्ञान-ध्यान व तप में लीन रहते हुए निरन्तर निजस्वभाव को साधते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं।”

साधु परमेष्ठी की नियमित सहज आचरणीय दैनिक चर्या को साधु के मूलगुण कहे गये हैं, वे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय विजय, छह आवश्यक और शेष सप्त गुण – इसप्रकार २८ मूलगुण हैं। तात्पर्य यह है कि साधु की दैनिक सहज चर्या को २८ मूलगुण कहते हैं, न कि वे २८ मूलगुणों को भारभूत पालते हैं। साधु परमेष्ठी के पास संयम का उपकरण पिच्छी, शुद्धि का उपकरण कमण्डल एवं ज्ञान का उपकरण शास्त्र के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार के वस्त्रादि परिग्रह नहीं होते हैं।

१. विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः, ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-१०

“मुनियों के संज्वलन कषाय संबंधी किंचित् राग होने से गमनादि क्रियायें होती हैं; किन्तु अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते। इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है।”

इसीप्रकार उपर्युक्त कषायों का अभाव हो जाने से मुनिराज दूसरों को पीड़ाकारक कर्कश-निंद्य वचन कभी नहीं बोलते। जब भी बोलते हैं हित-मित-प्रिय और संशयरहित मिथ्यात्वरूप रोग को नाश करनेवाले वचन ही बोलते हैं। उनकी इसप्रकार की वाचिक क्रिया को भाषा समिति कहते हैं।

ध्यान, अध्ययन व तप में बाधा उत्पन्न करनेवाली क्षुधा-तृषा के लगने पर तपश्चरणादि की वृद्धि के लिए मुनिराज ४६ दोषों से रहित, ३२ अन्तराय और १४ मल दोष टालकर कुलीन श्रावक के घर दिन में खड़े-खड़े एक बार जो अनुदिष्ट आहार करते हैं, उसे ऐषणा समिति कहते हैं।

मुनिराज अपने शुद्धि, संयम और ज्ञानसाधन के उपकरण कमण्डलु-पीछी और शास्त्र को सावधानी पूर्वक इसतरह देख-भालकर उठाते-रखते हैं कि जिससे किसी भी जीव को किंचित् भी बाधा न हो 'मुनि की इस प्रमादरहित क्रिया को आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं।

साधु ऐसे स्थान पर मल-मूत्र एवं कफ आदि क्षेपण करते हैं, जो स्थान निर्जन्तुक हो, अचित्त हो, एकान्त हो, निर्जन हो, पर के अवरोध (रोक-टोक) से रहित हो तथा जहाँ बिल व छिद्र न हों। उनकी यह क्रिया प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि ये सब क्रियायें साधु के जीवन में सहज होती हैं। उन्हें ये क्रियायें खेंच कर और सोच-सोचकर नहीं करनी पड़ती हैं। वे क्रियायें उनके जीवन चर्या के अभिन्न अंग बन जाती हैं, इसकारण उनके पालन में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती; बल्कि ऐसा करते हुए वे समय-समय में हर अन्तर्मुहूर्त में स्वरूप स्थिर होकर अकथनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

मुनिराज अपनी रुचि के अनुकूल सुहावने लगनेवाले पंचेन्द्रियों के विषयों में अनुराग नहीं करते, हर्षित नहीं होते तथा असुहावने लगनेवाले इन्द्रिय विषयों से द्वेष नहीं करते, घ्रणा या असंतोष प्रगट नहीं करते। दोनों परिस्थितियों में एक-सा साम्य भाव रखते हैं। इन्द्रिय विषयों से संबंधित उनके इस समताभाव को पंचेन्द्रियजय मूलगुण कहा जाता है।

वीतरागी मुनिराज सदा त्रिकाल सामायिक, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते हैं, उनकी ये क्रियायें प्रतिदिन अवश्य करने योग्य होने से 'आवश्यक' कहलाती हैं। इन्हें भी मुनिराज सहज भाव से स्वाधीनता पूर्वक ही करते हैं। बाध्यता से नहीं।

वस्तुतः मुनिराज की सहज जीवनचर्या-दिनचर्या का ही दूसरा नाम २८ मूलगुण है। मुनिराज की जो शुभभावरूप सहज बाह्य प्रवृत्ति होती है, वह २८ मूलगुण रूप ही होती है। अशुभभाव का तो उनके अस्तित्व ही नहीं होता। बस, यही दिगम्बर जैनमुनि की बाह्य पहचान है। 'णमो लोए सब्ब साहूणं' में मात्र इन्हीं को नमस्कार किया गया है। जब हम 'णमो लोए सब्ब साहूणं' पद बोलते हैं तब सच्चे साधु का उपर्युक्त साकार रूप हमारे मानस-पटल पर अंकित होता हुआ भासित होना चाहिए और आँखों के सामने मानो साक्षात् ऐसे संत खड़े हैं - ऐसा प्रतीत होना चाहिए।

ऐसे मुनिधर्म के धारक सामान्य-साधु मुख्यरूप से तो आत्मस्वरूप को ही साधते हैं तथा बाह्य में २८ मूलगुणों को निरतिचार रूप से अखण्डित पालते हैं। समस्त आरंभ और अंतरंग व बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं। सदा ज्ञान-ध्यान में लवलीन रहते हैं। सांसारिक प्रपंचों से सदा दूर रहते हैं।”

इसप्रकार युगन्धर जिनराज से साधु का स्वरूप सुनकर संसार की अनित्यता, अशरणता आदि का चिन्तन करने लगे। उन्होंने संकल्प किया कि - “अपने चैतन्य के एकत्व से जो अबतक पराङ्मुख रहे, अब उसी के सन्मुख होकर आत्मा की साधना करेंगे। अरे! इन अस्थिर, क्षणभंगुर तथा आकुलता के निमित्तरूप इन इन्द्रिय विषयों में क्या राग रखना ? ये कभी भी तृप्ति देनेवाले नहीं हैं। तृप्ति तो अन्तर्मुख

उपयोग द्वारा चैतन्य की शान्ति में ही है” ऐसे वैराग्यमय विचार पूर्वक पद्मोत्तर राजा ने युगन्धरस्वामी से जिनदीक्षा ली। अब राजा पद्मोत्तर मुनिराज पद्मोत्तर हो गए और आत्मध्यान में लवलीन रहने लगे। उनके परिणामों की विशुद्धता भी वृद्धिगत होने लगी। सोलह कारण भावना भाकर उन्होंने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया।

तत्पश्चात् वे रत्नत्रय की अखण्ड साधना सहित समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र हुए। इन्द्र पर्याय में सोलह सागर तक रहे। वहाँ पद्मलेश्या थी, सोलह हजार वर्ष में मानसिक आहार लेते थे। सदैव चैतन्यामृत का अनुभव होने से पौद्गलिक अमृत की अभिलाषा शान्त हो गई थी। अनेक देवांगनाओं के साथ रहने पर भी उनके साथ मात्र परस्पर मधुर शब्दों से ही उनकी वासनार्यें शान्त हो जाती थीं।

इससे सिद्ध होता है कि जिसका चित्त स्वयं तृप्त है, उसको बाह्य विषयभोग निरर्थक हैं। विषय-भोगों की ओर तो दुःखी आकुलित जीव ही दौड़ लगाते हैं।

शास्त्र कहते हैं कि ‘चारों गतियों में दुःख ही दुःख है।’ यद्यपि यह बात सही है; किन्तु यह अज्ञानियों की बात है। आत्मज्ञानी को तो सर्वत्र सुख ही सुख है; क्योंकि सुख का सागर तो स्वयं आत्मा है, बाहर विषयों में कहीं सुख नहीं है। यह उन्होंने जान लिया है। वहाँ अहमेन्द्र के भव में उन्होंने असंख्य तीर्थकरों के पंच कल्याणक महोत्सव मनाये और स्वर्ग में धर्मचर्चा द्वारा कितने ही देवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई।

इसप्रकार आत्मसाधना सहित अपने महाशुक्र स्वर्ग के इन्द्र की पर्याय में तीर्थकर वासुपूज्य के जीव ने असंख्यात वर्ष व्यतीत किए। जब उस देव के पृथ्वी पर आकर तीर्थकर पर्याय में आने का समय हुआ तो कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से चम्पापुर में रत्नों की वर्षा की, जो उनके जन्म तक १५ माह बरसाये गये।

चम्पापुरी नगरी की शोभा अद्भुत तो थी ही; उसमें भरतक्षेत्र के बारहवें तीर्थकर के रूप में वासुपूज्य का अवतार होना था, इसलिए उसकी शोभा में दिव्यता आ गयी। स्वयं कुबेर उस नगरी का शृंगार करने लगा। वह चम्पापुरी नगरी अंगदेश की राजधानी थी और वहाँ के महाभाग्यवान महाराजा थे वासुपूज्य। वे

इक्ष्वाकुवंशी थे; उनकी महारानी का नाम जयावती था। आषाढ कृष्णा षष्ठी के उत्तम दिन जब उन जयावती महारानी ने सोलह मंगल स्वप्न देखे और तीर्थंकर वासुपूज्य का जीव स्वर्गलोक को छोड़कर माता जयावती की कुक्षि में अवतरित हुआ। उससमय इन्द्रों ने आकर महाराजा वसुपूज्य तथा महारानी जयावती को तीर्थंकर के माता-पिता होने के कारण सम्मान दिया। आपकी माता रत्नकुक्षिधारिणी बनीं, इतना ही नहीं, समस्त चम्पानगरी रत्नवती बन गई। प्रभु के अवतार से बाह्य दरिद्रता तो दूर हुई थी तथा जो धार्मिक दरिद्रता भरतक्षेत्र में आ गई थी वह भी नष्ट हो गई; क्योंकि प्रभु के अवतार से पूर्व और श्रेयांसप्रभु के शासन के बाद करोड़ों-अरबों वर्ष तक भरतक्षेत्र में जैनधर्म का जो विच्छेद हो गया था, वह दूर हुआ और पुनः धर्मशासन प्रारम्भ हो गया।

भक्त भगवान वासुपूज्य को संबोधते हुए कह रहा है कि “हे देव ! फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन चम्पापुरी में आपका जन्म हुआ। आपके जन्म के हर्षोल्लास से देवलोक भी कम्पित हो उठा और इन्द्रासन डोलने लगा। देव और इन्द्रों ने आकर आपके जन्म का महोत्सव मनाया। धन्य हुई चम्पानगरी और धन्य हुआ भारतदेश! वासु अर्थात् इन्द्रों के द्वारा पूजित होने से आप सचमुच ‘वासुपूज्य’ थे और इन्द्र ने आपका नाम भी ‘वासुपूज्य’ रखा। आपका चरणचिह्न ‘भैंसा’ था। आपकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी। जन्माभिषेक के पश्चात् स्वयं इन्द्राणी ने स्वर्गलोक के आभूषणों से आपका शृंगार किया।

अरे, आपका शरीर तो स्वयमेव सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता को प्राप्त था ही, उसकी शोभा के लिए आभूषणों की कहाँ जरूरत थी? आपकी शोभा कहीं उन आभूषणों से नहीं थी, उलटे आपके स्पर्श से वे आभूषण भी सुशोभित हो उठे। माता-पिता के हर्ष की तो कोई सीमा नहीं थी। आप जैसे बाल-तीर्थंकर जिनकी गोद में विराजते हों और आंगन में खेलते हों, उनके परमभाग्य की क्या बात! समस्त राज्य में गुण-वैभव की वृद्धि होने लगी।”

“यद्यपि आपके माता-पिता को पुत्रवधू का सुख देखने की अतिलालसा थी; परन्तु उन्हें आपने निराश

किया। निराश करने पर भी आपने अकेले ही अपने दिव्यरूप-गुणों द्वारा माता-पिता को ऐसी तृप्ति दी कि उन्हें कोई खेद नहीं हुआ। 'विषय-भोगों के बिना ही सुख और आनन्द होता है' - वह आपने अपने जीवन द्वारा जगत को बतला दिया। चम्पानगरी के युवराज के रूप में आप अठारह लाख वर्ष तक रहे, तथापि चैतन्यवैभव से रंगा हुआ आपका चित्त राजवैभव से नहीं रंगा था, उससे अलिप्त ही रहता था। अपने श्रीमुख से अनेकप्रकार की धर्मचर्चा द्वारा तथा अपनी दिव्यमुद्रा के दर्शनों से माता-पिता एवं प्रजाजनों में आपने सर्वत्र आनन्द प्रसारित किया।”

तत्पश्चात् एकबार फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी आई। वह तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य का जन्म का मंगल दिवस था। प्रजाजनों ने जन्मोत्सव खूब धूमधाम से मनाया। स्वर्गलोक से अनेक पूर्वपरिचित देवमित्र भी जन्मोत्सव में आये। उससमय चम्पानगरी का शृंगार वास्तव में अद्भुत था। लोग नृत्य-गान द्वारा अपना हर्षोल्लास व्यक्त कर रहे थे। प्रभु सब ठाठ-बाट देख रहे थे, परन्तु उनका चित्त कहीं अन्तर की गड़राई में उतर रहा था। इतने में उस शोभा को देखते-देखते अचानक पूर्वभव में इन्द्रलोक में देखी हुई अद्भुत शोभा का स्मरण हुआ; जातिस्मरण ज्ञान में अपने पूर्वभव का इन्द्रभव तथा उससे पहले के पद्मोत्तर राजा का भव उनको साक्षात् जैसा ही दिखाई दिया। तुरन्त ही आपका चित्त संसार से विरक्त हुआ कि 'अरे, कहाँ गये स्वर्गलोक के वे दिव्यवैभव ! और कहाँ गया वह दिव्य शरीर ! इन क्षणभंगुर विषयों तथा शरीर में आसक्ति कैसी ? निर्बुद्धि जीव व्यर्थ ही विषयों में आसक्त होकर संसार में भ्रमण करते हैं। शरीर भले ही चाहे कितना सुन्दर हो, निरोगी हो, शोभायमान हो, असंख्यात वर्ष की आकुलता हो, तथापि चैतन्य को बन्धन किसलिए करना ? उन्होंने सोचा - “मैं शरीर और संयोगों के मोह बंधन को तोड़कर अपने आत्मा को इस भव-भ्रमण से मुक्त करूँगा। मेरी चेतना अब जाग्रत हो उठी है, इसलिए आज ही संसार को त्यागकर मोक्ष की साधना के हित मैं मुनिदशा अंगीकार करूँगा।”

ऐसे उत्तम वैराग्य विचारों द्वारा प्रभु ने तो जन्मदिन को दीक्षा का दिन बना दिया, हर्ष के अवसर को

परम वैराग्य का अवसर बना दिया; तुरन्त जिनदीक्षा लेने का उन्होंने अटल निर्णय किया। लोग आश्चर्य में पड़ गये कि 'अरे, अचानक यह कैसा महापरिवर्तन हुआ ?' माता-पिता भी विस्मित हो गये। वासुपूज्य की वैराग्य-परिणति को वे जानते ही थे और यह भी जानते थे कि वे तीर्थंकर होने के लिए अवतरित हुए हैं। इसलिए मुनिमार्ग में जाते हुए आपको रोकने की उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की। 'हमारा पुत्र अब परमात्मा बनने के लिए मोक्षमार्ग में आगे बढ़ रहा है' - ऐसा समझकर वे अनुमोदना सहित मौन रहे; उन्होंने न खेद किया, न हर्ष।

वासुपूज्य तो चैतन्यरस में निमग्न होकर वैराग्य भावनाओं का चिन्तन कर रहे थे। उसीसमय ब्रह्मलोक से लौकान्तिक देव चम्पापुरी में आये और उनके वैराग्य की प्रशंसा करके स्तुति की। उसीसमय स्वर्ग के देव 'रत्नमाला' नामक पालकी लेकर दीक्षाकल्याणक मनाने के लिए आ पहुँचे और दीक्षा प्रसंग का अभिषेक, शृंगार आदि मंगलविधि की। विरागी वासुपूज्य 'रत्नमाला' पालकी में आरूढ़ होकर 'रत्नत्रय' की माला पहनने के लिए वन में चल दिए। मनोहर वन में जाकर उन्होंने सर्वसंग का परित्याग किया, मुकुट छोड़ा, हार छोड़े, वस्त्र भी छोड़े और सिर के केशों को भी स्वहस्त से उखाड़ दिया। आपकी निर्विकार शान्त मुद्रा देखकर हजारों-लाखों जीवों को निर्विकार चैतन्यसुख की प्रतीति हो गयी। 'नमः सिद्धेभ्यः' ऐसे उच्चारणपूर्वक आत्मध्यान में लीन हुए। शुद्धोपयोग से निज परमतत्त्व की अनुभूति में एकाग्र हुए। उसीसमय प्रत्याख्यान कषाय दूर हो गई; सातवाँ गुणस्थान तथा मनःपर्ययज्ञान प्रकट हुआ, अनेक लब्धियाँ भी प्रकट हुईं। सैकड़ों राजाओं ने तथा अन्य कितने ही मुमुक्षु जीवों ने भी उनके साथ ही संसार छोड़कर संयमदशा अंगीकार की और धर्म का महान उद्योत हुआ।

दो उपवास के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा के दिन वे नगरी में पधारे और 'सुन्दर' नाम के राजा ने आपको प्रथम आहादान देकर सातिशय पुण्यार्जन किया। उससमय देवों ने भी आश्चर्यकारी मंगल वाद्य तथा पुष्पवृष्टि आदि द्वारा अपना हर्ष प्रकट किया।

“वासुपूज्य देव आत्मध्यान सहित मुनिदशा में विचरते हुए आत्मशुद्धि में अत्यन्त वृद्धि कर रहे थे। इसलिए पूरे एक वर्ष भी छद्मस्थ दशा में नहीं रहे; फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मुनि हुए और माघ कृष्णा द्वितीया को केवलज्ञान प्रकट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन गये। चम्पापुरी के जिस मनोहर वन में उन्होंने दीक्षा ली थी, उसी दीक्षा वन में वासुपूज्य मुनि ने केवलज्ञान प्रकट किया।

भक्त कह उठा “वाह प्रभो! आप सर्वज्ञ हुए। यह देखकर हम जैसे साधकों का हृदय अतीन्द्रिय आनन्द के प्रति उल्लसित हो रहा है। हे सर्वज्ञ परमात्मा! इन्द्र अपने वैभव सहित आपकी पूजा करने आ पहुँचे। इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि हे कुबेर ! इन्द्रलोक के उच्च से उच्च वैभवों का उपयोग करके तीर्थंकर प्रभु के समवशरण (धर्मसभा) की रचना करो। तदनुसार प्रभु के दिव्य समवशरण की ऐसी अद्भुत रचना हुई कि उसे देखकर इन्द्र भी आश्चर्यचकित हो गया। “अरे, ऐसी अलौकिक रचना करने का सामर्थ्य हममें कहाँ था, यह तो तीर्थंकर के अचिन्त्य पुण्य का ही प्रताप है, जो यह सब हो सका।”

भक्त बोले ! “अहो देव! उदयभाव जनित समवशरण की ऐसी अद्भुतता है, तो क्षायिकभाव जनित आपके केवलज्ञान की अचिन्त्य महिमा का क्या कहना ? उस अद्भुत समवसरण के बीच प्रभु उससे भी अद्भुत शोभावान विराजते थे। देव, मनुष्य और तिर्यच आपकी धर्मसभा में आ पहुँचे। प्रभु के दर्शन करके जीव वीतरागता की प्रेरणा प्राप्त करते थे और क्रूर प्राणी भी हिंसक भाव छोड़कर शान्त हो जाते थे। और स्तुति करते कि हे तीर्थंकर वासुपूज्य ! आप पुनः वासुपूज्य (इन्द्र द्वारा पूजित) बने और सहज दिव्यध्वनि द्वारा आपने जगत के भव्यजीवों को मोक्षमार्ग बतलाया। पहले बाल ब्रह्मचारी रहकर लाखों वर्ष तक आपने चम्पापुरी का राज किया, अब सर्वज्ञ होकर सारे जगत में ५४ लाख वर्ष तक धर्मसाम्राज्य का प्रवर्तन किया और कितने ही जीवों को मोक्ष के मार्ग में लगाया। अहा, आपने जीवों को मोक्षमार्ग का जो सुख प्रदान किया उसकी महिमा का क्या कहना?”

हे देव ! आपकी धर्मसभा में ‘धर्मवीर’ आदि ६६ गणधर आपको वन्दन करते थे; १२ हजार पूर्वधारी

श्रुतकेवली थे; ३९ हजार २०० उपाध्याय थे; १० हजार विक्रिया ऋद्धिधारी तथा ४ हजार २०० वादी थे तथा ५ हजार ४०० अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी मुनिवर थे।

६ हजार केवलज्ञानी-अरहंत परमात्मा भी गगन-मण्डल में आपके साथ ही धर्मसभा को सुशोभित कर रहे थे। अहा! एक साथ हजारों अरहंत देवों के समूह सहित आप तीर्थकर के रूप में अद्भुत शोभायमान होते थे। आपके श्री मण्डप में कुल ७२ हजार मुनिवर और १ लाख ६ हजार आर्थिकाएँ थीं। आपका वह वैभव देखकर अनेक जीवों का मान तथा मिथ्यात्व मिट जाता था। और वे सम्यग्दर्शन प्राप्त करते थे। ऐसे धर्मप्राप्त दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकायें समवशरण में आपकी उपासना कर रहे थे; देवों का तो कोई पार नहीं था और सिंह, सर्प, शशक, हिरण आदि तिर्यचों की संख्या भी बड़ी विशाल थी।

वासुपूज्य देव! आपके चतुर्विध संघ से मोक्षमार्ग की सरिता प्रवाहित हो रही थी। इसप्रकार देश-देश में विचरण करके धर्मचक्र का प्रवर्तन करते-करते जब एक हजार वर्ष की आयु शेष रही, तब आप पुनः चम्पापुरी नगरी में पधारे और अन्तिम मास में रजतमाला नदी के किनारे मंदारगिरि के मनोहर उद्यान में स्थिर हुए। आपका विहार एवं वाणी रुक गये और भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को सायंकाल सम्पूर्ण योग निरोध करके चौरानवे मुनिवरों सहित आप सिद्धालय में पधार गये।

देवों ने आपका निर्वाण महोत्सव मनाया। आपका पंचकल्याणक मनाने हेतु इन्द्रादिदेव इस चम्पापुरी नगरी में पाँचवीं बार आये। आपके पाँचों कल्याणक से 'चम्पा' धन्य-धन्य हुई और साधक भी आपकी उपासना से धन्य हुए। इस चम्पापुरी नगरी को अनेक सौभाग्य प्राप्त हुए हैं, जो इसप्रकार हैं -

- उपसर्ग विजेता और मोक्षगामी महात्मा सेठ सुदर्शन भी इस चम्पापुरी नगरी में ही हुए।
- मिथिलापुरी के राजा पद्मरथ दृढ़ सम्यक्त्वी थे; उन्होंने चम्पापुरी में विराजमान वासुपूज्य तीर्थकर की महिमा सुनी और तत्काल दर्शन करने चल पड़े। मार्ग में भिन्न-भिन्न प्रतिकूलताओं द्वारा देव ने उनकी भक्ति की परीक्षा की; परन्तु पद्मरथ राजा डिगे नहीं और अन्त में चम्पापुरी में वासुपूज्य प्रभु के चरणों में पहुँचे।

वहाँ प्रभु के दर्शन करके तथा उपदेश सुनकर संसार से विरक्त होकर प्रभु चरणों में मुनि दीक्षा ली और प्रभु के गणधर होकर मोक्ष प्राप्त किया।

● चम्पापुरी की राजकुमारी रोहिणी जो हस्तिनापुरी के राजपुत्र अशोक की रानी थी, वे दोनों वासुपूज्य प्रभु के दर्शन करने चम्पापुर आये; वहाँ महाराज अशोक तो भगवान का उपदेश सुनकर मुनि हो गये और प्रभु के गणधर बने। रोहिणी भी आर्यिका बनकर अच्युत स्वर्ग में देवरूप से उत्पन्न हुई।

● चम्पापुर में धर्मघोष मुनि ने एक महीने के उपवास किए थे; पारणा के समय उन पर उपसर्ग आया उन्होंने उस उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त करके वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

● पाँचों पाण्डवों का ज्येष्ठ भ्राता कर्ण चम्पापुरी का राजा था।

● जिसके शील के प्रताप से घड़े में बन्द नाग हार बन गया था, वह सती सोमा यहीं हुई है।

● निःकांक्षित गुण में प्रसिद्ध सती अनन्तमती भी यहीं हुई हैं।

● कुष्ठरोगी से वैरागी बने राजा श्रीपाल भी यहीं हुए हैं।

● वर्तमान शासन नायक तीर्थकर भगवान महावीर का समवशरण चम्पापुरी में भी आया था।

ये सब भी इसी चम्पानगरी के रत्न थे। जिनके गुणों की सौरभ से आज भी चम्पानगरी गौरवान्वित होती है। आज भी हजारों धर्मात्मा चम्पापुरी व मन्दारगिरि की वन्दना कर अपने को धन्य अनुभव करते हैं।

वासुपूज्य भगवान के समय में हुए द्वितीय वासुदेव (नारायण)–द्विपृष्ठ, बलदेव या बलभद्र–अचल और प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)–तारक का प्रेरणाप्रद चारित्र – ग्यारहवें श्रेयांसनाथ तीर्थकर को निर्वाणप्राप्ति के पश्चात् उनके शासन में प्रथम वासुदेव एवं बलदेव हुए; तत्पश्चात् वासुपूज्य तीर्थकर के समय में द्वितीय वासुदेव द्वितीय बलभद्र एवं प्रतिवासुदेव हुए; उनकी कथा भव्य जीवों को जीव के परिणाम की विचित्रता बतला कर संसार के प्रति वैराग्य जागृत कराती है।

दूसरे वासुदेव का नाम द्विपृष्ठ था; पूर्वभव में वह भरतक्षेत्र के कनकपुर का राजा सुषेण था। उसके राज दरबार में गुणमंजरी नाम की एक अति सुन्दर नर्तकी थी। विन्ध्यशक्ति नामक राजा उस नर्तकी पर मोहित हुआ और युद्धमें सुषेण को पराजित करके उस नर्तकी को ले गया। देखो, संसार की विचित्रता ! पुण्य क्षीण हो जाने पर प्रिय वस्तु भी क्षणभर में छूट जाती है।

नर्तकी के अपहरण से मानभंग हुए राजा सुषेण का हृदय टूट गया; राज्य में कहीं भी चैन नहीं मिला। अन्त में, एकबार सुव्रत-जिनेन्द्र का धर्मोपदेश सुनकर उसका चित्त संसार से विरक्त हुआ और उसने जिनदीक्षा धारण कर ली; परन्तु दिव्यशक्ति शत्रु को देखकर उसे क्रोध आया और स्वधर्म में भूलकर मिथ्यात्वशल्यपूर्वक उसने धर्म के फल में भोगों की इच्छा की तथा परभव में मैं अपने शत्रु को मारूँगा' - ऐसा पापरूप संकल्प किया। वह मरकर संयम-तप के कारण प्राणत नाम के चौदहवें स्वर्ग में देव हुआ।

जिन सुव्रत-जिनेन्द्र के धर्मोपदेश से उस सुषेण राजा ने दीक्षा ली थी, उन्हीं सुव्रत-जिनेन्द्र के धर्मोपदेश से वायुरथ नाम के राजा ने भी जिनदीक्षा ली थी और समाधिमरण करके वह भी प्राणत स्वर्ग में ही उत्पन्न हुआ। दोनों जीव असंख्यात वर्ष तक प्राणत स्वर्ग में रहे।

वहाँ से आयु पूर्ण होने पर दोनों जीव क्रमशः भरतक्षेत्र में जब भगवान वासुपूज्य विचरते थे, तब द्वारावती नगरी में ब्रह्मराजा के पुत्र द्विपृष्ठ नामक नारायण (वासुदेव) तथा अचल नामक बलदेव हुए। दोनों का मिलन गंगा-यमुना जैसा था। जिसप्रकार एक गुरु द्वारा दी जा रही विद्या का सेवन शिष्यजन बिना किसी भेदभाव के किया करते हैं, उसीप्रकार वे दोनों भाई बिना किसी भेदभाव के राज्य का उपभोग करते थे; परन्तु उनमें विशेषता यह थी कि अचल बलभद्र तो आत्मज्ञान के संस्कारसहित होने से विषय-भोगों में कहीं सुख माने बिना मोक्ष को साध रहे थे, द्विपृष्ठ वासुदेव पाप के निदान द्वारा आत्मज्ञान से भ्रष्ट हुआ होने से विषय-भोगों में लवलीन रहता था और नरक गति के पापों का बंध करता था। देखो, दोनों भाई साथ रहकर एक समान भोगोपभोग करते हुए भी दोनों के परिणाम में कितना अन्तर! एक तो मोक्ष की

साधना कर रहा है और दूसरा नरक की ओर जा रहा है। संसार की यह विचित्र स्थिति जानकर भव्यजीवों का चित्त विषय-भोगों से विरक्त होकर मोक्षसाधना में लगता है।

अब, द्विपृष्ठ वासुदेव का पूर्वभव का शत्रु विन्ध्य राजा का जीव भी भवभ्रमण करता हुआ किसी कारणवश वैराग्य को प्राप्त हुआ और धर्म अंगीकार करके पुनः भोगों की आकांक्षा द्वारा धर्म से भ्रष्ट हुआ। वह भरतक्षेत्र में 'तारक' नामक अर्धचक्री हुआ। उसे दैवी सुदर्शन चक्र प्राप्त हुआ था और तीन खण्ड के हजारों राजाओं को उसने अपना दास बना लिया था; परन्तु अभी द्विपृष्ठ नारायण अविजित था, इसलिए वासुदेव बलदेव को भी अधीनस्थ करने की इच्छा से उसने द्वारावती को दूत भेजकर कहलाया कि हमारी आज्ञा स्वीकार करके तुम्हारे पास गंधहस्ती नाम का जो विशाल हाथी है, वह शीघ्र हमारे पास भिजवा दो, नहीं तो युद्ध के लिए तैयार रहो।

दूत की बात सुनते ही पूर्वभव के वैर के संस्कारवश द्विपृष्ठ नारायण का क्रोध जाग उठा और दोनों के बीच महान युद्ध हुआ। अर्द्धचक्री राजा तारक ने द्विपृष्ठ पर सुदर्शनचक्र फेंका; परन्तु द्विपृष्ठ के पूर्वपुण्य के कारण उस चक्र ने उसका वध नहीं किया, उल्टा शांत होकर उसके आधीन हो गया। उत्तेजित द्विपृष्ठ ने भयंकर क्रोधवश उसी चक्र द्वारा तारक-प्रतिवासुदेव का शिरच्छेद करके तीन खण्ड का राज्य प्राप्त कर लिया। तारक अर्द्धचक्री का जीव मरकर सातवें नरक में गया।

इसप्रकार द्विपृष्ठ तथा अचल दोनों भाई इस भरतक्षेत्र में द्वितीय वासुदेव (नारायण)-बलदेव (बलभद्र) हुए। उन्होंने तीनों खण्ड की दिग्विजय की। लौटते समय मार्गमें चम्पापुरनगरी आई, वहाँ वासुपूज्य तीर्थंकर विद्यमान थे; उनके दर्शन करके दोनों को अत्यन्त हर्ष हुआ। वहाँ से द्वारावती आकर दोनों भाइयों ने अनेक वर्ष तक तीन खण्ड का राज्य भोगा। अन्त में द्विपृष्ठ का जीव तीव्र भोग लालसापूर्वक रौद्रध्यान से मरकर सातवें नरक में गया। भाई के वियोग से अचल बलभद्र को अति शोक हुआ। द्वारावती में भगवान वासुपूज्य का आगमन होने पर उनके धर्मोपदेश से उनका चित्त शांत हुआ और संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण

कर ली। आत्मसाधना द्वारा केवलज्ञान प्रकट किया और गजपंथा सिद्धक्षेत्र से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

अरे, देखो तो सही संसार की विचित्रता ! दो भाइयों ने पुण्य द्वारा प्राप्त तीन खण्ड की विभूति का एकसाथ उपभोग किया; परन्तु एक तो ऊर्ध्वपरिणाम द्वारा उस पुण्य विभूति को छोड़कर मोक्ष में गये और दूसरा अधोपरिणाम द्वारा उस पुण्यविभूति को छोड़कर सातवें नरक में गया। इसलिए अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमान जीवों को विषयों की वासना तथा पापभाव छोड़कर मोक्षसुख हेतु धर्म का सेवन करना चाहिए। तीर्थकर का योग प्राप्त होने पर भी हृदय से विषयभोगों की शल्य नहीं छूटी तो वह त्रिखण्डाधिपति भी भयंकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। इसलिए हे जीव ! तू जागृत हो, धर्म का सुअवसर प्राप्त करके विषयों में मत अटक; आत्मा का वीतरागी सुख विषयरहित है, उसका विश्वास करके उसकी साधना करना। ●

जो व्यक्ति राष्ट्रसेवा एवं समाजसेवा के नाम पर ट्रस्ट बनाकर अपने काले धन को सफेद करते हैं और उस धन से एक पंथ अनेक काज साधते हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; उनके वे भाव तो स्पष्टरूप से अप्रशस्त भाव ही हैं। सचमुच देखा जाय तो वे तो अपनी रोटियाँ सेंकने में ही लगे हैं। वे स्वयं ही समझते होंगे कि सचमुच वे कितने धर्मात्मा हैं; पर जो व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग सचमुच लोक कल्याण की भावना से जनहित में ही करते हैं, उसके पीछे जिनका यश-प्रतिष्ठा कराने का कतई/कोई अभिप्राय नहीं होता, उन्हें भी एकबार आत्मनिरीक्षण तो करना ही चाहिए कि उनके इन कार्यों में कितनी धर्मभावना है, कितनी शुभभावना है और कितना अशुभभाव वर्तता है। आँख मींचकर अपने को धर्मात्मा, दानवीर आदि माने बैठे रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

— इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-२०९

हे विमलनाथ! तुम निर्मल हो, कोई भी कर्मकलंक नहीं।
हो वीतराग सर्वज्ञदेव, पर का किंचित् कर्तृत्व नहीं॥
निर्दोष मूलगुण चर्या से, मुनिमार्ग सिखाया है तुमने।
द्वादशांग जिनवाणी से, शिवमार्ग बताया है तुमने॥

हे विमलनाथ भगवान ! आप द्रव्य-नोकर्म एवं भावकर्म से रहित अत्यंत निर्मल हैं; अतः आपका विमलनाथ नाम पूर्ण सार्थक हैं। हे प्रभो ! आप वीतरागी सर्वज्ञ हैं, यद्यपि आप किसी भी परद्रव्य या परभाव के कर्ता-धर्ता नहीं हैं, फिर आप जगत के हित में निमित्त होने से हितंकर भी हैं। अपनी साधना के काल में आपके निर्दोष मूलगुणों के आदर्श से जगत में सच्चा मुनि मार्ग अपनाया है तथा अपनी दिव्यध्वनिरूप जिनवाणी से मोक्षमार्ग का प्रवर्तन भी किया है। हे प्रभो ! धन्य हैं आप। आपके गुणगान और जीवन-चरित्र के लिखने-पढ़ने से हमारा जीवन भी धन्य हो गया है।”

वर्तमान चौबीसी के तेरहवें तीर्थंकर के पूर्वभवों का सामान्य परिचय कराते हुए जैन भूगोल के परिप्रेक्ष्य में आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में कहते हैं कि मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र और मोक्ष प्राप्त करने की भूमि ढाईद्वीप है। एक जम्बू द्वीप, एक धातकी खण्ड द्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप। उसमें से दूसरे धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिम भाग में विदेह क्षेत्र की सीतोदा नदी के किनारे ‘रम्यक’ नामक सुन्दर देश है।

तीर्थंकर विमलनाथ नाम का जीव पूर्वभव में रम्यक नगरी का राजा था। उसका नाम पद्मसेन था। नगरी में एक दिन सर्वगुप्त नाम के केवली भगवान का शुभागमन हुआ। सूचनास्वरूप केवली के अति अतिशय से नगर का उद्यान एकदम फल-फूलों से खिल गया। चारों ओर शान्ति का वातावरण छा गया। राजा

पद्मसेन भक्तिपूर्वक केवली भगवान की वंदना करने गये। वहाँ उनकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश सुना। प्रवचन से प्रभावित होकर वे दुःखद संसार से विरक्त हो गये। पद्मसेन राजा निकट भव्य तो थे ही, एक भव बाद ही वे तीर्थकर होकर मुक्त होनेवाले थे।

सर्वज्ञ भगवान की दिव्यवाणी से अपना भविष्य जानकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने उज्ज्वल भविष्य की खुशी में मंगल महोत्सव मनाया। भवचक्र से भयभीत राजा पद्मसेन ने केवली भगवान के निकट जिनदीक्षा ले ली।

यहाँ समझने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पद्मसेन को अपना अल्पकाल में मोक्ष जानकर प्रमाद नहीं आया, बल्कि दीक्षा लेने का भाव जागा अर्थात् धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ जागा। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनायें भायीं, उससे उन्हें सातिशय पुण्य का संचय हुआ। उन्होंने तीर्थकर महापुण्य प्रकृति का पुण्यार्जन किया।

यद्यपि पुण्यकर्म का संचय ज्ञानी का लक्ष्य नहीं होता; परन्तु साधक की भूमिका में उससे सर्वथा बचा भी नहीं जा सकता। फिर भी ऐसा पुण्य संचित होता है जिससे आगे पुनः आत्मकल्याणकारी सत्समागम ही प्राप्त होते हैं और अल्पकाल में सर्वथा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

मुनिराज पद्मसेन चार आराधना सहित समाधिमरण करके सहस्रार नामक स्वर्ग में इन्द्र हुए। स्वर्ग लोक की विभूतियाँ देखकर एक क्षण चकित हुए और अवधिज्ञान से सबकुछ जान लिया कि पूर्वभव में जो धर्म की उपासना की थी, उसके साथ जो पुण्यार्जन हुआ – यह सब उसका फल है। उसका मन भोगों में अधिक नहीं लगा, वे जिनपूजा आदि करने लगे।

सुखरूप से जीव स्वयं अपने आप ही परिणमता है, क्योंकि निराकुल सुख जीव का स्वभाव है। ऐसा विवेक उस मुनि पद्मसेन के जीव को वहाँ स्वर्ग में भी वर्तता था। इसलिए स्वर्गलोक के दिव्यवैभव में रहते हुए भी उनकी चेतना अलिप्त रहकर स्वरूप में सावधान रहती है। इसतरह स्वर्गलोक में असंख्य वर्ष

बीतने के बाद जब उनकी आयु छह माह शेष रह गई, तब भरतक्षेत्र के तीर्थकर के अवतार के रूप में अन्य तीर्थकरों की भांति ही इनकी भी तैयारियाँ होने लगीं।

भरतक्षेत्र की कम्पिला नगरी के महाराजा कृतवर्मा, जिन्हें तीर्थकर विमलनाथ के माता-पिता होने का सौभाग्य प्राप्त होनेवाला है, वे तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के ही वंशज थे। उनकी महारानी का नाम जयश्याम था। ज्येष्ठ कृष्णा दशमी से ६ माह पूर्व से कुबेर ने रत्नवृष्टि प्रारंभ करके उस नगरी एवं तेरहवें तीर्थकर के माता-पिता का सम्मान किया।

छह माह पश्चात् ज्येष्ठ कृष्णा दशमी के दिन तीर्थकर होनेवाले विमलनाथ का जीव इन्द्र पर्याय से चयकर माता जयश्यामा के गर्भ में अवतरित हुआ। माता ने १६ स्वप्न देखे, प्रातः पति से उनका फल जानकर अति आनन्दित हुई। देवों ने प्रभु का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया।

तीर्थकर के पिता नियम से मुक्तिगामी होते हैं; अतः देवों ने उनके सौभाग्य की स्तुति की। नौ माह तक सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण रहा। अन्य सभी तीर्थकरों के समान गर्भ-जन्म महोत्सव के सभी मंगलाचार देव-देवियों और सौभाग्यवान नर-नारियों के द्वारा किये गये। बालक विमलनाथ द्वितीय के चन्द्रमा के भांति वृद्धिगत होने लगे।

भगवान विमलनाथ की आयु साठ लाख वर्ष की थी। बचपन में उनकी कलायें अद्भुत थीं। पन्द्रह हजार वर्ष कब/कैसे बीत गये, पता ही नहीं चला। पुरानी कहावत है सुख में सागरों की लम्बी आयु भी पल भर की तरह बीत जाती है और दुःख का एक-एक क्षण वर्षों जैसा लगता है।

माघ शुक्ला चतुर्थी को अपने जन्मदिन पर महाराजा विमलनाथ प्रातः वनक्रीड़ा को गये थे। एक तालाब के किनारे अतिरम्य शान्त वातावरण था। तालाब में खिले कमल-पत्रों-पुष्पों पर मोती के समान चमकती ओस बूंदें अपनी सप्तसंगी छटा बिखेर रही थीं। पूर्व में सूर्योदय की गर्मी से वे बूंदें पलभर में प्रलय में को प्राप्त हो गई हैं। उनकी क्षणभंगुरता देख महाराजा विमल को वैराग्य हो गया।

वे संसार के असार स्वरूप को विचारने लगे - “अरे! यह पुण्य का ठाट भी ओसबिन्दु और उल्कापात के समान क्षणभंगुर है। जिसप्रकार ओस बिन्दुओं पर महल नहीं बनाया जा सकता; उसीप्रकार पुण्य वैभव द्वारा कहीं आत्मशान्ति की साधना नहीं हो सकती। मुझे तो इसी भव में परमात्मा बनकर मोक्ष प्राप्त करना है। पैंतालीस लाख वर्ष तो इसी राजपाट में बीत गये। अब इस मोह में और अटके रहना भी ठीक नहीं है। यद्यपि मुझे तीन ज्ञान हैं; परन्तु ये मर्यादित जाननेवाले ही हैं। ऐसे अधूरे ज्ञान से भव का अन्त कैसे आयेगा ? सम्यक्त्व होने पर भी चारित्र अभी बहुत अल्प है, निर्जरा अभी अति अल्प है, जबतक चारित्र की पूर्णता नहीं होगी तबतक मुक्ति नहीं होगी।

महाराजा विमलनाथ वैराग्यभावना भा रहे हैं कि इस संसार में प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों का ही फल भोगता है। चाहे जैसे इन्द्रियविषय हों; पर उनके सेवन से विषयसुख तो नहीं मिलता। मात्र पाप का ही बन्ध होता है। मेरे इस इक्षुवंश में मुझसे पूर्व कितने ही राजा-महाराजा चक्रवर्ती हो गये; पर कहाँ गये वे चक्री, राजा-महाराजा ? कहाँ गया वह उनका साम्राज्य ? सब इस काल के गाल में समा गये। जो इस राज्य-सम्पदा और इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर आत्मसाधना और परमात्मा की आराधना में रम गये, उन्हें तो इस दुःखद संसार से मोक्ष मिल गया और जो इनमें अटक गये, वे मोक्षमार्ग में भटक गये और चौरासी लाख योनियों के भवचक्र में फंस गये।

कितना दुर्लभ है यह मंगल अवसर ? प्रथम तो निगोद से निकलना ही भारी दुर्लभ है, फिर इस पर्याय का पाना, मनुष्य पर्याय मिलना, अच्छी बुद्धि, कषायों की मंदता, जिनवाणी का समागम, स्वास्थ्य की अनुकूलता आदि एक से बढ़कर एक अत्यन्त दुर्लभ है। मैंने इन सब दुर्लभताओं को पारकर सबकुछ आत्मकल्याण के अनुकूल सुअवसर पा लिया है; अतः अब एक क्षण भी व्यर्थ की बातों में बर्बाद करना, विकथाओं में लगाना और पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक उलझनों में उलझने से बड़ी मूर्खता और कोई नहीं है। भले ही किसी का क्षयोपशम कम हो या बहुत अधिक ज्ञान का उघाड़ हो, अपनी सम्पूर्ण

शक्ति वस्तुस्वरूप के विचार में, आत्मचिन्तन में और जिनवाणी के रहस्यों को जानने में, उसी की अनुप्रेक्षा में लगाना चाहिए। यही एकमात्र कल्याण का मार्ग है “मैं अपने उन पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करूँगा, मैं भी उन जैसा परमात्मा बनने के लिए उसी परम्परा का अनुसरण करूँगा; अतः आज ही मैं भव-तन-भोग का मोह त्याग कर वीतराग रत्नत्रय धारण करूँगा और आत्मध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करूँगा।”

इसप्रकार महाराजा विमलनाथ ने दीक्षा लेने का निश्चय किया। उनके इस निश्चय को जानकर तुरंत पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग से सारस्वत आदि चालीस लाख सात हजार आठ सौ बीस (४०, १०७, ८२०) लौकान्तिकदेव कम्पिलानगरी में आये और विनयपूर्वक शान्तरस भरे वचनों द्वारा प्रभु के वैराग्य का अनुमोदन करने लगे। उन्होंने कहा - “हे देव ! आपके विचार सर्वोत्तम हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। दीक्षा संबंधी आपकी भावना आपके लिए तो कल्याणकारी है ही, जगत के लिए भी कल्याणकारी है। जिसप्रकार चंदन वृक्ष के संबंध से अन्य वृक्ष भी सुगंधमय हो जाते हैं, उसीप्रकार प्रभो ! लाखों वर्षों से भरतक्षेत्र के भव्य प्राणी मुक्तिमार्ग के लिए लालायित हैं, तरस रहे हैं। आपकी दीक्षा से उनकी यह लालसा पूर्ण हो जायेगी। ऐसा कह कर एवं उनके वैराग्य की अनुमोदना करके लौकान्तिकदेव वापिस चले गये और उसीसमय इन्द्रादिगण ‘देवदत्त’ नामक पालकी लेकर आये। प्रभु के चरण स्पर्श से वह पालकी तो धन्य हो ही गई, पालकी उठानेवाले भी धन्य हो गये। सबने अपने-अपने सौभाग्य की सराहना की। वे विचार करने लगे “पारस के स्पर्श से तो मात्र लोहा ही सुवर्ण होता है, प्रभु के स्पर्श एवं सत्संग से तो आत्मा परमात्मा बन जाता है।”

सहेतुक नामक दीक्षावन में पहुँचकर महाराजा विमलनाथ ने अन्तर-बाह्य समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। देव, मनुष्य, तिर्यच भी उनकी नग्न दिगम्बरत्व वीतरागी मुद्रा देखकर भाव-विभोर हो गये, उन पर मुग्ध हो गये। उन्हें भी परिग्रह नीरस लगने लगा। कितने ही भव्य जीव तो उनके साथ ही परिग्रह छोड़कर प्रभु के साथ दीक्षा ग्रहण करने हेतु तैयार हो गये। अन्य कितनों ने श्रावक व्रत अंगीकार किए और अनेक जीवों ने शुद्धात्मा की श्रद्धा और स्वानुभव से सम्यग्दर्शन प्रगट किया।

मुनिराज विमलनाथ को शुद्धात्म ध्यानरूप शुद्धोपयोग हुआ। साथ ही मनःपर्ययज्ञान भी प्रगट हो गया। दीक्षा के बाद केवलज्ञान होने पर उन्होंने भी अन्य तीर्थकरों की भांति ही मौन धारण कर लिया।

दीक्षा के दो दिन बाद मुनिराज विमलनाथ आहारचर्या हेतु नन्दन नगर में पधारे और जयराजा ने उन्हें भक्तिभावना पूर्वक पारणा कराया। आहारदान देते समय उनके चित्त में परमात्मपद जैसा आनन्द आया। तीन वर्ष बाद जब मुनि विमलनाथ को केवलज्ञान हुआ, तब उन जयराजा ने प्रभु के चरणों में ही दीक्षा ग्रहण की और आत्मसाधना कर मोक्ष पधारे।

यद्यपि भगवान विमलनाथ ने मुनिदशा में तीन वर्ष तक विहार काल में मौन ग्रहण किया हुआ था तो भी मात्र उनकी परम शान्त मुद्रा के दर्शन कर ही बहुत से जीवों ने धर्म स्वरूप समझकर आत्मकल्याण किया। प्रभु ने माघशुक्ल षष्ठी के दिन केवलज्ञान प्रगट किया। उसीकारण तीर्थकर प्रकृति के उदय होने से इन्द्रभक्ति से दौड़े आये और केवलज्ञानी प्रभु की पूजा की। दिव्य समोशरण की रचना हुई। प्रभु के उपदेश से अनेक जीवों ने यथार्थ धर्म प्राप्त किया।

भगवान विमलनाथ का समवशरण (धर्मसभा) गुजरात, सौराष्ट्र, अंग, बंग आदि अनेक देशों में विहार करता हुआ धर्म का प्रचार-प्रसार करता रहा। विमलनाथ तीर्थकर की धर्मसभा में पचपन गणधर थे, पाँच हजार पाँच सौ केवली विराजते थे। ग्यारह सौ श्रुत केवली, छत्तीस हजार पाँच सौ तीस उपाध्याय, चार हजार आठ सौ अवधि ज्ञानी, पाँच हजार चार सौ मनःपर्ययज्ञानी, नौ हजार विक्रियाक्रद्धिधारी मुनि तथा छत्तीस वाद-विवाद में निपुण मुनिवर थे।

एक लाख तीन हजार आर्थिकाएँ, दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकायें थीं। देव-देवियाँ तो असंख्य थीं, पशु भी उनकी धर्मसभा के श्रोता थे। भगवान विमलनाथ ने पन्द्रह लाख वर्ष तक तीर्थकर के रूप में अपनी धर्मसभा के साथ विहार किया और धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

उनके विहार काल में अनेक भव्यों के मन में भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थों के संबंध में जिज्ञासायें जागृत हुईं।

दिव्यध्वनि में न केवल उन्हीं भव्य श्रोताओं के समाधान हुए, परम्परागत आजतक वह त्रैकालिकसत्य उपदेश चलता आ रहा है, जिसे आगामी काल में अनेक आचार्यों ने लिपिबद्ध भी कर दिया, जो इसप्रकार है—

अभक्ष्य अथवा अखाद्य पदार्थों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया कि – जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता हो या बहुत स्थावर जीवों का घात होता हो तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन करने योग्य न हों या नशा कारक अथवा अस्वास्थ्यकर हों, वे सब अभक्ष्य हैं। इन अभक्ष्यों को पाँच भागों में बांटा जाता है –

१. त्रसघात, २. बहुघात, ३. अनुपसेव्य, ४. नशाकारक, ५. अनिष्ट।

१. त्रसघात – जिन पदार्थों के खाने से त्रसजीवों का घात होता हो, उन्हें त्रसघात अभक्ष्य कहते हैं, पंच-उदुम्बर फलों में अनेक त्रस-जीव पाये जाते हैं, अतः ये त्रसघात अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

२. बहुघात – जिन पदार्थों के खाने से बहुत (अनंत) स्थावर जीवों का घात होता है, उन्हें बहुघात अभक्ष्य कहते हैं। समस्त कन्दमूलों में अनंत स्थावर निगोदिया जीव रहते हैं। इनके खाने से अनंत जीवों का घात होता है, अतः ये खाने योग्य नहीं हैं।

३. अनुपसेव्य – जिनका सेवन उत्तम पुरुष बुरा समझें वे लोकनिंद्य पदार्थ अनुपसेव्य हैं। जैसे – लार, मल, मूत्र आदि पदार्थ। लोकनिंद्य होने से इनका सेवन तीव्र राग के बिना संभव नहीं है, अतः ये अभक्ष्य हैं।

४. नशाकारक – जो वस्तुएँ नशा उत्पन्न करती हैं, मादक होती हैं, उन्हें नशाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे शराब, अफीम, भंग, गांजा, तम्बाकू आदि।

५. अनिष्ट – जो वस्तुएँ स्वास्थ्य के हानिकारक हों, वे भी अभक्ष्य हैं; क्योंकि हानिकर वस्तुओं का उपभोग भी तीव्र राग के बिना संभव नहीं है; अतः वे पदार्थ भी अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

जिनागम में २२ अभक्ष्य पदार्थों को विशेष नामोल्लेखपूर्वक त्यागने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि उनके सेवन से अनंत त्रसजीवों की हिंसा है। वे इसप्रकार हैं –

ओला घोलबड़ा निशिभोजन, बहुबीजा बेंगन संधान ।
बड़ पीपल ऊमर कठूमर, पाकर फल जो होंय अजान ॥
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान ।
फल अतितुच्छ तुषार चलित रस, यो जिनमत बाईस बखान ॥

उपर्युक्त २२ अभक्ष्यों में ओला (बर्फ-अगालित जल), घोलबड़ा (दहीबड़ा-द्विदल), निशिभोजन, बड़, पीपल, ऊमर, पाकर और कठूमर (पाँचों उदुम्बर फल), आमिष (मांस), मधु (शहद), मदिरापान - इन ११ का कथन तो पीछे मूलगुणों में कर ही आये हैं, ये तो अभक्ष्य हैं ही। इनके अतिरिक्त बहुबीजा, बेंगन, संधान (अचार-मुरब्बा), मक्खन, अनजान फल (जिसे जानते न हों), कंद (आलू, अरबी, प्याज, लहसुन), मूल (गाजर, मूली), मिट्टी, विष, अमर्यादित मक्खन, तुच्छफल (जिसका बढ़ना चालू है, ऐसे अपरिपक्व फल सप्रतिष्ठित फल) तुषार, चलितरस (सड़े-गले पदार्थ, जिनका स्वाद बिगड़ने लगा हो) इनमें भी अनंत त्रसजीव होते हैं; अतः ये भी अभक्ष्य हैं, त्याज्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं। अहिंसा प्रेमियों को अपने परिणाम विशुद्धि और पाप से बचने के लिए यथाशक्य इन सबका त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न - द्विदल अभक्ष्य का स्वरूप क्या है ? और वे कौन-कौन से हैं।

समाधान - हे भव्य ! चना, उड़द, मूंग, मसूर, अरहर आदि सभी प्रकार के दो दलवाले अनाजों को दही, छाछ (मट्ठा) में मिलाकर बनाये गये कड़ी, रायता, दहीबड़ा आदि को खाना द्विदल अभक्ष्य है।

यद्यपि उपर्युक्त दो दल वाले सभी अनाज भक्ष्य हैं, खाने योग्य हैं और मर्यादित दही व छाछ भी भक्ष्य है, तथापि इनको मिलाकर खाने से यह अभक्ष्य हो जाते हैं; क्योंकि दालों और दही छाछ के मिश्रण से बने पदार्थों का लार से संयोग होने पर तत्काल त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अतः इनके खाने में मांस का आंशिक दोष (अतिचार) है।

यह बात युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध होती है; परन्तु उपर्युक्त खाद्य पदार्थों के बनाने की विधि को लेकर दो पक्ष प्रचलित हैं, आगम में भी दोनों तरह के उल्लेख मिल जाते हैं, अतः यह अपने स्व-

विवेक पर निर्भर करता है कि हम क्या करें ?

पहला पक्ष के आधार पर छांछ व दही को उष्ण करके दो दलवाले अनाज मिलाकर बनाई गई कढ़ी, बेसन आदि खाने में दोष नहीं है। मूल श्लोक इसप्रकार है -

“आम गोरस सम्पृक्त, द्विदलादिषु जन्वतः।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मस्तस्मातानिविर्वर्जयते ॥”^१

इस विचारधारा वाले व्यक्ति आम का अर्थ सच्चे गोरस से सम्पृक्त (मिले हुए) अन्न को खाना ही द्विदल अभक्ष्य मानते हैं। जो भी हो पर इससे इतना तो सिद्ध हो ही गया कि कच्चे दही छांछ में दो दलवाले अन्न के मिश्रण से त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न केवल कच्चे या उष्ण किए हुए दही, छांछ का रहा, सो इसके लिए विवरणाचार का निम्नांकित आगम प्रमाण प्रस्तुत है। जो इस अभक्ष्य भक्षण के दोष से बचने के लिए पर्याप्त है। मूल श्लोक इसप्रकार है -

आंमेन पक्केन च गो रसेन, पुद्गलादि युक्त द्विदलं तु कायं।
जिहादितीस्यात्त्रसजीवराशि, सम्मूर्च्छिमानश्यतिनामचित्रं ॥६॥

अर्थात् कच्चे व पके हुए दोनों प्रकार के गोरस में दोदल वाले अनाज के मिश्रण में मुँह की लार मिलते ही त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है; अतः इनका खाना सर्वथा वर्ज्य है।

शंका - अब विचारणीय बात केवल यह है कि जब दोनों तरह के प्रमाण मिलते हैं तो दही व छाछ को गर्म करके खाने में क्या हानि है ?

समाधान - सबसे बड़ी हानि यह है कि प्रश्न में द्विदल खाने के प्रति अनुराग झलकता है, अन्यथा मैं

१. पण्डित आशाधरजी कृत सागारधर्माभूत
२. विवरणाचार, श्लोक ६

पूछता हूँ कि कच्चा व पके दोनों ही प्रकार के दही छाछ से बने भोजन के न खाने से क्या हानि है? क्या उसके बिना जीवन संभव नहीं है ? जिसमें जरा भी शंका हो तो उसमें हमारा पक्ष निर्विवाद मुद्दे की ओर ढलना चाहिए, न कि विवादस्थ मुद्दे की ओर। अतः हमारा तो दृढ़ मत है कि त्रसघात से बचने के लिए कच्चे-पके दोनों प्रकार के दही-छाछ से बने द्विदल पदार्थ त्यागने योग्य हैं।

प्रश्न - द्विदल अभक्ष्य के संदर्भ में केवल दूध, दही व छाछ को ही गोरस क्यों माना, घी भी तो गोरस है, घी को क्यों छोड़ दिया ?

उत्तर - यहाँ इस संदर्भ में “गोरस” योग रूढ़ शब्द है, इसलिए गोरस शब्द का अर्थ दूध, दही व छाछ ही है। “गोरसेनक्षीरेण दध्ना तक्रेण च” - ऐसा सागार धर्माभूत की टीका में स्पष्ट उल्लेख है; अतः घी मिश्रित द्विदल अन्न खाने से दोष नहीं है।

जैनेतर ग्रन्थों में भी - “गोरस माम मध्ये तु, मुद्गादि तथैव च।

भक्ष्यमाणं कृतं नूनं, मांस तुल्यं युधिष्ठिरः ॥

हे युधिष्ठिर ! गोरस के साथ जिन पदार्थों की दो दालें होती हैं, उनके सेवन करने से मांस भक्षण के समान पाप लगता है।”

एक बार भगवान विमलनाथ मथुरा पधारे, उससमय वहाँ राजा अनन्तवीर्य राज्य करता था। उसके ‘मेरु’ तथा ‘मन्दर’ नामक दो पुत्र थे। दोनों राजकुमार चरम शरीरी, धर्मरसिक और परस्पर अति स्नेहवान थे। मथुरापुत्री में भगवान विमलनाथ के दर्शन से दोनों भाइयों को परम हर्ष हुआ। वे बारम्बार भगवान के समाधिमरण में जाकर उपदेश सुनते व आत्मध्यान करते थे। दिव्यध्वनि द्वारा श्रावक एवं मुनिधर्म का स्वरूप सुनकर दोनों भाइयों ने अपने परिणामों को अतिविशुद्ध बनाया। भगवान की वाणी में यह भी आया कि ‘मेरु’ और ‘मन्दर’ - दोनों भाई तद्भव मोक्षगामी हैं। यह जानकर दोनों भाइयों में अपार हर्ष हुआ तथा उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो जाने से अपने अनेक पूर्वभवों का ज्ञान भी हो गया।

अपना उज्वल भविष्य जानकर उनके मन में अति उत्साह जागृत हो गया और उन दोनों भाइयों ने जिनदीक्षा धारण कर ली।

इस घटना से सिद्ध होता है कि अपना उज्वल भविष्य जानने से जीव स्वच्छन्दी नहीं होता; बल्कि उसका उसी ओर का पुरुषार्थ और अधिक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यही है।

वे दोनों भाई भगवान के गणधर बने और उसी भव से मोक्ष गये।

भगवान विमलनाथ जब सौराष्ट्र पधारे तब द्वारावती नगरी में त्रिखण्डाधिपति 'धर्म' बलभद्र और स्वयंभू नारायण ने उनकी वन्दना की थी।

इसप्रकार लाखों वर्ष तक करोड़ों जीवों के कल्याण में निमित्त बनकर जब उनकी आयु को एक माह शेष रह गया तो वे सम्मेशिखर की सुवीर टोंक पर पधारे। वहाँ उनका विहार और वाणी थम गये। वहाँ एक माह का योग निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया तथा चैत कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये। ॐ नमः। •

कला

जिन्हें देखकर-सुनकर हमारा मन मुदित होता है, चित्त चमत्कृत हो जाता है, हृदय में आनन्द की उर्मियाँ हिलोरे लेने लगती हैं, वाणी से वाह ! वाह ! के स्वर फूट पड़ते हैं; उन आनन्ददायक मानवीय मानसिक-वाचिक एवं कायिक अभिव्यक्तियों को ही तो लोकभाषा में कला कहा जाता है।

अनन्त चतुष्टय आलम्बन से, जीते क्रोध काम कल्मष ।
भेदज्ञान के बल से जिसने, जीते मोह मान मत्सर ॥
शुक्ल ध्यान से जो करते हैं, घाति-अघाति कर्म भंजन ।
ऐसे अनन्त नाथ जिनवर को, मन-वच-काया से वन्दन ॥

ज्ञानानन्दमय चैतन्यतत्त्व का अनन्त वैभव बतलानेवाले, अनन्तचतुष्टयस्वरूप के धारक, अनन्तनाथ तीर्थकर की मन-वच-काय से वन्दना करते हुए उनके अवलम्बन से मैं अपने क्रोध-काम-कल्मश तथा मोह-मान-मत्सर का अभाव करने के लिए उन अनन्तनाथ भगवान को बारम्बार स्मरण करता हूँ, नमन करता हूँ, जिन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा घातिया एवं अघातिया कर्मों का क्षय किया है ।

यहाँ आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि अनन्त भवचक्र का अभाव करनेवाले भगवान अनन्तनाथ पूर्व के तीसरे भव में धातकी खण्ड में अरिष्ट नगरी के राजा पद्मरथ थे । राज्य वैभव के बीच रहते हुए भी उनका चित्त पापों से अलिप्त और पंचपरमेष्ठी की भक्ति में लीन रहता था । उनके महाभाग्य से उनके नगर में मुनिवरों का तथा केवली भगवन्तों का शुभागमन होता था ।

एक दिन अपनी गन्धकुटी (धर्मसभा) के साथ विहार करते हुए भगवान स्वयंप्रभ उनके नगर में पधारे । राजा पद्मरथ बड़ी धूमधाम से भगवान के दर्शनार्थ गये । अत्यन्त भक्तिपूर्वक केवली प्रभु के दर्शन किए । दर्शन कर मन शान्त तो हुआ ही, उन्हें अपने सात भवों का ज्ञान भी हो गया । यद्यपि उनके भविष्य के दो भव ही शेष थे, इसलिए दो भव तो वे जाने और चार भव पूर्व के तथा एक वर्तमान का, इसतरह सात भव जान लिए । उन सात में अन्तिम भव उनका स्वयं तीर्थकर होने का था - ऐसा जानकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई ।

भावी तीर्थकर राजा पद्मरथ ने भगवान के समवशरण में बैठकर धर्मोपदेश सुना। सुनते ही वे वैराग्य भावना का चिन्तन करने लगे – “इस जीव को शरीर के साथ का संबंध कहीं नित्य रहनेवाला नहीं है। अनन्त शरीरों के साथ संबंध हुआ; किन्तु एक भी शरीर स्थाई नहीं रहा। सब पृथक् हो गये; क्योंकि शरीर का स्वभाव ही ऐसा है, जीव और शरीर तो पृथक् हैं ही; परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा ने देह और जीव को एक मान रखा था। इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों का संबंध भी नित्य रहनेवाला नहीं है, क्षणभंगुर है।”

वैराग्यवन्त राजा विचारते हैं – “अन्यमत के मोहासक्त जीव भले ही उसमें मोहित रहें; परन्तु मैंने तो अरहन्त भगवान के मत की शरण लेकर जड़-चेतन का भेदज्ञान किया है। इसलिए मैं इन बाह्य विषयों में मोहित नहीं होऊँगा। अरहन्त देव ने अनन्त चैतन्य वैभव मुझे बतला दिया है, उसी की मैं साधना करूँगा।”

इसप्रकार राजा पद्मरथ का चित्त संसार से विरक्त हुआ। जिसप्रकार दीर्घकाल से अपने पुराने स्थान में रहनेवाला शशक (खरगोश) वन में आग लगने पर उससे बचने के लिए उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र कहीं दूर चला जाता है, पुराने स्थान में ममत्व नहीं करता; उसीप्रकार अति दीर्घकाल से संसार में रहने पर भी कषायों की आग में झुलसने से भयभीत हुए भव्यात्मा पद्मरथ सांसारिक राजपाट को छोड़कर मोक्ष की साधना के लिए तत्पर हुए।

उन्होंने स्वयंप्रभ भगवान के सन्निकट में जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, ग्यारह अंग का ज्ञान प्रगट हो गया और सोलहकारण भावना भाते हुए विश्वकल्याण की भावना भाई; जिससे तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया। चार प्रकार की आराधना सहित समाधि मरण कर लिया। अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ असंख्य वर्षों तक सम्यक्त्व पूर्वक रहे। जब मनुष्य लोक में तीर्थकर के रूप में अवतरित होने के छः माह शेष रहे तो पूर्व में हुए तीर्थकरों की भांति ही जयश्यामा माता ने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः अनेक शुभ लक्षणों से युक्त महाराजा सिंहसेन से स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने फलों में बताया कि तुम्हारी कुक्षि से तीर्थकर का जीव जन्म लेगा। वह बहुत भाग्यशाली होगा आदि।

भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी में अबतक तीर्थंकर ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ और सुमतिनाथ – ये चार तीर्थंकर जन्म ले चुके हैं। अब ये अयोध्या में अवतरित होनेवाले पाँचवें तीर्थंकर होंगे। इसलिए कुबेर ने पुरानी अयोध्या नगरी को यह नया रूप प्रदान किया है। स्वर्ग से इन्द्रों ने आकर माता-पिता का तथा गर्भस्थ तीर्थंकर के जीव का सम्मान किया और गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया।

ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी को अयोध्या में बालक अनन्तनाथ का जन्म हुआ। तेरहवें विमलनाथ तीर्थंकर के पश्चात् नौ सागरोपम के असंख्यात वर्षों के बाद चौदहवें तीर्थंकर का अवतार हुआ। उनके अवतार से असंख्य वर्षों तक भरतक्षेत्र में जैनधर्म का विच्छेद हो गया था। उनका अवतार होने से वह विच्छेद दूर हुआ और पुनः जैनशासन का धर्मचक्र चलने लगा। तीर्थंकरों का अवतार धर्मप्रवर्तन के लिए होता है।

बालक तीर्थंकर को इन्द्रों द्वारा ऐरावत हाथी पर बिठाकर एवं सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया गया। जन्मकल्याणक का मंगल महोत्सव मनाया गया। इन्द्र द्वारा 'अनन्तनाथ' नामकरण के साथ बालक की न केवल स्तुति की गई; बल्कि इन्द्र-इन्द्राणी ने हर्षोल्लास व्यक्त करते हुए ताण्डव नृत्य भी किया।

अनन्तनाथ की आयु तीस लाख वर्ष की थी। शरीर की ऊँचाई पचास धनुष थी। उनके चरण में सेही का चिह्न था। शरीर की वाल्यावस्था होने पर भी उनका आत्मा तो सम्यक्त्वादि गुणों से प्रौढ़ था। सप्त लाख पचास हजार वर्ष तक वे युवराज रहे, पश्चात् महाराज सिंहसेन ने युवराज अनन्तनाथ का राज्याभिषेक किया। अयोध्या में उन्होंने पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य किया। उससमय अयोध्या पूरे भारतवर्ष की राजधानी थी। वहाँ से अनेक तीर्थंकर और चक्रवर्ती सम्पूर्ण भारत पर राज्य करते आये हैं। तीर्थंकर अनन्तनाथ के राज्य में रहते हुए भी वे तो अधिकांश अपने चिदानन्द का ही आनन्द लेते थे। वे जानते थे कि यह भव भव बढ़ाने के लिए नहीं मिला; बल्कि भव का अभाव करने को मिला है। तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर अनन्तनाथ के राज्य में प्रजा सर्वप्रकार से सुखी थी। राजा अनन्तनाथ प्रजा पर शासन करते हुए आत्मानुशासन में ही अधिक समय बिताते थे।

अचानक एक मंगलमय घटना घटी। ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी को अयोध्या के महाराजा अनन्तनाथ का जन्म दिवस था, उससमय उनकी आयु बाईस लाख पचास हजार वर्ष की हो गई थी। उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए देश-विदेश के हजारों राजा एक से बढ़कर एक भेंटें लेकर आये।

महाराजा अनन्तनाथ राजमहल की छत से नगर की दिव्यशोभा का अवलोकन कर रहे थे। इतने में आकाश में भारी गड़बड़ाहट के साथ प्रकाश की एक तेज रेखा खिंचीं और उल्कापात हुआ। उसे देखते ही महाराजा अनन्तनाथ को वैराग्य हो गया। उन्हें पूर्वभव में जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे सोचने लगे – “अरे! जिसप्रकार यह उल्कापात क्षणभंगुर है, उसीप्रकार ये सभी संयोग क्षणभंगुर हैं। एक मात्र सिद्धपद ही स्थिर है; अतः वही साधनेयोग्य है, एतदर्थ मैं शीघ्र ही इस राज्यसत्ता का त्यागकर मुनि होकर आत्मारोधना करूँगा और मोक्ष को साधूँगा।”

महाराजा के दीक्षा लेने के निश्चय से चारों ओर हलचल मच गई। देवों को भी ज्ञात हो गया; अतः वे दीक्षा कल्याणक का महोत्सव मनाने आ गये। जन्म का उत्सव दीक्षाकल्याणक के उत्सव में परिवर्तित हो गया। ब्रह्मर्षि लौकान्तिक देवों ने प्रभु की स्तुति करके अचिन्त्य महिमावन्त वैराग्य का अनुमोदन किया। उसीसमय इन्द्र ‘संसारदत्ता’ नामक पालकी लेकर आ पहुँचे। प्रभु ने उस पालकी में बैठकर तपोवन की ओर प्रयाण किया। जन्मोत्सव में आये हुए एक हजार राजा भी प्रभु के साथ तपोवन की ओर चले और उन्होंने भी प्रभु के साथ ही दीक्षा ले ली।

अहा! एक तीर्थकर के साथ जब हजार-हजार राजा दीक्षा लेकर आत्मध्यान करते होंगे, तब ध्यानस्थ मुनियों का वह दृश्य कैसा अद्भुत, अद्वितीय, शान्ति और प्रेरणादायक होगा। वह दृश्य देखकर वन के हिंसक पशु भी अहिंसक और शान्त हो जाते थे।

इसप्रकार अनन्तनाथ अपने जन्म दिन पर ही दीक्षा लेकर आत्मध्यान में लीन हो गये। उनको तुरंत ही अनेक ऋद्धियों सहित मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन तक उपवास के पश्चात् मुनिराज अनन्तनाथ आहारचर्या हेतु साकेतपुरी पधारे। राजा विशाख ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रथम पारणा के रूप में आहार दान

दिया। आहार दान देनेवाले को ऐसा निर्मलभाव हुआ कि उसके मोक्ष के सूचक दैवी वाद्य बजने लगे और आकाश से रत्नवृष्टि हुई।

मुनिदशा में विचरण करते हुए वे दो वर्ष बाद पुनः अयोध्या नगरी में पधारे और जिस तपोवन में दीक्षा ली थी, उसी में चैत्रकृष्ण अमावस्या के दिन शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट हो गया। देवेन्द्रों ने उनका केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया और समवशरण की रचना की। अनन्तनाथ भगवान की अनन्तभावों से भरी दिव्यध्वनि सहजरूप से खिरने लगी। 'जय' आदि पचास गणधर एकसाथ उस दिव्य वाणी को झेल रहे थे। तदुपरान्त कितने ही मुनिवरों ने समवशरण में ही आत्मलीन होकर केवलज्ञान प्राप्त किया। सब मिलाकर पाँच हजार केवली भगवान उनकी धर्मसभा में विराजते थे।

ज्ञातव्य है कि एक क्षेत्र में दो तीर्थकर साथ-साथ नहीं होते; परन्तु केवली भगवान (अरहंत) तो समवशरण में हजारों एकसाथ होते हैं। पाँच हजार मनःपर्ययज्ञानी, चार हजार से अधिक अवधिज्ञानी मुनिवर, एक हजार बारह अंगधारी श्रुतकेवली, तीन हजार से अधिक वाद विद्या में निपुण मुनिवर, चालीस हजार उपाध्याय तथा आठ हजार विक्रिया ऋद्धि धारी मुनिवर विद्यमान थे। कुल ६६ हजार मुनिवर एक लाख आठ हजार आर्यिकायें, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाओं का चतुर्विध संघ प्रभु के साथ मोक्षमार्ग में चल रहा था। तिर्यचों का राजा सिंह, हाथी, सर्प, बन्दर, मोर आदि लाखों प्राणी भी प्रभु के दर्शन से हर्षित होते थे। दिव्यध्वनि सुनकर आत्मज्ञान प्राप्त करते थे।

समवशरण के अचिन्त्य वैभव के सामने देव भी नतमस्तक थे और अपने आत्मवैभव की उपासना करते थे। कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यग्दृष्टि बन जाते थे। भगवान अनन्तनाथ ने लाखों वर्षों तक धर्मोपदेश देकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। उनकी दिव्यध्वनि में आता था कि - "हे भव्य ! आत्मा में एक ही नहीं, अपितु अनन्तधर्म एकसाथ विद्यमान हैं। एक ही समय में सत्पना और असत्पना; एकपना और अनेकपना; नित्यपना और अनित्यपना, ज्ञान और आनन्द, कर्तृत्व और अकर्तृत्व - ऐसे अनन्त धर्म किसी प्रकार के विरोध बिना वस्तु में एकसाथ विद्यमान हैं। यही वस्तु का स्वरूप है।

वस्तु में सर्व गुण-धर्म एक समान, तन्मयरूप से विद्यमान हैं, उनमें कोई गौण नहीं है। वक्ता अपने अभिप्राय के अनुसार जब उनमें से किसी एक को मुख्य करता है, उसीसमय उसके ज्ञान में दूसरा पक्ष गौणरूप से विद्यमान रहता है, उनका निषेध नहीं है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव-स्वरूप स्वाधीन है। उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में किसी का हस्तक्षेप नहीं है, अपने स्वाधीन स्वरूप को समझनेवाला जीव अपने-अपने धर्म स्वभावों से ही तृप्त रहता है।

प्रश्न - इस वस्तु व्यवस्था का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जैनदर्शन के अनुसार छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। छह द्रव्यों में जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं आकाश द्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं। इन सभी द्रव्यों के समूहरूप यह विश्व अनादि-अनन्त, नित्य परिणमनशील एवं स्वसंचालित है। इन द्रव्यों का परस्पर एकक्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी ये सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं है। वस्तुतः इन द्रव्यों का परस्पर में कुछ भी संबंध नहीं है। इस विश्व को ही लोक कहते हैं। इसीकारण आकाश के जितने स्थान में ये छह द्रव्य स्थित हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। शेष अनन्त आकाश अलोकाकाश है।

विश्व का प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र एवं परिणमनशील है। हमारा तुम्हारा आत्मा भी एक स्वतंत्र स्वावलम्बी द्रव्य है, वस्तु है, परिणमनशील पदार्थ है। स्वभाव से तो यह आत्मद्रव्य अनन्त गुणों का समूह एवं अनन्तशक्ति सम्पन्न है, असीम सुख का समुद्र और ज्ञान का अखण्डपिण्ड है; परन्तु अपने स्वभाव का भान न होने से एवं पराधीन दृष्टि होने से अभी विभावरूप परिणमन कर रहा है; इसकारण दुःखी है।

द्रव्यों या पदार्थों के इस स्वतंत्र परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति भी कार्य के ही नामान्तर हैं; पर्यायवाची नाम हैं।

सुख-दुःख का स्वभाव-विभावरूप कोई भी कार्य हो, वह बिना कारणों से नहीं होता और एक कार्य

के होने में अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें कुछ कारण तो समर्थ एवं नियामक होते हैं और कुछ आरोपित। आरोपित कारण मात्र कहने से कारण हैं, उनसे कार्य निष्पन्न नहीं होता। उनकी कार्य के निकट सन्निधि मात्र होती है। जैनदर्शन में इन कारणों की मीमांसा - निमित्त व उपादान के रूप में होती है।

प्रश्न - ये निमित्तोपादान अथवा कारण-कार्य क्या हैं, इनका ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

उत्तर - ये निमित्त-उपादान कार्य की उत्पादक सामग्री के नाम हैं; अतः इन्हें जिनागम में कारण के रूप में वर्णित किया गया है। इन निमित्तोपादान कारणों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना कर्ता-कर्म संबंधी निम्नांकित अनेक भ्रान्तियों के कारण हमें वीतराग धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है। जैसे -

प्रथम तो निमित्तोपादान को जाने बिना स्वावलम्बन का भाव जाग्रत नहीं होता।

दूसरे, पराधीनता की वृत्ति समाप्त नहीं होती।

तीसरे, मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ स्फुरायमान नहीं होता।

चौथे, निमित्त-उपादान के सम्यक् परिज्ञान बिना जिनागम में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था को भी सम्यक् रूप में समझना संभव नहीं है।

पाँचवे, इनके सही ज्ञान बिना या तो निमित्तों को कर्ता मान लिया जाता है या निमित्तों की सत्ता से ही इन्कार किया जाने लगता है।

छठवें, इनके यथार्थ ज्ञान बिना वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त एवं कार्य-कारण की स्वतंत्रता समझना सम्भव नहीं है। अतः इनका ज्ञान परम आवश्यक है।

प्रश्न ३. - मोक्षमार्ग में इनके ज्ञान की उपयोगिता क्या है ? इनके समझने से धर्म संबंधी लाभ क्या है?

उत्तर - निमित्तोपादान की यथार्थ समझ से तथा पर-पदार्थों के कर्तृत्व के अहंकार से उत्पन्न होनेवाला कषायचक्र सीमित हो जाता है, समता का भाव जाग्रत होता है। उदाहरणार्थ -

- मैं परजीवों का भला कर सकता हूँ - इस मान्यता से या ऐसी श्रद्धा से अहंकार उत्पन्न होता है।
- मैं पर को हानि पहुँचा सकता हूँ - ऐसी श्रद्धा से क्रोध भभकता है।
- पर मेरा भला कर सकता है - ऐसी मान्यता से दीनता/हीनता आती है।
- पर मेरा बुरा कर सकता है - ऐसी मान्यता से व्यक्ति भयाक्रान्त हो जाता है।

तथा इनकी यथार्थ समझ से निमित्तरूप पराश्रय के भावों से उत्पन्न होनेवाली दीनता/हीनता का अभाव होता है, क्रोधादि विभावभावों की उत्पत्ति नहीं होती, स्वतंत्रता/स्वाधीनता का भाव जागृत होता है तथा पर-पदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से होनेवाली व्यग्रता का अभाव होकर सहज-स्वाभाविक शान्तदशा प्रगट होती है।

प्रश्न ४ - परोन्मुखता समाप्त करने के लिए एवं स्वोन्मुखता प्राप्त करने के लिए कैसी श्रद्धा होना आवश्यक है ?

उत्तर - “आत्मा के सुख-दुःख में, हानि-लाभ या उत्थान-पतन में निमित्तरूप परद्रव्य का किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है तथा मेरा हिताहित दूसरे के हाथ में रंचमात्र भी नहीं है।” ऐसी श्रद्धा के बिना स्वोन्मुखता संभव नहीं है तथा स्वोन्मुख हुए बिना आत्मानुभूति होना संभव नहीं है, जो कि सम्यग्दर्शन की अनिवार्य शर्त है; क्योंकि आत्मानुभूति के बिना तो मोक्षमार्ग का शुभारंभ ही नहीं होता।

निमित्तोपादान के समझने से परपदार्थ के परिणामन में फेर-फार करने की जो अपनी अनादिकालीन विपरीत मान्यता है, उसका नाश तो होता ही है; अपनी पर्याय पलटने की, उसे आगे-पीछे करने की आकुलता भी समाप्त हो जाती है।

निमित्तोपादान का स्वरूप समझने से दृष्टि निमित्तों पर से हटकर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव की ओर ढलती है, जो अपने देह-देवालय में विराजमान स्वयं कारणपरमात्मा है। ऐसे कारणपरमात्मा की ओर ढलती हुई दृष्टि ही आत्मानुभूति की पूर्वप्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया से पार होती हुई ज्ञानपर्याय जब पर और पर्याय से पृथक् त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाती हैं, तभी आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है, इसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है; सुख-शान्ति प्राप्त करने का अमोघ-उपाय है।

इसप्रकार आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मूल उपाय निमित्तोपादान संबंधी सच्ची समझ ही है। न केवल आत्मिक बल्कि लौकिक, सुखशान्ति का उपाय भी यही है।

प्रश्न ५ - आत्मा में सम्यग्दर्शन (कार्य) निष्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है ?

उत्तर - कार्य-कारण के अनुसार ही निष्पन्न होता है। कहा भी है - 'कारणानुविधायित्वादेवकार्याणि तथा कारणानुविधायीनि कार्याणि। जैसे - जौ से जौ ही उत्पन्न होते हैं। स्वर्ण से आभूषण ही बनते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव से ही उत्पन्न होते हैं, देव-शास्त्र-गुरु से नहीं। देव-शास्त्र-गुरु तो निमित्तमात्र हैं, वे सम्यग्दर्शनरूप कार्य के कारण नहीं हैं।

प्रश्न ६ - कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर - कार्य की उत्पाद सामग्री को कारण कहते हैं। कार्य के पूर्व जिसका सद्भाव नियत हो और जो किसी विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न न करे। वस्तुतः यही कार्य की उत्पादक सामग्री है, जिसे कारण कहते हैं। कारण के मूलतः दो भेद हैं - १. उपादान कारण, २. निमित्त कारण।

इन दोनों कारणों के अनेक भेद-प्रभेद हैं।

प्रश्न ७ - निमित्तों में कर्तृत्व के भ्रम का कारण क्या है और उसका निवारण कैसे हो ?

उत्तर - कार्य के अनुकूल संयोगी पदार्थों की उत्पत्ति के समय अनिवार्य उपस्थिति होने से कार्य के अनुकूल होने से एवं उन्हें आगम में भी कारण संज्ञा प्राप्त होने से साधारण जन भ्रमित हो जाते हैं; परन्तु वे संयोगी पदार्थ कार्य के अनुरूप या कार्यरूप स्वयं परिणामित न होने से कर्ता नहीं हो सकते।

कहा भी है - 'यः परिणमति सः कर्ता।' अतः भ्रमित नहीं होना चाहिए।

प्रश्न - निमित्त कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप परिणमित न हों; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिन पर कारणपने का आरोप आता है, उन्हें निमित्त कारण कहते हैं।

प्रश्न - निमित्त-उपादान में परस्पर क्या अन्तर है ?

उत्तर - जिसके बिना कार्य हो नहीं और जो कार्य को करे नहीं, वह निमित्त है तथा जो स्वयं समर्पित होकर कार्यरूप परिणत हो जाय, वह उपादान है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसके साथ कार्य की बाह्य व्याप्ति हो वह निमित्त तथा जिसके साथ कार्य की अन्तरंग व्याप्ति हो वह उपादान है।

प्रश्न - निमित्तों का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

उत्तर - निमित्तों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना निमित्तों को कर्ता माने तो श्रद्धा मिथ्या है तथा निमित्तों को माने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या है।

प्रश्न - क्या निमित्तों की पृथक् सत्ता है, स्वतंत्र अस्तित्व है ? यदि है तो कृपया बताइये द्रव्यों में कौन द्रव्य उपादान व कौन द्रव्य निमित्त है ?

उत्तर - द्रव्यों में ऐसा कोई बंटवारा नहीं है। जो द्रव्य पर-पदार्थों के परिणामन में निमित्त रूप हैं, वे सभी निमित्तरूप द्रव्य स्वयं के लिए उपादान भी हैं। उदाहरणार्थ - जो कुम्हार को घट कार्य का निमित्त है, वही कुम्हार अपनी इच्छारूप कार्य का उपादान भी तो है।

निमित्त व उपादान कारणों के अलग-अलग गाँव नहीं बसे हैं। जो दूसरों के कार्य के लिए निमित्त हैं, वे ही स्वयं अपने कार्य के उपादान भी हैं।

प्रश्न - क्या निमित्त कारण के अन्य नाम भी हैं ?

उत्तर - हाँ, कारण, प्रत्यय, हेतु, साधन, सहकारी, उपकारी, उपग्राहक, आश्रय, आलम्बन, अनुग्राहक, उत्पादक, कर्ता, प्रेरक हेतुमत, अभिव्यंजक आदि नामान्तरों का प्रयोग भी आगम में निमित्त के अर्थ में हुआ है।

प्रश्न - क्या निमित्त कई प्रकार के होते हैं, निमित्तों के कुल कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर - वैसे तो निमित्त असंख्य प्रकार के हो सकते हैं। जितने कार्य उतने ही उनके निमित्त; परन्तु आगम में स्थूलरूप से उन्हें आठ वर्गों में विभाजित किया गया है। जिन्हें रागादि विभावभावरूप कार्यों के सम्पन्न होने में निमित्त कारणों के रूप में इसप्रकार खोज सकते हैं -

१. रागादि का अन्तरंग निमित्त : मोहनीय कर्म का उदय।

२. बहिरंग निमित्त : स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, रोग, शत्रु-मित्र आदि बाह्य वस्तुएँ।

३. प्रेरक निमित्त : इच्छा शक्तिवाले जीव तथा गमन क्रियावाले जीव पुद्गल।

४. उदासीन निमित्त : निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा इच्छा व राग रहित पर-पदार्थ।

५. बलाधान निमित्त : बल+आधान=बल का धारण। उपकार, आलम्बन आदि इसके पर्यायवाची हैं। निष्क्रिय होने पर भी जिनका क्रियाहेतुत्व नष्ट नहीं होता उसे बलाधान कहते हैं। प्रेरणा किए बिना सहायक मात्र होने से इसे उदासीन भी कहते हैं।

बलाधान निमित्त को समझाते हुए कहा गया है - जैसे अपनी जांघ के बल चलनेवाले पुरुष को यष्टि (लकड़ी) का आलम्बन बलाधान निमित्त है। वस्तुतः निष्क्रिय निमित्तों का ही एक नाम बलाधान है।

६. प्रतिबन्धक : रुकावट करनेवाले या बाधक निमित्त। जैसे- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मिथ्यात्व कर्म का उदय तथा अज्ञानी गुरु आदि का मिलना।

७. अभावरूप निमित्त - समुद्र की निस्तरंग दशा में हवा का न चलना। तत्त्वोपलब्धि के लिए तदनुकूल सत्समागम का अभाव।

८. सद्भावरूप निमित्त : तरंगित दशा में वायु का चलना । तत्त्वोपलब्धि में सत्संग का मिलना ।

प्रश्न - निमित्तों को उपचरित कारण या आरोपित कारण क्यों कहा ?

उत्तर - जिनसे कार्य सम्पन्न तो न हो; किन्तु जिनकी उपस्थिति या सन्निकटता हो, उन्हें उपचरित या आरोपित कारण कहा जाता है ।

उदाहरण - जैसे वर के साथ घोड़े पर बैठे बालक को अनवर कहते हैं । यद्यपि उसमें वरपना किंचित् भी नहीं है, उसे दुलहन नहीं मिलती; तथापि सहचारी या सन्निकट होने से उसे अनवर कहा जाता है और मात्र सम्मान मिलता है ।

हाँ, उस बालक को अनवर नाम और सम्मान मुफ्त में नहीं मिला । वह अपने सीने पर गोली झेलने जैसा खतरा झेलता है । पहले जब स्वयंवर होते थे । बारात यानि वरयात्रा निकलती थी, उनमें अनवर वर की ही पोशाक में रहता था, जो वर की सुरक्षा करता था । यदि कोई सामने से आक्रमण करे तो पहले अनवर झेलता था । इसीप्रकार निमित्तों को भी निन्दा-प्रशंसा के प्रहार झेलने एवं सहने पड़ते हैं ।

प्रधानमंत्री-राष्ट्रपति की गाड़ी के समान ही दो गाड़ी आगे, दो गाड़ी पीछे रहती हैं; क्योंकि वे अंगरक्षक हैं ।

प्रश्न - उपादान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो अथवा जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न हो उसे उपादान कारण कहते हैं । पदार्थ की निज सहज शक्ति या मूल स्वभाव ध्रुव उपादान कारण है तथा द्रव्यों में अनादिकाल से जो पर्यायों का परिणमन हो रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय एवं कार्योत्पत्ति के समय की पर्यायगत योग्यता क्षणिक उपादान कारण है । यह पर्यायगत योग्यता ही कार्य का समर्थ कारण है ।

प्रश्न - उपादान कारण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर - उपादान कारण के मूलतः दो भेद हैं - एक त्रिकाली या ध्रुव उपादान और दूसरा तात्कालिक या क्षणिक उपादान ।

क्षणिक उपादान भी दो प्रकार का है -

(क) अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय ।

(ख) तत्समय की योग्यता ।

इसप्रकार उपादान कारण तीन प्रकार का हो गया है, जो इसप्रकार है -

(१) त्रिकाली उपादान कारण ।

(२) अनन्त पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादान कारण ।

(३) तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण ।

प्रश्न - 'योग्यता' शब्द तो आगम में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ 'योग्यता' का क्या अर्थ है?

उत्तर - जीव की प्रत्येक समय की पर्याय में जो राग या वीतरागतारूप परिणमन करने की स्वतंत्र शक्ति है, उसे ही उपादान की तत्समय की योग्यता कहते हैं ।

द्रव्य में जब/जो कार्य होता है, वह स्वयं द्रव्य की अपनी तत्समय की उपादानगत योग्यता से ही होता है । समय-समय का क्षणिक उपादानकारण पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है । उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं है ।

यद्यपि कार्य सम्पन्न होने के काल में कार्य के अनुकूल परद्रव्यरूप निमित्त होते अवश्य हैं; परन्तु उन निमित्तों का कार्य सम्पन्न होने में कोई योगदान नहीं होता - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है ।

“निमित्तमात्रं तत्र, योग्यता वस्तुनि स्थिता ।

बहिनिश्चयकालस्तु, निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ॥

वस्तु में स्थित परिणामनरूप योग्यता ही कार्य का नियामक कारण है, जिसे अंतरंग निमित्त कहा है। निश्चय कालद्रव्य को बाह्यनिमित्त कारण कहा है।

प्रश्न - त्रिकाली उपादान एवं क्षणिक उपादानों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे त्रिकाली उपादान कारण कहते हैं। पदार्थ की निज सहजशक्ति या मूलस्वभाव ध्रुव या त्रिकाली उपादान है। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, वह त्रिकाली या ध्रुव उपादान कारण कहलाता है।

ध्रुव उपादान कारण स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है। जैसे मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमित होती है। अतः घट कार्य का ध्रुव उपादान रूप नियामक कारण मिट्टी है। इसीप्रकार आत्मा अथवा श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र गुण स्वयं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप परिणमता है; अतः आत्मा की इन पर्यायों या कार्यों का ध्रुव त्रिकाली उपादानरूप नियामक कारण आत्मा या श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण है।

तात्कालिक या क्षणिक उपादान कारणों में जो अनन्तपूर्वक्षणवर्तीपर्याय युक्त द्रव्य का व्यय प्रथम क्षणिक उपादान कारण है, उस कारण का अभाव करते हुए कार्य उत्पन्न होता है। अतः इस कारण को अभावरूप नियामक कारण कहते हैं तथा कार्य होने की योग्यतारूप दूसरा क्षणिक उपादान कारण है, वही पर्याय 'योग्यता' की अपेक्षा कारण एवं वही पर्याय 'परिणामन' की अपेक्षा कार्य कही जाती है।

वस्तुतः तो पर्याय की तत्समय की योग्यता ही कार्य का नियामक और समर्थ कारण है; परन्तु तीनों ही उपादान कारणों को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से नियामक कारण कहा गया है।

उदाहरणार्थ : सम्यग्दर्शनरूप कार्य के कारण इसप्रकार हैं -

त्रिकाली उपादान कारण - जीवद्रव्य या श्रद्धागुण।

क्षणिक उपादान कारण नं .१ - अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय का व्यय अर्थात् मिथ्यादर्शन का व्यय।

क्षणिक उपादान कारण नं. २ - तत्समय की योग्यता अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने का उत्पाद ।

माना कि दस नं. की पर्याय (सम्यग्दर्शन) जीवद्रव्य या श्रद्धागुण का कार्य है, जो कि उसके पूर्व नौ नं. की पर्याय (मिथ्यादर्शन) का अभाव करके हुई है । ये नौ एवं दस नं. की दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं । इनमें काल भेद है; अतः इनमें तो कारण-कार्य संबंध बन नहीं सकता; परन्तु नौ नं. की मिथ्यात्व पर्याय का व्यय एवं दस नम्बर की समकित पर्याय के उत्पाद का समकाल है एवं समभाव है । वस्तुतः ये दोनों दो हैं ही नहीं, एक ही हैं । इन्हीं में तत्समय कार्यरूप परिणमन की योग्यता कारण एवं परिणमन कार्य है ।

ध्यान दें, क्षणिक उपादान नं. की अनन्त समय में ही अर्थात् समकाल में ही सम्यग्दर्शन की योग्यता का प्रगट होना नियामक और समर्थकारण एवं उसी क्षण प्रगट हुई सम्यग्दर्शन की पर्याय कार्य है ।

प्रश्न - क्या नियामक कारण भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं ?

उत्तर - क्यों नहीं ? अवश्य हो सकते हैं ।

प्रत्येक कार्य (पर्याय) का त्रिकाली उपादान इस बात का नियामक है कि वह कार्य (पर्याय) अमुक द्रव्य या उसके अमुक गुण में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और उसी द्रव्य के अन्य गुण में भी नहीं । सम्यग्दर्शनरूप कार्य आत्मद्रव्य और उसके श्रद्धागुण में ही सम्पन्न होगा; पुद्गलादि द्रव्यों या आत्मा के ज्ञानादि गुणों में नहीं ।

अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य का व्ययरूप क्षणिक उपादान विधि (पुरुषार्थ) का नियामक है । इस उपादान कारण से यह सुनिश्चित होता है कि यह कार्य इस विधि से, इस प्रक्रिया से ही सम्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं ।

तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान काल का नियामक है । जिस द्रव्य या गुण में जिससमय जिस कार्यरूप परिणमित होने की योग्यता होती है, वह द्रव्य या वह गुण उसीसमय उसी कार्यरूप परिणमित होता है ।

चूंकि कार्य का दूसरा नाम पर्याय अर्थात् काल भी है, यही कारण है कि काल के नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कारण भी कहा जाता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादान, विधि (पुरुषार्थ) का नियामक अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से युक्त द्रव्यरूप क्षणिक उपादान और काल का या कार्य का नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान रहा।

प्रश्न - ध्रुव उपादान को वस्तुतः समर्थ कारण क्यों नहीं माना गया ?

उत्तर - ध्रुव उपादान को कार्य का समर्थ कारण इसकारण नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके रहते हुए भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। यदि ध्रुव उपादान को समर्थ कारण मानेंगे तो कारण के रहते कार्य सदैव होते रहने का प्रसंग प्राप्त होगा।

समर्थ कारण कहते ही उसे हैं, जिसके होने पर कार्य नियम से होवे ही होवे और जिसके बिना कार्य होवे ही नहीं।

प्रश्न - जब यह त्रिकाली उपादान समर्थ कारण नहीं है तो इसको कारण कहा ही क्यों ?

उत्तर - यद्यपि त्रिकाली उपादान समर्थकारण नहीं है; परन्तु यह स्वभाव का नियामक है। जब भी कार्य होगा, तब इसी ध्रुव या त्रिकाली उपादान में से ही होगा; अन्य किसी द्रव्य में से नहीं होगा। इस अपेक्षा त्रिकाली द्रव्य को द्रव्यार्थिकनय से कार्य का नियामक कारण कहा है। यह नय सम्पूर्ण द्रव्य को ग्रहण करता है।

प्रश्न - ऐसा कारण मानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - ध्रुव उपादान को कारण मानने से लाभ यह है कि साधक की दृष्टि अन्य अनन्त द्रव्यों पर से हटकर एक अपने त्रिकाली ध्रुव उपादान कारण का ही आश्रय करने लगती है। इसी अपेक्षा इसे आश्रयभूत कारण भी कहा जाता है।

रत्नत्रयस्वरूप कार्य प्रगट करने की भावनावाला व्यक्ति अन्य अनेक व्यवहार के विकल्पों में उलझे उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने त्रिकाली आत्मद्रव्य का ही आश्रय लेने में लगाता है। यह प्रयोजन देखकर ही त्रिकाली उपादान कारण को उपचार से कारण कहा है।

प्रश्न - आगम में अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य के व्यय को कारण और अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य के उत्पाद को कार्य कहा गया है।

जब यहाँ एक ही वस्तु (पर्याय) को नास्ति से पूर्व पर्याय का व्यय और अस्ति से उत्तर पर्याय का उत्पाद कहा जा रहा है तो यहाँ व्यय को उत्पाद का कारण कहने का क्या हेतु है ?

जब ये दोनों एक ही समय में हैं अथवा एक ही पर्याय के अंश हैं, इनमें कालभेद है ही नहीं तो इनमें कारण-कार्य विवक्षा कैसे संभव है ?

उत्तर - पूर्व पर्याय का व्यय ही नवीन पर्याय का उत्पाद है अर्थात् पूर्वपर्याय के व्ययपूर्वक ही नवीन उत्पाद होता है। व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता। यह विधि या पुरुषार्थ का नियामक है। जब भी कार्य होगा तो इस विधि पूर्वक ही होगा - ऐसा नियम बताने के लिए पूर्व पर्याय के व्यय को कारण कहा जाता है।

यद्यपि उत्तर पर्याय का उत्पाद ही पूर्व पर्याय का व्यय है, इनमें वस्तुभेद व कालभेद नहीं है; तथापि आगम में ऐसी कथन पद्धति है कि नास्ति से व्यय को अभावरूप कारण व अस्ति से उत्पाद को कार्य कहा जाता है।

प्रश्न - सहकारी कारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है। इस कथन का क्या अर्थ है ?

उत्तर - शक्ति दो प्रकार की होती है - द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य। यद्यपि नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्याय शक्ति को ही कार्य का नियामक कारण स्वीकार किया गया है। तथापि द्रव्यशक्ति यह

बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा; अतः न तो द्रव्यशक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है। पर, ध्यान रहे काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय है। यह पर्यायशक्ति अनन्तपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। इसीलिए क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है।

यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा।

यदि निमित्त को भी इसमें शामिल करके बात करनी है तो इसप्रकार कहा जाता है कि सहकारीकारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।

धर्मोपदेश में वस्तु का प्ररूपण करते हुए भगवान अनन्तनाथ ने साढ़े सात लाख वर्ष तक विहार किया और करोड़ों जीवों को मोक्षमार्ग में लगाया। अन्त में जब एक मास की आयु शेष रही तब सम्मदशिखर की स्वयंभू टोंक पर आकर स्थिर हो गये वहाँ उनकी विहार और वाणी रुक गये।

चैत्र कृष्णा अमावस्या को सम्पूर्ण योग निरोध करके भगवान अनन्तनाथ तीर्थकर मोक्षपद को प्राप्त हुए। इन्द्रों ने मोक्षकल्याणक महोत्सव मनाकर पूजा की।

प्रत्येक आत्मा में ऐसे अनन्तधर्म हैं, वे पर से भिन्न हैं – ऐसे एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप समझाने वाले तथा अशुद्धभावों से छुड़ाकर शुद्धभावों को प्रगट करनेवाली भगवान अनन्तनाथ की स्याद्वादशैली सदा प्रकाशमान हो। अनन्त नयात्मक स्वानुभव प्रमाण द्वारा अनन्त चैतन्य निधान की प्राप्ति करानेवाले अनन्तनाथ जिनका जीवन तो धन्य हुआ ही, उनके जीवनदर्शन से पाठकों का जीवन भी धन्य हो जाता है।

अनेकान्तस्वरूप आत्मा के अनन्त धर्मों को प्रकाशित करके अनन्त धर्मों की शुद्धि सहित जो अनन्तनाथ प्रभु अब भी सिद्धालय में विराजमान हैं, उन शुद्धात्मा-सिद्धात्मा को शत् शत् नमन।

दया धरम है दान धरम है, प्रभु पूजा धर्म कहाता है ।
 सत्य-अहिंसा त्याग धरम, जन सेवा धर्म कहाता है ॥
 ये लोक धरम के विविध रूप, इनसे जग पुण्य कमाता है ।
 शुद्धातम का ध्यान धरम, बस यही एक शिवदाता है ॥
 वीतराग विज्ञानमय धरमनाथ ध्रुवधाम ।
 धरम धुरंधर परम गुरु शत्-शत् करूँ प्रणाम ॥

हे धर्मनाथ भगवान! आप रत्नत्रयरूप धर्म के धारक, धर्म के दस लक्षणों के धारक एवं वस्तुस्वभाव धर्म के धारक और इन सबके प्रचारक-प्रसारक हैं; अतः आपकी जय हो । यद्यपि ये सब धर्म के स्वरूप हमारे आत्मा में भी हैं; परन्तु अभी आप जैसे प्रगट पर्याय में नहीं हैं, अतएव हमें आपकी शरण प्राप्त हो । एतदर्थ हम आपके चरणों में शत-शतबार नतमस्तक हैं ।

तीर्थकर भगवान धर्मनाथ के प्रेरणाप्रद आदर्श पूर्वभवों का परिचय कराते हुए सर्वज्ञदेव की परम्परा से प्राप्त आचार्यों ने कहा है कि - “इसी भरत क्षेत्र के चौबीस तीर्थकरों में धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थकर थे । उनका चरण चिह्न वज्र था । पूर्व भव में वे दशरथ नामक राजा थे और धातकी खण्ड के विदेह क्षेत्र में सुसीमा नगरी में राज्य करते थे । एक राजा के वैभव के अनुसार उनको भी यद्यपि सभी सुख-सुविधायें प्राप्त थीं; परन्तु उनका चित्त सदैव धर्म की उपासना/आराधना में ही अधिक रहता था ।

एकबार चैत्र की पूर्णिमा को रात्रि में चन्द्र की ओर निहार रहे थे कि देखते ही देखते उसको चन्द्र-ग्रहण लग गया । बस, उसे देखते ही राजा दशरथ को वैराग्य हो गया ।

चन्द्रग्रहण तो पहले भी अनेक बार देखा था; परन्तु तब वैराग्य होने की घड़ी नहीं आई थी, काललब्धि नहीं आई थी, अतः वे पूर्व में देखीं अनेक घटनायें निमित्त कारण न बन सकीं। अब अन्तर में उपादान की तत्समय की योग्यता का परिपाक हुआ और बाहर निमित्तरूप में चन्द्रग्रहण को देखने का संयोग मिला तो राजा दशरथ को वैराग्य हो गया।

वे सोचने लगे, “अरे ! ऐसे प्रतापवंत चन्द्र को भी क्षणभर में राहू ग्रस लेता है तो पुण्य से प्राप्त इस राज्य वैभव को भी दुर्भाग्य रूप राहू कभी भी ग्रस सकता है, अतः समय रहते ऐसा काम क्यों न करें, जिससे दुर्भाग्य को ग्रसने का मौका ही न मिले। वह हमें ग्रसित कर सके, उसके पहले हम ही उस दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल दें। अर्थात् जिन दीक्षा धारण करके उस कर्मकलंक को ही धो डालें। फिर न रहेगा बांस न बनेगी बांसुरी। जब कर्म ही नहीं होंगे तो दुर्भाग्य से भाग्य का सवाल ही नहीं उठता।”

देखो, जिसप्रकार विशाल समुद्र के बीच जहाज पर बैठे पक्षी को जहाज के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है, उसीप्रकार संसारी प्राणी को एक आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है। सब संयोग अध्रुव हैं। यह जीव परिवार के निमित्त से पाप करता है, उसका फल उसे स्वयं को ही भोगना होता है, परिवार साथ नहीं देता, दे भी नहीं सकता। अतः ऐसे संसार का मोह तुरन्त त्यागने योग्य है।

दशरथ राजा यह निश्चय करते हैं कि “मैं भी कल ही मुनिदीक्षा ग्रहण करूँगा और अपने चैतन्य सुख को साधूँगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा दशरथ ने राजसभा में जिनदीक्षा लेने की घोषणा कर दी। अनेक भव्य जीवों ने उनके वैराग्य की प्रशंसा की और अनुमोदना की। उनके अनेक मंत्रियों में एक विचित्रमती नामक मंत्री कुछ विचित्र ही था। वह ही परलोक और मोक्ष सुख के प्रति आस्थावान था, शेष नास्तिक विचारों के मंत्री ने राजा को सलाह देते हुए कहा कि - ‘हे राजन ! आप सबप्रकार से साधन सम्पन्न हो, सबप्रकार के इन्द्रियसुख आपको उपलब्ध हैं। इन प्रत्यक्ष सुखों को छोड़कर परोक्ष सुखों की मृगतृष्णा में क्यों वन-

वन भटकने जाते हो? शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय सुखस्वरूप आत्मा को किसने देखा है ? परलोक और मोक्ष किसने देखे? अतः आप उपलब्ध राजसुख का ही उपभोग करें।

नास्तिक मंत्री के विचित्र विचारों का भावी तीर्थंकर महाराज दशरथ के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मंत्री के कथन से अप्रभावित रहकर उन्होंने शान्ति के साथ गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया - “हे मंत्री! तुम राज्यशासन का सुचारु रीति से संचालन करने में अत्यन्त चतुर सलाहकार हो, इसमें जरा भी संदेह नहीं; परन्तु अभी तुम लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व से सर्वथा अनभिज्ञ हो। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर ने प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक यह सबकुछ देखा-जाना है। और आत्मा के स्वरूप की सिद्धि की है। और सौभाग्य से जिनधर्म की शरण प्राप्त होने से मुझे भी अपने स्वानुभव द्वारा देह से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष भासित होने लगा है। विषयरहित अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी मुझे किंचित्-किंचित् आने लगा है। आत्मा में जैसा निराकुल सुख है, वैसा इन विषयों में कहीं नहीं है। कोई भी विषयसुख आत्मा को कभी भी तृप्ति नहीं दे सकते; अतः इस विषय में आप सलाह देने के अधिकारी नहीं हैं। यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें भी इसी मार्ग पर आना होगा।” - ऐसा कहकर महाराजा दशरथ ने राजसभा में ही देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि करते हुए उद्बोधन दिया -

“हे भव्य आत्माओं ! जीव को अन्तर में जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उन अनुभूतियों को जीव स्वयं अन्तर में स्वानुभव से स्पष्ट जानता है। विचार की उत्पत्ति शरीर में नहीं होती, किन्तु शरीर से भिन्न जीव में होती है। जीव अरूपी है इसलिए उसके विचारों एवं अनुभूतियाँ भी अरूपी हैं; वे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर न होने पर भी इन्द्रियरहित स्वसंवेदनरूप ज्ञान से जाने जा सकते हैं। इसप्रकार स्वसंवेदन करनेवाला जो तत्त्व है, वही जीव है। शरीर की चेष्टाएँ इन्द्रियों द्वारा दिखाई देती हैं; क्योंकि वे मूर्त हैं। इसप्रकार अरूपी एवं ज्ञानमय जीव का अस्तित्व प्रत्येक को अपने स्वसंवेदन से सिद्ध हो सकता है। ‘मैं हूँ’ ऐसी अपनी अस्ति का जो वेदन करता है, वही जीव है।”

“एक मनुष्य को जितना ज्ञान है; हाथ-पैर कट जाने से कहीं उसका ज्ञान उतना कट नहीं जाता, ज्यों का त्यों रहता है; क्योंकि ज्ञान शरीर में नहीं था, किन्तु शरीर से भिन्न जीव में ही था। वह ज्ञानमय जीव यदि शरीर से भिन्न नहीं होता तो शरीर कटने से उतना ज्ञान भी कट जाता; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान जीव का ही लक्षण है, शरीर का नहीं। शरीर संयोगी वस्तु होने से उसके दो टुकड़े हो सकते हैं; जीव असंयोगी होने से उसके दो टुकड़े किसीप्रकार नहीं हो सकते तथा कई बार देखा जाता है कि कोई जीव शरीर में रोगादि प्रतिकूलता होने पर भी अथवा शरीर अग्नि में जलता होने पर भी शान्ति रखता है और धर्मध्यान करता है तथा किसी जीव को बाह्य में स्वस्थ-सुन्दर शरीर होने पर भी अन्तर से वह किसी भयंकर चिन्ता में जल रहा होता है। इसप्रकार दोनों तत्त्वों की क्रिया बिल्कुल भिन्न-भिन्न होती है। ऐसा तभी हो सकता है, जब जीव और शरीर दोनों पदार्थ बिल्कुल भिन्न-भिन्न हों।”

इसप्रकार महाराज ने जीव का अस्तित्व और शरीर से उसकी भिन्नता समझाई जिसे सुनकर सभाजन तथा सभी मंत्रीगण भी प्रसन्न हुए।

मंत्री ने पूछा - “हे महाराज ! आपने स्वसंवेदन से जीव की सिद्धि की तथा शरीर और जीव की भिन्नता युक्तिपूर्वक समझाई यह तो सत्य है; किन्तु इन बाह्य विषयों के बिना आत्मा में सुख कैसे होगा ?”

महाराज ने कहा - “सुनो ! वस्तुतः विषयों के बिना ही आत्मा सुखी होता है, जैसे सिद्ध परमात्मा।

अनादि से जीव बाह्य विषयों में मोहित होकर उनसे सुखी होना चाहता है, समस्त विषयों को वह अनेकबार भोग भी चुका है; परन्तु अभी तक सुखी नहीं हुआ, किन्हीं भी विषयों में उसे तृप्ति नहीं मिली; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं, उनके पीछे दौड़ने में मात्र दुःख और आकुलता ही होती है। जब किसी धर्मात्मा से सुनकर या जानकर कोई भव्य जीव अपने आत्मस्वरूप को शान्तिपूर्वक विचारता है, उससमय वह पाँच इन्द्रियों के किसी भी विषय को भोगता नहीं है, उसका चिन्तन भी नहीं करता। आत्मविचार ही करता है कि ‘मेरा आत्मतत्त्व शरीर से भिन्न है, उसे साधकर मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा’ ऐसे विचार के समय

पाँच इन्द्रियों के बाह्य विषय यद्यपि छूट गये हैं; परन्तु वह जीव दुःखी नहीं है, परन्तु अन्तर में उसे एक प्रकार की शान्ति का/सुख का वेदन ही होता है। वह आत्मा में अधिक गहराई तक उतरकर तन्मय हो तो उसे अतीन्द्रिय सुख का वेदन भी होगा; वही मोक्षसुख का स्वाद है। इसप्रकार विषयों के बिना अकेले आत्मा से मोक्षसुख का अनुभव होता है। आत्मा द्वारा होनेवाला ऐसा सुख ही नित्य रहनेवाला परमार्थ सुख है। स्वसंवेदन से मुझे ऐसे सुख की प्राप्ति हुई है और उसकी पूर्ण साधना के लिए सर्व परिग्रह छोड़कर मैं आज वन में जाता हूँ। जिन्हें मोक्षसुख साधने की अभिलाषा हो, वे भी मेरे साथ चलें।”

वैराग्यवन्त महाराजा की ऐसी सरस बात सुनकर समस्त सभाजन प्रसन्न हुए और जब भावी तीर्थकर उन महाराजा दशरथ ने जिनदीक्षा हेतु वनगमन किया, तब हजारों प्रजाजन भी उनके साथ वन में गये। वहाँ श्री विमलवाहन भगवान के निकट सबने जिनदीक्षा धारण की। पश्चात् दशरथ मुनिराज ने रत्नत्रयसहित उत्तम तप किया; उत्तमक्षमादि दसधर्मों की आराधनापूर्वक, दर्शनविशुद्धि, पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि गुणों का भी पालन किया और तीर्थकर प्रकृति बांधी। अन्त में समाधिमरण करके सर्वार्थसिद्धि में देव हुए।

वे देव आत्मज्ञानी थे, उन्होंने मुनिदशा में परम-वीतरागी शान्ति का अनुभव किया था; इसलिए सर्वार्थसिद्धि के देवविमान में असंख्यात वर्षों तक रहने पर भी उनकी चित्तवृत्ति शान्त थी; देवियों के बिना भी वे महान सुखी थे। विषयों की वासना अथवा बाह्य विषयों के बिना भी आत्मा स्वयं उत्कृष्ट सुखरूप परिणमित हो सकता है - यह बात उनको 'अनुभवसिद्ध' थी। वे सदा अपने जैसे सर्वार्थसिद्धि के देवों से आत्मतत्त्व की अद्भुत महिमा की चर्चा और उसका चिन्तन करते थे। वे आत्मिकसुख से ही सुखी थे। उनका जीवन शुक्ललेश्यायुक्त अत्यन्त शान्त था। अनेक असंख्यात वर्षों तक आत्मा की आराधना सहित वे सर्वार्थसिद्धि में रहे।

सर्वार्थसिद्धि में जब उनकी आयु के छह माह शेष रहे, तब भरतक्षेत्र की रत्नपुरी नगरी में एक सुन्दर घटना हुई; जो इसप्रकार है -

इस भरतक्षेत्र में अयोध्या के निकट 'रत्नपुरी' नाम की सुन्दर नगरी है। वहाँ के महाराजा भानुसेन और महारानी सुप्रभा थी। वे भानु और सुप्रभा सम्पूर्ण राजवैभव सहित एवं गुणसम्पन्न होने पर भी एक बात से दुःखी थे। अभी तक उनको पुत्र प्राप्ति नहीं हुई थी। पुत्र के बिना उन्हें राजभोग नीरस प्रतीत होते थे। जिसप्रकार सम्यक्त्व रहित ज्ञान वैभव से या तप सामग्री से आत्मार्थी जीव का चित्त संतुष्ट नहीं होता, उसीप्रकार मातृहृदया महादेवी का चित्त महान राजभोग के बीच भी अतृप्त रहता था। जिसप्रकार भव से भयभीत भव्य जीव सम्यग्दर्शन के लिए लालायित रहता है, उसीप्रकार वह महारानी पुत्र प्राप्ति की लालसा रखती थी। दिन-प्रतिदिन उसकी लालसा बढ़ती गई और उसे उदास देखकर महाराजा भानु भी चिन्तित रहने लगे। जिसप्रकार सम्यक्त्व के लिए लालायित सच्चे आत्मार्थी को उसकी प्राप्ति अवश्य होती है, उसीप्रकार महापुण्यवन्त महाराजा और महारानी के जीवन में भी पुत्र प्राप्ति की एक अद्भुत घटना घटित हुई।

एक बार (कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी के दिन) वे राजसभा में बैठे थे। इतने में अचानक वनपाल उत्साहपूर्वक वहाँ आया और महाराजा के चरणों में आम्रफल भेंट किए। पके हुए सुन्दर आम्रफल देखकर सभाजन भी आश्चर्यचकित हो गये; (क्योंकि अभी आम्रफल पकने का मौसम नहीं था) फिर माली ने हर्षपूर्वक बधाई दी - हे महाराज ! आज अपने उपवन में मैंने अद्भुत-आश्चर्यकारी दृश्य देखे -

एक सिंह का और एक गाय का बच्चा साथ-साथ खेल रहे थे। सिंह और गाय साथ-साथ तालाब में पानी पी रहे थे, सिंह का बच्चा गाय को अपनी माँ समझकर उसका दूध पी रहा था और गाय का बच्चा निर्भय होकर सिंहनी का दूध पी रहा था; सिंहनी गाय के बच्चे को और गाय उस सिंहनी के बच्चे को दुलार रही थीं। मेरा आश्चर्य समाप्त हो इतने में मैंने देखा कि शेर और खरगोश दोनों एकसाथ बैठे हैं, इस कार्तिक मास में भी आम्रवृक्ष अचानक ही फलाच्छादित होकर झुक गये हैं; सचमुच असमय में ही आम्र पक गये। यह सब आश्चर्यजनक घटनायें देखकर मैं विस्मय विमूढ़ हो गया। मैं आसपास खोज कर रहा था तो मैंने देखा कि आकाशमार्ग से एक दिगम्बर मुद्राधारी साधु उपवन में उतरे और शुद्ध-स्वच्छ स्थान में बैठकर

आत्मध्यान करने लगे। उनकी शान्तमुद्रा अद्भुत है, उनके दर्शन से अलौकिक शान्ति का अनुभव होता है; मोर और सर्प, शेर और बन्दर, हाथी और सिंह एकसाथ मुनिराज के निकट बैठकर मानों शान्ति का अनुभव कर रहे हैं; कोई किसी की हिंसा नहीं करता और न किसी को किसी का भय है। हे महाराज! ऐसे ऋद्धिधारी मुनिराज का अपनी नगरी में पदार्पण हुआ है, उसकी बधाई देने मैं यहाँ आया हूँ।

मुनिराज के आगमन की बधाई सुनते ही रत्नपुरी के महाराजा भानु आनन्दविभोर हो गये, उनके मुख से निकला – ‘अहा! मेरी नगरी में ऐसे मुनि भगवन्त का आगमन!, इस हर्षोल्लास के प्रसंग पर पुत्र के अभाव की चिन्ता को भूलकर राजा, महारानी को साथ लेकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन मुनिराज के दर्शन हेतु तपोवन की ओर चले, लाखों प्रजाजन भी उनके साथ थे।

उपवन के निकट आते ही वहाँ की शोभा देखकर वे मुग्ध हो गये। सर्वऋतुओं के रंग-बिरंगे पुष्पों एवं फलों की सुन्दरता को देखकर महारानी को ऐसा रोमांच हुआ, मानों अब अपने जीवन-उद्यान में भी सुन्दर पुत्ररूपी पुष्प खिल उठेगा। आगे बढ़ने पर ध्यानस्थ ‘प्रचेतस’ मुनिराज को देखा। अहा, कैसी तृप्ति! जिनके चरणों की शीतल छाया में हिरण और शेर एकसाथ बैठे हैं और शान्ति से मुनिराज की मुद्रा निहार रहे हैं। नेवला और सर्प एक-दूसरे से सटकर शान्ति से बैठे हैं, न कोई भय है न बैरभाव। वन के समस्त वृक्ष उत्तम फल-फूलों से झुक रहे हैं – मानों मुनिराज को वन्दन करके फलों द्वारा पूजा कर रहे हों। मुनिराज तो अपने परमतत्त्व के अवलोकन में तल्लीन हैं, मानों सिद्धलोक से आकर सिद्ध भगवान ही विराजमान हों।

राजा कल्पनातीत आनन्द का अनुभव कर रहे थे। सो ठीक ही है – साधु-सन्तों का साक्षात् योग धर्मी जीवों को इन्द्रपद की अपेक्षा विशेष हर्ष देनेवाला होता है।

ऋद्धिधारी वात्सल्यमूर्ति मुनिराज के दर्शन से वे समस्त संसार दुःख को भूल गये थे। मुनिराज का ध्यानयोग पूर्ण होने पर उन्होंने नेत्र खोले; उन नेत्रों से धर्म का अमृत झर रहा था। राजा-रानी ने नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। रानी सुप्रभा का हृदय आज किसी कल्पनातीत प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था, उनके आत्मा में धर्म की एक नई झंकार उठ रही थी।

भानुराजा ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर मुनिराज की स्तुति की - “हे प्रभो! आज अचानक आपके दर्शनों से हमें महान कल्याण की प्राप्ति हुई, हमारे पाप धुल गये; आप आकाशमार्ग से यहाँ पधारे यह हमारे किसी महाभाग का संकेत है। आपके दर्शन से हमारे अन्तर में परम हर्ष हो रहा है और आपके श्रीमुख से धर्मकथा सुनने की उत्कण्ठा हृदय में जागृत हो रही है।”

मुनिराज ने कहा - “हे भव्य! तुम दोनों जीव मोक्षगामी हो। संसार के चाहे जैसे पुण्यसंयोग भी जीव को तृप्ति नहीं दे सकते; जीव को तृप्ति दे - ऐसा स्वभाव आत्मा में है। निजस्वभाव में सुख का जो भण्डार है, उसे देखते ही अपूर्व सुखानुभव और तृप्ति होती है। उस सुख के लिए किसी बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। राजवैभवादि चाहे जितने होने पर भी जीव मानसिक चिन्ताओं से दुःखी रहता है। देखो, तुम्हें स्वयं ही अनुभव है कि अपार बाह्य पुण्यसामग्री होने पर भी मानसिक चिन्ता से कितने दुःखी हो।

राजा को लगा जैसे मुनिराज उनके मन की बात समझ गये हों, इसलिए उन्होंने अपना हृदय खोलकर कहा - “हे स्वामी! आपकी बात सत्य है; सर्वप्रकार का राजवैभव होने पर भी हम पुत्र के बिना बहुत दुःखी हैं; पुत्र की चिन्ता के कारण धर्म की साधना में हमारा चित्त नहीं लगता। हे स्वामी! हमारी पुत्र संबंधी चिन्ता कब दूर होगी ?”

श्री मुनिराज बोले - “हे राजन्! हे सुप्रभा माता! सुनो! तुम कोई सामान्य मनुष्य नहीं हो, तुम्हारे महान पुण्य का उदय आज से ही प्रारम्भ होता है। तुम्हारी पुत्रेच्छा शीघ्र पूर्ण होगी, इतना ही नहीं, तुम्हारा होनहार पुत्र तीन लोक को आनन्दित करेगा। आज से ठीक छह मास पश्चात् महारानी के गर्भ में एक भव्यजीव आयेगा और वह भरतक्षेत्र में पन्द्रहवाँ तीर्थकर होकर जगत का कल्याण करेगा। जगत के गुरु ऐसे तीर्थकर के माता-पिता होने से तुम भी जगत्पूज्य बनोगे।”

“वाह! हमारे यहाँ पुत्र होगा और वह भी तीर्थकर बनेगा! यह बात मुनिराज के श्रीमुख से सुनकर दोनों के हर्ष का पार नहीं रहा। पन्द्रह मास पश्चात् अपनी रत्नपुरी में तीर्थकर का अवतार होगा - यह जानकर

समस्त प्रजाजन भी आनन्दित हो गये और सर्वत्र महान धर्मोत्सव का वातावरण छा गया। भानुसेन और रानी सुप्रभा को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तो हुई ही पुत्र की भी निकट भविष्य में प्राप्ति होगी। अहा, उनके हर्ष का क्या कहना! और इससे भी महान जो राग बिना अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ उसका तो कहना ही क्या? वह तो वचनातीत था। उन्हें प्रतीति हो गई कि संसार में पुत्रसुख की अपेक्षा सम्यक्त्व का सुख महान है और वही सच्चा सुख है। ऐसे अतीन्द्रिय सुख के विश्वासपूर्वक उसी क्षण उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। स्त्री पर्याय में जन्म लिया तब तो वे मिथ्यादृष्टि थीं; परन्तु आज तीर्थंकर की माता बनने की विशिष्ट पात्रता होने से सम्यक्त्व प्राप्त करके पवित्र हुई। तीर्थंकर के समान धर्मरत्न जिस पात्र में रखा हो, वह तो सम्यक्त्व से पवित्र होगा ही न ! उनका आत्मा और शरीर दोनों पवित्र थे, अशुचिरहित थे।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि माता और उसकी कोंख में सम्यग्दृष्टि पुत्र का अवतरण - यह जानकर धर्मात्मा भानुराजा को महान प्रसन्नता हुई; साथ ही उन्हें एक जिज्ञासा जागृत हुई, इसलिए मुनिराज से पूछा - “हे स्वामी ! हमारे घर में तीर्थंकर रूप में अवतरित होनेवाला वह जीव वर्तमान में कहाँ विराजमान है ? और पूर्वभव में उसने ऐसी कौन-सी साधना की, जिससे वह तीर्थंकर होगा ? कृपा करके अपने दिव्यज्ञान से जानकर हमें बतलायें।”

श्री मुनिराज वैसे तो अवधिज्ञान का उपयोग जहाँ-तहाँ नहीं करते; परन्तु विशिष्ट प्रयोजन समझकर एक तीर्थंकर आत्मा के पूर्वभव जानने के लिए उन्होंने क्षणभर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और प्रसन्नतापूर्वक कहा - “हे राजन् सुनो! वे होनेवाले तीर्थंकर वर्तमान में ‘सर्वार्थसिद्धि’ स्वर्गलोक में विराजते हैं और वहाँ उनकी छह मास आयु शेष है। छह मास पूर्ण होने पर वे वहाँ से चयकर रत्नपुरी में तुम्हारे यहाँ अवतरित होंगे। तुम शीघ्र ही अनेक आश्चर्यजनक चिह्न देखोगे।”

राजा-रानी तथा लाखों प्रजाजन अति हर्षपूर्वक मुनिराज के श्रीमुख से धर्मनाथ तीर्थंकर की आनन्दकारी कथा सुन रहे हैं। मुनिराज ने कहा - “हे राजन्! इससे पूर्वभव में वे भव्यात्मा विदेहक्षेत्र की सुसीमा नगरी

में दशरथ नाम के राजा थे। एक दिन चैत्रशुक्ला पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण देखकर वे संसार से विरक्त हुए और दीक्षा लेकर दर्शनविशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनाओं पूर्वक तीर्थकर नामकर्मरूप सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बंध किया और अब जैनधर्म का महान उद्योत करेंगे।”

इसप्रकार प्रचेतस मुनिराज के श्रीमुख से अपनी नगरी में अवतरित होनेवाले धर्मनाथ तीर्थकर के तीन भव व्याप्त हो गया। राजा-रानी मुनिराज के धर्मोपदेश से तथा पुत्र प्राप्ति के समाचारों से तृप्त होकर नगर में लौटे। मानों रत्नपुरी नगरी में तीर्थकर का अवतार हो ही गया हो - इसप्रकार सर्वत्र आनन्द छा गया और उत्सव होने लगे। वह दिन था कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी का।

महाराजा भानु और महारानी सुप्रभा हाथी पर बैठकर अभी तो राजमहल के मुख्यद्वार में प्रवेश कर ही रहे थे कि उन्होंने आश्चर्यजनक घटना देखी। आकाश में से दिव्यरूपधारी देवियाँ उतर रही हैं और चारों ओर रत्नों की वर्षा हो रही है। रत्नपुरी की शोभा में अचानक वृद्धि हो गई है, कभी नहीं देखे ऐसे अनुपम दृश्य देखकर प्रजा के हर्ष का पार नहीं था। उन देवियों ने राजमहल में प्रवेश किया और राजा-रानी को वन्दन कर कहने लगीं - “हे देव! हे माता! आप धन्य हैं! आप तो जगत के माता-पिता हो। छह मास पश्चात् आपके यहाँ तीर्थकर का आगमन होना है, इसलिए इन्द्र महाराज ने हमें आपकी सेवा में भेजा हैं। हम दिक्कुमारी देवियाँ हैं और तीर्थकर की माता एवं बाल-तीर्थकर की सेवा करने का महान लाभ हम प्राप्त करना चाहती हैं, जिसके प्रताप से हम भी मोक्षगामी होंगी। रत्नपुरी में प्रारम्भ होनेवाली यह रत्नवृष्टि भी आपके घर में तीर्थकर के आगमन की पूर्वसूचना है; यह रत्नवृष्टि निरन्तर पन्द्रह मास तक होती रहेगी।

महाराजा भानु और महादेवी सुप्रभा यह सब सुनकर तथा दृश्य देखकर परमतृप्त हुए। एक तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और पश्चात् तीर्थकर के कल्याणकों की प्राप्ति का सुअवसर, सोने में सुगन्ध, इससे अच्छा और क्या होगा ?

वैशाख कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि को जब महादेवी सुप्रभा मीठी नींद में सो रही थी तब उन्हें दिव्य हाथी, सिंह, वृषभ, लक्ष्मी, पुष्पमालाएँ, मंगल घट, किल्लोल करती मछलियाँ, चन्द्र, सूर्य, सरोवर,

देवविमान, नागभवन, सिंहासन, रत्नराशि एवं निर्धूम अग्नि - ऐसे सोलह मंगल स्वप्न दिखाई दिये; वे आनन्दविभोर हो गईं। अन्त में ऐसा लगा जैसे एक हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा हो। ठीक उसी क्षण सर्वार्थसिद्धि विमान में आयु पूर्ण करके तीर्थकर के जीव ने उनके उदर में प्रवेश किया। स्वर्गलोक के वैभव से असन्तुष्ट वे धर्मात्मा मोक्ष की साधना के लिए मनुष्य लोक में अवतरित हुए। 'धर्म' का अवतार हुआ।

उसीसमय पन्द्रहवें तीर्थकर के गर्भकल्याणक का महोत्सव मनाने हेतु देव-देवेन्द्र आ पहुँचे। उत्तम वस्त्रालंकारों की भेंट द्वारा माता-पिता का सम्मान करके 'जगतमाता' एवं 'जगतपिता' कहकर बहुमान किया। रत्नपुरी की शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी, प्रजाजनों में धर्मभावना जागृत हुई; माता सुप्रभा के विचारों में भी उच्च परिवर्तन हुआ। उन्हें ऐसी इच्छा हुई कि राज्य के कारागार में तथा पिंजरों में बन्द समस्त मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को बन्धन से मुक्त किया जाय। उनकी कोंख में मुक्त होनेवाला जीव पल रहा था, इसलिए उन्हें इच्छा भी वैसी उत्पन्न हुई कि सर्वजीवों को मुक्ति मिले। भगवान धर्मनाथ भी अवतार लेकर जीवों को मुक्ति का मार्ग बतलाकर बन्धन से मुक्त करानेवाले हैं।

नौ महीने गर्भ में रहने पर भी उन बाल तीर्थकर का शरीर मैला नहीं हुआ था। देवियाँ गर्भ में भी उनकी सेवा करती थीं। उनको गर्भावस्था के कोई दुःख नहीं सहने पड़े थे। उनकी माता को भी कोई कष्ट नहीं था। देवियाँ, चर्चा, विनोद, नाटक, संगीत आदि द्वारा सर्वप्रकार से उन्हें प्रसन्न रखती थीं।

माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन बालक के जन्म से सर्वत्र हर्ष छा गया, स्वर्ग के वाद्य अपने आप बज उठे। बाल-तीर्थकर के अवतार का सन्देश स्वर्ग तथा नरक में भी पहुँच गया। नरक में कभी नहीं देखी गई शान्ति का अनुभव करके नारकी जीव भी दो क्षण के लिए चकित हो गये और बाल तीर्थकर के अवतार का प्रभाव जानकर कितने ही जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। स्वर्गलोक के देवेन्द्रों ने तीर्थकर के जन्म की खबर पड़ते ही सिंहासन से उतरकर नमस्कार किया और भक्तिपूर्वक बाल-तीर्थकर के दर्शन करने रत्नपुरी में आ पहुँचे।

पश्चात् बालप्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके मेरुपर्वत पर ले गये। मेरुपर्वत पर बालक का जन्माभिषेक करके इन्द्र ने आनन्दकारी ताण्डव नृत्य किया और पश्चात् स्तुति करके प्रभु का नाम 'धर्मकुमार' रखा। उनके चरण में वज्र का चिह्न था। इन्द्र तो प्रभु को सम्बोधन कर कहता है -

हे देव! स्वर्ग के देव और कोई इष्ट देव नहीं है; आप ही इष्टदेव हैं। हे धर्म प्रभो! आपके धर्म का स्वीकार करने से यह जीव भवाटवी को पार करके मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। हे प्रभो! जिसने आपके वचनों का आस्वादन किया उसे अमृत का क्या काम है? जिसने हृदय में आपका चिन्तन किया एवं आपके द्वारा कथित स्वानुभूति का सुख प्राप्त कर लिया उसे सुख के लिए अब विषयों का क्या काम है? प्रभो! आप ही हमारे लिए धर्म के दाता हो; इसलिए आप सचमुच धर्मनाथ हैं। इसप्रकार 'धर्मनाथ' नाम से सम्बोधन करके इन्द्र ने बाल-तीर्थकर की स्तुति की।

इसप्रकार आनन्दपूर्वक मेरु पर अभिषेक और स्तुति करने के पश्चात् जिनेन्द्रप्रभु की शोभायात्रा सहित इन्द्र रत्नपुरी में लौटा; वहाँ माता-पिता एवं प्रजाजनों के समक्ष पुनः बाल-तीर्थकर के जन्म का भव्य महोत्सव मनाया।

रत्नपुरी के हर्ष का पार नहीं था। जबकि उन अवधिज्ञानी एवं आत्मज्ञानी बाल-तीर्थकर की ज्ञानचेतना तो हर्ष से पार तथा पुण्ययोग से भी अलिप्त वर्तती थी। धन्य थी धर्मकुमार की धर्मचेतना! उनका अवतार होते ही देश के प्रजाजन निरोग हो गये थे। अहा, तीर्थकर का अवतार जगत में किसे सुख का निमित्त नहीं होता? सचमुच तीर्थकर का जन्म त्रिलोक आनन्दकारी है; उससमय सभी जीव बैरभाव छोड़कर एक-दूसरे के मित्र बन गये थे। तीर्थकररूपी धर्मरत्न के समागम से उस नगरी का 'रत्नपुरी' नाम वास्तव में सार्थक हो गया था। उनके प्रताप से नगरी में चारों ओर रत्न बिखरे पड़े थे, तथापि सब लोगों का चित्त उन जड़रत्नों में नहीं; किन्तु चेतनवन्त 'धर्मरत्न' में ही लगा हुआ था। इन्द्र तो एकसाथ हजार नेत्र बनाकर प्रभु को निरखता हुआ आनन्द से नाच उठता था। बाल-तीर्थकर धर्मनाथ को देख-देखकर सभी जीव परमतृप्ति का अनुभव कर रहे थे।

धर्मकुमार धीरे-धीरे बड़े होने लगे। नन्हें से पुत्र को सुप्रभा माता जब गोद में लेतीं तब उनके स्पर्श-सुख की तृप्ति से क्षणभर उनके नेत्र मुंद जाते और कभी-कभी तो उन बाल-तीर्थकर के स्पर्श सुख के साथ अन्तर में चैतन्य स्पर्श के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद भी आ जाता था। नन्हा धर्मकुमार भी आनन्दित होकर माता के हाथ का चुम्बन कर लेता और हंस-हंसकर उन्हें अनुपम सुख देता था। माता भी पुत्र को चूम-चूमकर वात्सल्य का स्रोत बहाती थीं। वे बाल-तीर्थकर मात्र माता की आँखों के नहीं; अपितु समस्त नगरजनों के भी ध्रुवतारे थे।

धर्मकुमार को पूर्वभव से ही आत्मज्ञान था, अवधिज्ञान था; उनकी बुद्धि सर्वविषयों में पारंगत थी। अब उन्हें कौन-सी विद्या पढ़ना बाकी थी जो दूसरे गुरु उन्हें पढ़ाते ? हाँ एक कैवल्यविद्या अधूरी थी; परन्तु उसके लिए तो वे स्वयं ही अपने गुरु थे, स्वयंबुद्ध थे।

धर्मकुमार अपनी समान आयु के बालकों के साथ जब खेलते, क्रीड़ा करते; तब उनकी आनन्दमय चेष्टाएँ देखकर मोर भी हर्षित हो पंख फैलाकर नाच उठते; हिरण और खरगोश भी निर्भयता से निकट आकर उछल-कूद करने लगते; हाथी का बच्चा उन बालकुंवर को अपनी सूढ़ से उठाकर मस्तक पर बैठाता और सूढ़ में झुलाता था। यह देखकर वृक्षों पर बैठे हुए बन्दर चिल्ला-चिल्लाकर आनन्द से कूदते थे। नन्हें-सी देवियाँ उन्हें हाथों पर बिठाकर झुलाती और इस बहाने बालप्रभु का स्पर्श पाकर अनुपम आनन्द का अनुभव करती थीं।

महाराजा धर्मनाथ की आयु दस लाख वर्ष की थी; दो लाख पचास हजार वर्ष की आयु में रत्नपुरी के राजसिंहासन पर उनका राज्याभिषेक हुआ। पाँच लाख वर्ष तक धर्म की प्रधानता सहित भली-भांति राज्य का संचालन किया। समस्त राजा उनका सम्मान करके उत्तम भेंट देते थे। उन्हें कहीं युद्ध नहीं करना पड़ा, शान्तिपूर्वक राज्य किया। उनकी छत्रछाया में प्रजाजन सर्वप्रकार से सुखी थे।

धर्मकुमार को राजभोग दशा में आयु के सात लाख पचास हजार वर्ष बीत गये। एकबार माघकृष्णा त्रयोदशी को उनके जन्मदिन का भव्य उत्सव मनाने की तैयारियाँ चल रही थीं, देवों ने आकर रत्नपुरी का

अद्भुत शृंगार किया था। वे रात्रि को चन्द्रमा के प्रकाश में महल की छत से रत्नपुरी की अनुपम शोभा निहारते हुए अपने जीवन का विचार कर रहे थे...इतने में अचानक उल्कापात हुआ, उल्कापात का निमित्त पाकर महाराज के चित्त में भी वैराग्य की बिजली कौंध गई, दिव्य चेतना का चमत्कार हुआ।

उनका आत्मा पुकार उठा - “अरे, अपने शुद्ध आत्मा को जानकर भी अब उसे इस संसार के कारागृह में पड़ा हुआ कैसे देखा जा सकता है ? अब मैं अपने आत्मा को संसाररूपी कारागृह से शीघ्र ही छुड़ाऊँगा। मेरा आत्मा भवभ्रमण कर-करके बहुत थक गया है, अब तो बस, इस भवचक्र का अन्त करके, मोक्षपुरी में जाकर सदाकाल-शाश्वत सिद्धमुख में रहना है; उस सिद्धपद की साधना पूर्ण करने हेतु मैं मुनिदशा अंगीकार करूँगा। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति होने से इसी भव में मोक्ष निश्चित है, किन्तु उससे क्या शुद्धोपयोगी होकर स्वरूप में लीन होऊँगा तभी तो केवलज्ञान होगा; कहीं तीर्थंकर प्रकृति मुझे केवलज्ञान नहीं देगी। उसका और मेरा क्या संबंध? हममें अत्यन्त भिन्नता है।” ऐसा वैराग्य चिन्तन करते-करते प्रभु को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्वभव में आकाश में चन्द्रग्रहण देखकर वैराग्य हुआ था और इस भव में आकाश से खिरते हुए तारे को देखकर वैराग्य हुआ। इसप्रकार जन्मदिन के उत्सव के समय वैराग्य प्राप्त करके धर्मनाथ प्रभु दीक्षा लेने को तैयार हुए; राजमहल से तपोवन में जाने को और रागी से वीतरागी होने को तत्पर हुए; प्रभु ने जिनदीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। उनकी दीक्षा का निश्चय जानकर पंचम स्वर्ग से लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुति करते हुए कहा -

“हे देव! आप साक्षात् धर्म है, आप दीक्षा हेतु जो वैराग्य चिन्तन कर रहे हैं, वह मात्र आपको ही नहीं; अपितु जगत के भव्यजीवों को भी कल्याणकारी है। आपकी जिनदीक्षा मोहशत्रु का सर्वनाश करने के लिए अमोघ कृपाण है। आपकी यह दीक्षा आपको तथा जगत को रत्नत्रय-निधान प्राप्त करायेगी; हम भी उस धन्य अवसर की भावना भाते हैं और अनुमोदन करते हैं।

इसप्रकार स्तुति करके वे देव ब्रह्मस्वर्ग में चले गये। उसीसमय इन्द्र महाराज धर्मनाथ भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाने के लिए ‘नागदत्ता’ नाम की दिव्य पालकी लेकर आ पहुँचे। जन्मकल्याणक की भांति

दीक्षा के समय भी इन्द्र ने प्रभु का अभिषेक तो किया, किन्तु ताण्डव नृत्य नहीं किया, क्योंकि प्रभु के वैराग्य से प्रभावित होकर उसका चित्त भी वैराग्य से भीग गया था। प्रभु ने सर्वजीवों के प्रति प्रशान्त रस से झरती हुई अमृतदृष्टि से देखा, सर्वत्र राग-द्वेष का शमन करके समभाव धारण किया।

फिर अनित्य आदि बारह भावनाओं के चिन्तन में तत्पर महाराज धर्मनाथ वनगमन हेतु पालकी में विराजमान हुए।

पालकी में आरूढ़ होकर प्रभु रत्नपुरी के मनोहर वन में पहुँचे। वस्त्राभूषण छोड़े और केशों का लुंचन किया। सिद्धों को वन्दन करके प्रभु आत्मध्यान में एकाग्र हुए और शुद्धोपयोग द्वारा रत्नत्रय की वृद्धि करके मुनि बने। अन्य कितने ही राजा तथा प्रजाजन भी वैराग्य प्राप्तकर प्रभु के साथ दीक्षित हो गये; कितने ही धर्मात्मा मनुष्य तथा तिर्यचों ने भी उससमय श्रावक के देशव्रत धारण किये और कितने ही जीव यह दृश्य देखकर विषयों से तथा राग से भिन्न आत्मा के शान्तस्वरूप को पहिचान कर सम्यग्दृष्टि हुए। चारों ओर धर्म का प्रभाव फैल गया; रत्नपुरी मानों धर्मपुरी बन गई।

भगवान का आज ही जन्म हुआ हो इसप्रकार वे निर्वस्त्र एवं निर्विकार थे तथापि वीतरागता से अद्भुत शोभायमान हो रहे थे। भव्यजीवों ने देखा कि जीव की सच्ची शोभा बाह्य अलंकारों द्वारा नहीं; किन्तु सम्यक्त्वादि वीतरागभाव द्वारा ही है। मुनिराज धर्मनाथ जब ध्यानयोग में स्थिर होते थे, तब देखनेवालों को ऐसा लगता था कि क्या यह भगवान की मूर्ति है ?

अरे, उन शान्त मुनिराज के समीप सिंह या सर्प जैसे पंचेन्द्रिय जीव अपना दुष्टभाव छोड़कर, प्रभु के निकट शान्त एवं अनुकूल वर्तन करने लगे। धर्म मुनिराज यद्यपि बोलते नहीं थे, तथापि सबको मोक्षमार्ग समझाते थे; स्वयं प्रयोग से साक्षात् मोक्षमार्ग दर्शाते थे; वे स्वयं मोक्षमार्ग थे।

इसप्रकार स्वानुभव की चैतन्य मस्ती में झूलते-झूलते करीब एक वर्ष तक विहार के पश्चात् प्रभु धर्मनाथ मुनिराज पुनः रत्नपुरी के उसी दीक्षावन में पधारे और ध्यान योग में स्थिर हुए। उनके शुद्धोपयोग की धारा एकदम वृद्धिगत होने लगी। उन्होंने अपूर्व शुक्लध्यान द्वारा क्षपकश्रेणी में प्रवेश किया और पंचम

ज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर परमात्मा बन गये। 'पौष शुक्ला पूर्णिमा' को इन्द्रों द्वारा प्रभु के केवलज्ञान-कल्याणक का भव्य महोत्सव मनाया गया।

रत्नपुरी के भाग्यवान जीवों ने अपनी नगरी में तीर्थंकर प्रभु के चार कल्याणक प्रत्यक्ष देखे। उनमें भी जन्मकल्याणक की अपेक्षा केवलज्ञान-कल्याणक की विशेषता थी; क्योंकि जन्मकल्याणक के समय रत्नपुरी के प्रजाजन मेरुपर्वत पर नहीं जा सके थे, जबकि इस केवलज्ञान कल्याणक के समय तो धर्मनाथ भगवान की धर्मसभा में देवों के साथ मनुष्य और तिर्यंच भी आये और प्रभु की वाणी सुनकर धर्म प्राप्त किया। पहले मुनिदशा के समय मौनव्रत था, अब केवलज्ञान होने पर भगवान ने उस मौन को भंग कर दिया, उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। यद्यपि वाणी निकलने पर भी भगवान तो मौन ही थे; क्योंकि एक तो उन्हें वचन संबंधी कोई विकल्प नहीं था और दूसरे उनके सर्वांग से ध्वनि खिरती थी, इसलिए ओष्ठ नहीं खुलते थे।

धर्मनाथ तीर्थंकर के सान्निध्य में चेतनवन्त भव्यजीव तो धर्म प्राप्त करके आनन्द से खिल ही उठे थे। आकाश और पृथ्वी, वायु और वृक्ष भी हर्ष से रोमांचित हो गये थे। आकाश में वाद्य बजने लगे और पुष्पवर्षा होने लगी, वायु सुगन्धित हो गई, वृक्ष भी कल्पवृक्ष बनकर इच्छित पदार्थ देने लगे। अरे, वहाँ की वापिकाओं का जल भी इतना उज्वल-स्वच्छ हो गया कि उसमें मात्र अपना मुँह नहीं; किन्तु पूर्वभव भी दिखने लगे। प्रभु के आसपास का जल भी जब इतना पवित्र हो गया, तब वहाँ के जीवों का ज्ञान कितना पवित्र हुआ होगा ? वहाँ पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण चारों दिशाओं में एक समान ही दिखता था। प्रभु का मुख चारों दिशाओं में होने पर भी उनका उपयोग कहीं चारों दिशाओं से एकसमान नहीं फिरता था, उपयोग तो अपने स्वरूप में ही लीन था। स्व में लीन होकर ही वे समस्त स्व-पर को जानते थे। ऐसा केवलज्ञान ही प्रभु का सर्वोत्कृष्ट अतिशय था। उसके अतिरिक्त अन्य अनेक अतिशय थे।

अहा, प्रभु की महिमा का कितना वर्णन किया जाए ? उन परमात्मा की पूर्ण महिमा जानने के लिए

तो उनके जैसा होना पड़ेगा; क्योंकि वह ज्ञानगोचर है, वचनगोचर नहीं है। अहा, इन्द्र जिनकी सेवा करने आये और इन्द्रलोक की सामग्री लाकर भक्तिसहित पूजा करे, उन परमात्मा की महिमा का क्या कहना?

देवों के दुन्दुभिवाद्य अति मधुर स्वर में जगत के समक्ष जिनेन्द्र महिमा की प्रसिद्धि कर रहे थे कि अरे जीवो! देखो...देखो...! कहाँ वह समवसरण की आश्चर्यकारी दिव्यविभूति ! और कहाँ वह जिनपरमात्मा की निःस्पृहता ! जगत में कहाँ है ऐसा ज्ञान और कहाँ है ऐसी वीतरागता ! तुम वीतरागी शान्ति का मार्ग जानना चाहते हो तो यहाँ आओ और इन सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा की सेवा-उपासना करो। समवसरण में आकर भव्य जीव जहाँ उन जिनेश्वर की परम शान्त मुद्रा का अवलोकन करते वहाँ मुग्ध हो जाते; तथा दिव्यध्वनि में सुनते मुमुक्षु जीवों की दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती और अपने परम निधान को देखकर वे कल्पनातीत तृप्ति-शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करते। पश्चात् वे जीव उल्लासपूर्वक कहते हैं - “अहा, हे जिनेश्वर! हमें आपके शासन का रंग लगा है, उसमें अब कभी भंग नहीं पड़ने देंगे; प्रभो! आपके बतलाये धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को अपने मन-मन्दिर में स्थान नहीं देंगे। अब हमें भवभ्रमण नहीं हो सकता; अब हमारी मोक्ष की साधना प्रारम्भ हो गई और हम आपके परिवार के हो गये; आपकी भांति हम भी अल्पकाल में परमात्मा होंगे और मोक्ष प्राप्त करेंगे।”

आत्मा के स्वरूप का वैभव बतानेवाली वह दिव्यवाणी वास्तव में आश्चर्यकारी थी। उनका समवसरण पृथ्वी से बीस हजार सीढ़ियों जितना ऊपर था और उस समवसरण में विशाल मानस्तम्भ, मन्दिर, वापिकार्यें, कल्पवृक्ष, पर्वतों की रचना और बारह सभाओं में लाखों-करोड़ों देव, मनुष्य, तिर्यच बैठते थे, तथापि उस समवसरण के नीचे पृथ्वी का कोई आधार नहीं था अथवा कोई खम्भा आदि नहीं था और उस समवसरण में अद्भुत गंधकुटी है; परन्तु तीर्थकर देव तो उसका भी स्पर्श किये बिना निरालम्बीरूप से विराजते हैं। अद्भुत...सचमुच आश्चर्यजनक!! स्वयंभू सर्वज्ञ हुए आत्मा ने भी अपने ज्ञानसुख के लिए राग का और इन्द्रियों का अवलम्बन छोड़ दिया और निरालम्बी हो गये...वहाँ उनका शरीर भी निरालम्बी होकर आकाश में स्थित हुआ। वाह प्रभो! आपका स्वाश्रित मार्ग! वास्तव में प्रशंसनीय है।

इसप्रकार समवसरण में विराजमान उन धर्मनाथ भगवान ने परम निरालम्बी रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने कहा “हे जीवो! तुम्हारे आत्मा का मोक्षमार्ग तुम्हारे आत्मा के आश्रित है; इसलिए आत्मा में से ही मोक्षमार्ग प्रगट करो। परद्रव्य का अवलम्बन लेने मत जाओ, उपयोग को परद्रव्यों में मत घुमाओ; अपने आत्मस्वरूप में ही एकाग्र होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामित होओ!

“दर्शन-ज्ञान-चारित्र में तू जोड़ रे ! निज आत्म को ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग जिन ने कहा ॥
प्राप्तकर निज आत्मा को, और जम स्वद्रव्य में ।
उसमें ही नित्य रम कर रहो, रहो न परद्रव्य में ॥”

जिनोपदेश को अन्तर में उतारकर अनेक जीव स्वाश्रय से रत्नत्रय धर्मरूप परिणामित हुए और अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में लगाया। इसप्रकार लाखों वर्ष तक भगवान धर्मनाथ ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया। वे धर्म साम्राज्य के नायक थे; वे पृथ्वी पर पाँव नहीं रखते थे। आकाश में ही विहार करते थे। अरे, प्रभु के ध्यान द्वारा मोक्ष की साधना भी दो घड़ी में हो सकती है तो स्वर्गादिक का क्या कहना ? भगवान के समवसरण में प्रवेश करते ही ‘मानस्तम्भ’ की दिव्यता देखकर उस आश्चर्यजनक जिनवैभव के समक्ष भव्यजीवों का हृदय नम्रीभूत हो जाता और अन्त में जिनमहिमा जागृत होकर उसे जिनदेव की तथा जिनशासन की प्रतीति हो जाती थी। भगवान ने दिव्यध्वनि में जिस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है उस मोक्षमार्गरूप धर्म की मुख्य उपासना निर्ग्रन्थ मुनिवरो को होती हैं और उसके एक अंश की उपासना श्रावक-गृहस्थ को होती है। उस मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनों में सम्यग्दर्शन तो मूलभूत होता ही है। जीव-अजीवादि नवतत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उसमें शुद्ध द्रव्य-पर्यायरूप जीवतत्त्व की अनुभूतिरूप श्रद्धान, वह सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है।

भगवान धर्मनाथ ने सम्यग्दर्शन जिसका मूल है, ऐसे चारित्रधर्म का उपदेश भी दिया। सम्यग्दर्शन की

पात्रतावाले जीव को उसकी भूमिका के अनुसार देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा अवश्य होती है तथा सात व्यसनों का एवं अभक्ष्य का त्याग तो होता ही है।

तीर्थकर धर्मनाथ प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर कितने ही जीव तुरन्त संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये, कितने ही जीव सम्यक्त्वसहित व्रत धारण करके श्रावक हुए...अरे! सिंह, शशक, बैल, बन्दर, सर्प, हाथी कितने ही तिर्यच जीव भी आत्मज्ञान सहित व्रत धारण करके श्रावक हो गये। इन्द्रादि देव भी जो दशा (पंचम गुणस्थान) प्रगट नहीं कर सके वह दशा तिर्यच जीवों ने प्रगट कर ली। भगवान ने गुजरात, सौराष्ट्र, बिहार, बंगला, हिमाचल प्रदेश, नेपाल, श्रीलंका, ब्रह्मदेश, विन्ध्यप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक और आन्ध्र में - सर्वत्र धर्मविहार किया उन गगनविहारी प्रभु को कोई नदी या पर्वत बीच में बाधक नहीं होते थे।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान धर्मनाथ ने ढाई लाख वर्ष तक तीर्थकर के रूप में विचरण किया। अन्त में, शाश्वत मुक्तिधाम सम्मेदाचल पधारे और एक मास तक वहाँ स्थिर रहे। यद्यपि प्रभु का उपयोग तो स्थिर था ही, अब उनके योग भी स्थिर होने लगे। चैत्र शुक्ला चतुर्थी; अब प्रभु का संसार मात्र दो घड़ी शेष रहा था... बस! मोक्ष की तैयारी हो गई। प्रभु की आयु तो एक मुहूर्त की ही शेष थी; परन्तु अन्य तीन अघाति कर्म लम्बी स्थिति के थे, इसलिए प्रभु ने आत्मप्रदेशों के लोकव्यापी विस्तार द्वारा उन कर्मों की स्थिति को तोड़कर आयु जितना ही कर डाला। क्षणमात्र में आयुसहित चारों अघाति कर्मों का क्षय कर निष्कर्म दशा को प्राप्त हुए।

प्रभु धर्मनाथ के मोक्ष प्राप्त करते ही इन्द्रादि देवों ने तथा सुधर्म आदि राजा-महाराजाओं ने उस मुक्त आत्मा की स्तुति करके मोक्षकल्याणक महोत्सव मनाया। ●

प्रत्येक भला काम सबसे पहले हमें अपने घर से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

- सुखी जीवन,

निज स्वरूप सरवर में जिनवर, नियमित नित्य नहाते हो ।
अपने दिव्य बोधि के द्वारा, विषय-विकार बुझाते हो ॥
परम शान्त मुद्रा से मुद्रित, शान्ति-सुधा बरसाते हो ।
परम शान्ति हेतु होने से, शान्तिनाथ कहलाते हो ॥

भगवान शान्तिनाथ एक साथ 'तीर्थकर, चक्रवर्ती और कामदेव' जैसी संसार की सर्वोत्कृष्ट पदवियाँ पाकर भी उनमें आसक्त नहीं हुए थे । कुरुक्षेत्र की हस्तिनापुर नगरी में राजा विश्वसेन की रानी ऐरावती की कूँख से आपका जन्म जेष्ठ कृष्ण चतुर्दशी को सर्वार्थसिद्धि विमानवासी अहमिन्द्र से च्युत होकर तीर्थकर शान्तिनाथ के रूप में हुआ था ।

तीर्थकर धर्मनाथ के बाद पौन पल्य बीत जाने पर बालक शान्तिनाथ का अवतार हुआ था । उनकी आयु एक लाख वर्ष और ऊँचाई चालीस धनुष थी । शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी । भगवान शान्तिनाथ का जीवन चरित्र पढ़ने से पाठकों के अन्दर भी आत्मसाधना करने की प्रेरणा मिलती है, उत्साह जाग्रत होता है । सांसारिक राग-रंग और विषय प्रवृत्ति से मन में निर्वृत्ति आती है । कहाँ चक्रवर्ती जैसा वैभव, तीर्थकर जैसा यश और कामदेव जैसा रूप, दीर्घजीवन, बलिष्ठ शरीर, सबकुछ भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध और कहाँ हम तुच्छ प्राणी! तीन-तीन पदों के धारक शान्तिनाथ का मन वहाँ भी नहीं रमा और हम अज्ञानी ऐसी दुःखद परिस्थिति में भी इस संसार में रचे-पचे हैं, जमे हैं । सचमुच धन्य है उनका जीवन और धिक्कार है हम जैसे प्राणियों को, जो उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा नहीं ले पा रहे हैं ।

धन्य हैं वे व्यक्ति जो जिनदर्शन करके निजदर्शन कर लेते हैं और उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते

हैं। प्रभो! हमारा वह दिन कब आयेगा जब हम आपके आदर्शों का अनुसरण करेंगे। हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं और यह भावना भाते हैं कि वह मंगलमय दिन हमें शीघ्र प्राप्त हो, जब हम आपका अनुसरण करें।

“हे शान्तिनाथ भगवान! आपके परम शान्त स्वरूप का ध्यान आते ही हमें अपने चित्त में परम शान्ति का अनुभव होता है। ऐसी परम शान्ति संसार के किसी भी विषयों में कभी प्राप्त नहीं हुई। ठीक ही कहा है – ‘जो संसार विषैँ सुख होता, तीर्थकर क्यों त्यागें।’ फिर आपने तो कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थकर जैसा अलौकिक पुण्यफल प्राप्त करके उस सबको भी त्याग दिया। वस्तुतः एक आपका मार्ग ही अनुकरणीय है। इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। तीन लोक एवं तीन कालों को जाननेवाला आपका सर्वज्ञतारूपी ज्ञान दर्पण और निराकुल तथा अतीन्द्रिय आनन्द एवं अनन्तकाल रहनेवाली सिद्धदशा वंदनीय है।

ऐसे तीर्थकर भगवान शान्तिनाथस्वामी के पूर्वभवों का संक्षिप्त रूप से परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में लिखते हैं कि वे दसवें पूर्वभव में भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे। वहाँ उनका नाम राजा श्रीषेण था।

“उस भोगभूमि में जीवों की संयमदशा और मोक्षप्राप्ति नहीं होती। हाँ, सम्यग्दर्शन हो सकता है। कोई जीव मनुष्य आयु का बंध करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह भी भोगभूमि में उत्पन्न होता है तथा आत्मज्ञान के बिना भी पात्रदान देनेवाले अत्यन्त भद्रजीव भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ किसी पशु का भय नहीं है, दिन-रात और ऋतुओं का परिवर्तन नहीं। अधिक शीत और अधिक उष्णता नहीं, जीव परस्पर दुःख नहीं देते। सब जीव शान्त एवं भद्रपरिणामी होते हैं। वहाँ के सिंह आदि पशु मांसाहारी नहीं होते, अहिंसक होते हैं। वहाँ कीड़े-मकोड़े मच्छर आदि तुच्छ जीव नहीं होते। सब जीव सर्वांग सुन्दर होते हैं। कभी-कभी ऋद्धिधारी मुनिवर भी उस भोगभूमि में पधारते हैं, उनके उपदेश से अनेक जीव आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। पापी जीवों का वहाँ अभाव है। वहाँ के सब जीव मर कर देवगति में ही जाते हैं, अन्य किसी गति में नहीं जाते। वहाँ कोई जीव दुराचारी नहीं होते; किसी को इष्ट वियोग नहीं होता। वहाँ के जीवों

को निद्रा, आलस्य नहीं होता तथा वज्र शरीरी होते हैं। भोगभूमियाँ जीवों को जैसा सुख है वैसा चक्रवर्ती को भी नहीं होता। जन्म के बाद २१, ३५ या ४९ दिन में ही पूर्ण युवा हो जाते हैं। मृत्यु के समय भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती। मात्र छींक या जमाई आने पर वे सुखपूर्वक प्राण त्याग देते हैं और सौधर्म स्वर्ग में जाते हैं।

यद्यपि कल्पवृक्षों से सबप्रकार की भोग सामग्री उपलब्ध होती है; परन्तु वहाँ से मुक्ति नहीं होती, अतः ज्ञानी भोगभूमि के भोग की भावना नहीं भाते; उन्हें तो संयम धारण करने की प्रबल भावना होती है।”

भोगभूमि का उपर्युक्त वर्णन मात्र जानकारी के लिए लिखा गया है, न कि वहाँ के आकर्षण के लिए। ऐसे स्वर्ग और भोग-भूमियों में तो यह जीव अनन्तबार जन्म लेकर भी संसारी ही बना हुआ है। इसलिए कहा जाता है कि आत्मार्थीजन इन विषयों से अल्परग भी नहीं करते।

शान्तिनाथ भगवान का जीव नवें पूर्वभव सौधर्म स्वर्गलोक से चयकर अपने आठवें पूर्वभव में अमिततेज नामक विद्याधर हुआ, अबतक उन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ था। उससमय भरतक्षेत्र में ग्यारहवें तीर्थकर का तीर्थ प्रवर्तन हो रहा था। उससमय भगवान शान्तिनाथ के जीव ने भगवान विजयप्रभु के समवसरण में धर्मोपदेश श्रवण किया।

दिव्यध्वनि में विजय प्रभु ने कहा - “हे जीवों! आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्रोध उसका स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव शान्ति एवं ज्ञानानन्दमय है। अन्तर में चैतन्य परमतत्त्व है। उस स्वतत्त्व की महिमा का चिन्तन करने से क्रोधादिभाव शान्त हो जाते हैं और सम्यक्त्व आदि भाव प्रगट होते हैं।”

अमिततेज को प्रभु का उपदेश सुनकर अन्तर्मुख दृष्टि जाग्रत हो गई, उसकी चेतना एकदम शान्त होकर कषायों से भिन्न हो गई और अन्तर में अपने परमात्मतत्त्व का अनुभव करके उसीसमय उसने अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट किया; इसप्रकार आठ भव पूर्व तीर्थकर शान्तिनाथ की आत्मसाधना प्रारंभ हुई।

तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति से जिनके चैतन्य प्रदेशों में अपूर्व आनंद तरंगे उछलने लगीं और जिन्होंने

देशव्रत धारण किए - ऐसे उन अमिततेज विद्याधर को अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा हुई। उन्होंने विनयपूर्वक पूछा - “हे सर्वज्ञ देव! मुझे और इस श्री विजय को परस्पर में ऐसा स्नेह क्यों है ? तथा इस अशनिघोष ने मेरी बहिन (सुतारा) का अपहरण क्यों किया ?”

दिव्यध्वनि के निमित्त से सहज समाधान हुआ - “हे अमिततेज! तू पूर्वभव में श्रीषेण राजा था, तू वहाँ सत्पात्रदान के प्रभाव के फल से मरकर भोग भूमि में उत्पन्न हुआ। पश्चात् श्रीप्रभदेव हुआ और वहाँ से चयकर अमिततेज हुआ है। यह विजयश्री का जीव तेरी अनन्दितारानी था। भोगभूमि में यह तेरे साथ था। देव के भव में भी तेरे साथ विमलप्रभ देव था और वहाँ से यहाँ आकर यह तेरा बहनोई श्रीविजय हुआ है।

तेरी बहिन सुतारा पूर्व में सत्यभामा नाम की ब्राह्मण कन्या थी, तब यह अशनिघोष का जीव उसका पति (कपिल) था, परन्तु सत्यभामा उसे छोड़कर श्रीषेण के भव में तेरी शरण में आ गई। वह सत्यभामा पात्रदान का अनुमोदन करके भोगभूमि में तथा स्वर्ग में भी तेरे साथ थी। यहाँ पूर्वभव के स्नेह के कारण यह तेरी बहिन हुई है। पूर्वभव के मोह के कारण अशनिघोष ने सुतारा का अपहरण किया; परन्तु अन्त में तुझसे भयभीत होकर वह भी यहाँ धर्मसभा में आया। उसके पीछे तू भी यहाँ आया और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष की साधना प्रारंभ की।”

इसप्रकार पूर्वभव बताकर केवली ने कहा - “हे अमिततेज ! अब आत्मसाधना में उन्नति करते-करते नौवें भव में तुम्हारा आत्मा पंचम चक्रवर्ती होगा एवं सोलहवाँ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा और तब यह श्रीविजय तुम्हारा भाई होकर चक्रायुध गणधर होगा। शेषभवों में भी वह तुम्हारे साथ ही रहेगा।”

केवली के मुख से अपना-अपना भविष्य जानकर सभी जीव आनन्दित हुए और उनका मोक्षमार्ग में अग्रसर होने का पुरुषार्थ तथा उत्साह जाग्रत हो गया।

अशनिघोष को अपने पूर्वभव की कथा सुनकर जातिस्मरण हुआ और जातिस्मरण से पूर्वभव का ज्ञान होने से उसे संसार से वैराग्य हो गया तथा उसने दीक्षा ले ली। सुतारा देवी तथा ज्योतिप्रभा भी अपने पूर्वभव

सुनकर संसार से विरक्त हो गई और दीक्षा लेकर आर्यिका बन गई।

अमिततेज और श्रीविजय – दोनों सम्यग्दर्शन प्राप्तकर और देशव्रत अंगीकार करके वापिस चले तो गये; परन्तु राजा अमिततेज के जीवन में एक महान परिवर्तन हो गया। यद्यपि विद्याधरों की दोनों श्रेणियों के स्वामी होने से विद्याधरों के चक्रवर्ती थे, तथापि अपनी आत्मसाधना को कभी नहीं भूलते थे।

जिज्ञासु ने प्रश्न किया – “क्या चक्रवर्ती जैसे राज वैभव में रहकर भी धर्म हो सकता है ?”

दिव्यध्वनि में उत्तर आया – “महाराजा अमिततेज की जीवनचर्या इस प्रश्न के उत्तर का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रथम चक्रवर्ती भरतजी के बारे में तो यह बात प्रसिद्ध है ही कि “भरतजी घर में ही वैरागी।” बस, अमिततेज के विषय में भी यही बात है। वस्तुतः ज्ञानी की चेतना राग से तथा संयोग से अलिप्त ही रहती है।” महाराजा अमिततेज धार्मिक जीवन जीते थे और उनका वह मांगलिक जीवन अन्य जीवों को आत्महित की प्रेरणा देता था।

भगवान शान्तिनाथ का सातवाँ पूर्वभव आनत स्वर्ग में – भगवान शान्तिनाथ तथा उनके छोटे भाई चक्रायुध (गणधर) जो पूर्व नौवें भव में राजा अमिततेज और श्रीविजय थे। उन्होंने मुनि होकर संन्यासपूर्वक मरण कर आनत स्वर्ग में देवपर्याय में उत्पन्न हुए। उनके नाम रविचूल और मणिचूल थे। वहाँ विशाल जिनमंदिर था, जहाँ जाकर वे दोनों देवपूजा करते थे। उन्हें अवधिज्ञान एवं अनेक लब्धियाँ थीं। स्वर्ग लोक में उन दोनों देवों ने असंख्यात वर्षों तक स्वर्ग के सुख भोगे, परन्तु वह पुण्य का वैभव उन्हें आकर्षित नहीं कर सका। वे उसमें रचे-पचे नहीं। अन्त में पुनः मनुष्य लोक में आये।

भगवान शान्तिनाथ का छठवाँ पूर्वभव – इस भव में भगवान शान्तिनाथ और चक्रायुध के जीव विदेह क्षेत्र की प्रभाकारी नगरी में स्मितसागर महाराजा के पुत्र हुए। वहाँ उनके नाम अपराजित और अनंतवीर्य थे। ये दोनों वहाँ क्रमशः बलदेव (बलभद्र) एवं वासुदेव (नारायण) हुए।

राजा स्मित सागर दोनों पुत्रों को राज्य देकर मुनि तो हो गये; परन्तु उन्होंने आत्मानुभूति के अभाव में

सम्यग्दर्शन न होने से धरणेन्द्र देव की विभूति देखकर धरणेन्द्र होने का निदान किया। इसकारण चारित्र से भ्रष्ट होकर धरणेन्द्र हुए।

अपराजित और अनन्तवीर्य – दोनों भाई विदेह क्षेत्र में बलदेव व वासुदेव रूप में प्रसिद्ध हुए। तीन खण्ड की उत्तम विभूति उन्हें प्राप्त हुई थी। एक बार अपराजित बलदेव की पुत्री शादी के लिए सजकर आयी कि इतने में ही आकाश से एक देवी उतरी और सुमति से कहने लगी – “हे सखी ! सुन, मैं स्वर्ग की देवी हूँ, तू भी पूर्वभव में देवी थी और हम दोनों सहेलियाँ थीं। एक बार हम दोनों नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करने गये थे, पश्चात् हम दोनों ने मेरु जिनालयों की भी वन्दना की; वहाँ एक ऋद्धिधारी मुनि के दर्शन किए और धर्मोपदेश सुनकर हमने उन मुनिराज से पूछा कि ‘हे स्वामी! इस संसार में हम दोनों की मुक्ति कब होगी?’ तब मुनिराज ने कहा था – “तुम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करोगी।”

देवी ने आगे कहा – “हे सुमति ! यह सुनकर हम दोनों अति प्रसन्न हुई थीं और हम दोनों ने मुनिराज के समक्ष एक-दूसरे को वचन दिया था कि हम में से जो पहले मनुष्यलोक में अवतरित हो, उसे दूसरी देवी संबोधकर आत्महित की प्रेरणा दे, इसलिए हे सखी! मैं स्वर्ग से उस वचन का पालन करने आयी हूँ। तू इन विषय-भोगों में न पड़कर संयम धारण कर और आत्महित कर ले।”

देवी की यह बात सुनते ही भावी तीर्थकर के जीव अपराजित बलदेव की वीरपुत्री सुमति को अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ और उसे वैराग्य हो गया। उसने सात सौ राजकन्याओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की और आर्यिकाव्रत का पालन करके स्त्रीपर्याय छेदकर तेरहवें स्वर्ग में देव हुआ।

वीर पुत्री सुमति की इस वैराग्य की घटना से अपराजित बलभद्र का चित्त भी संसार से उदास हो गया। यद्यपि उनको संयम भावना जाग्रत हुई, किन्तु अपने भ्राता अनन्तवीर्य के प्रति तीव्र स्नेह के कारण वे संयम धारण न कर सके। ऐसा महान वैराग्य प्रसंग प्रत्यक्ष देखकर भी अनन्तवीर्य वासुदेव को किंचित् भी वैराग्य नहीं हुआ; उसका जीवन दिन-रात विषय भोगों में ही आसक्त रहा। तीव्र विषयासक्त के कारण सदा आर्त-

रौद्र ध्यान में वर्तता हुआ वह पंचपरमेष्ठी को भी भूल गया। जिस धर्मानुराग के कारण वह ऐसे पुण्यभोगों को प्राप्त हुआ था, उस धर्म को ही वह भूल गया। अपने भाई के साथ अनेकों बार वह प्रभु के समवसरण में भी जाता था और धर्मोपदेश भी सुनता था; परन्तु उसका चित्त तो विषय-भोगों से रंगा हुआ था। इसप्रकार चित्त मैला होने से उसे परमात्मा का संयोग भी लाभप्रद नहीं हुआ। तीव्र आरम्भ परिग्रह के कलुषित भाव के कारण वह अनन्तवीर्य रौद्रध्यानपूर्वक मरकर नरक में गया।

नरक में उपद्रव होते ही वह अर्धचक्रवर्ती का जीव महाभयंकर बिल से औंधे सिर नीचे की कर्कशभूमि पर जा गिरा। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से उसे इतना भयंकर दुख हुआ कि पुनः पाँच सौ धनुष ऊपर उछला और फिर नीचे गिरा। उसे असह्य शारीरिक वेदना थी; उसे देखते ही दूसरे हजारों नारकी मारने लग गये। ऐसे भयंकर दुःख देखकर उसे विचार आया कि “अरे, मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मुझे अकारण ही इतना दुःख देनेवाले यह क्रूर जीव कौन है? मुझे क्यों इतनी भयंकर पीड़ा दी जा रही है? अरे रे, मैं कहाँ जाऊँ? अपना दुःख किससे कहूँ? यहाँ कौन मुझे बचायेगा? भीषण ताप और भूख-प्यास के कारण मुझे मृत्यु से भी अधिक वेदना हो रही है; मुझे बहुत प्यास लगी है, लेकिन पानी कहाँ मिलेगा?

इसप्रकार दुःखों से चिल्लाता हुआ वह जीव इधर से उधर भटकने लगा। वहाँ उसे कुअवधिज्ञान हुआ और उसने जाना कि “अरे, यह तो नरक भूमि है, पापों के फल से मैं नरकभूमि में आ पड़ा हूँ और यह सब नारकी तथा असुर देव मुझे भयंकर दुःख देकर मेरे पापों का फल चखा रहे हैं। अरे रे! दुर्लभ मनुष्यभव विषयभोगों में गंवाकर मैं इस घोर नरक में पड़ा हूँ। मुझ मूर्ख ने पूर्वभव में धर्म के फल में भोगों की चाह करके सम्यक्त्वरूपी अमृत को ढोल दिया और विद्यमान विषयों की लालसा की। उस भूल के कारण मुझे वर्तमान में कैसे भयंकर दुःख भोगने पड़ रहे हैं। अरे रे! विषयों में तो मुझे किंचित् सुख नहीं मिला, बाह्य विषयों में सुख है ही कहाँ? सुख तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति करके मैं पुनः अपने सम्यक्त्व को ग्रहण करूँगा, ताकि फिर कभी ऐसे नरकों के दुःख नहीं सहना पड़े।” इसप्रकार एक ओर

पश्चाताप सहित नरक के घोरातिघोर दुःखों को सहन करता हुआ वह अनन्तवीर्य का जीव (भावी गणधर का जीव) अपनी असंख्यात वर्ष की नरकायु का एक-एक पल रो-रो कर काट रहा था और दूसरी ओर उसके भाई अपराजित बलभद्र को अपने भ्राता अनन्तवीर्य वासुदेव की अचानक मृत्यु हो जाने से गहरा आघात लगा। “मेरे भाई की मृत्यु हो चुकी है” – ऐसा स्वीकार करने को उनका मन तैयार नहीं था। यद्यपि स्वात्मतत्त्व के संबंध में उससमय उनका ज्ञान जाग्रत था; किन्तु वे भ्रातृस्नेह के कारण मृतक को जीवित मानने की परजेय संबंधी भूल कर बैठे। वे अनन्तवीर्य के मृत शरीर को कंधे पर उठाकर इधर-उधर घूमते फिरे, उसके साथ बात करने की तथा खिलाने-पिलाने की चेष्टायें करते थे। औदयिक भाव की विचित्रता तो देखो कि सम्यक्त्व की भूमिका में स्थित एक भावी तीर्थंकर मृत शरीर को लेकर छह महीने तक फिरते रहे, किन्तु धन्य है उनकी सम्यक्त्व चेतना को...जिसने अपनी आत्मा को उस औदयिकभाव से भिन्न ही रखा। सौभाग्य से उसीकाल में उन बलभद्रजी को यशोधर मुनिराज मिल गये। उन्होंने बलभद्र को उपदेश देकर कहा कि “हे राजन्! तुम तो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हो। इसलिए अब इस बन्धुमोह को तथा शोक को छोड़ो और संयम धारण करके अपना कलयाण करो। छह भव के पश्चात् तो तुम भरतक्षेत्र में तीर्थंकर बनोगे; ये मोह की चेष्टाएँ तुम्हें शोभा नहीं देतीं; इसलिए अपने चित्त को शान्त करो और उपयोग को आत्मध्यान में लगाओ।”

मुनिराज का उपदेश सुनते ही बलदेव को वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनकी चेतना चमक उठी – “अरे, कौन किसका भाई? जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ दूसरा कौन अपना होगा?” ऐसा विचारकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन अपराजित मुनिराज ने अपना मन आत्मसाधना में ही लगाया और अन्त समय में उत्तम ध्यानपूर्वक शरीर त्याग कर वे महात्मा सोलहवें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

भगवान शान्तिनाथ : पाँचवाँ पूर्वभव अच्युत स्वर्ग में इन्द्र – भगवान शान्तिनाथ जो अपराजित बलभद्र थे वे मुनिदीक्षा लेकर समाधिमरण करके अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ की आश्चर्यजनक विभूति देखकर

भी उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि वे जानते थे कि मैंने पूर्वभव में आत्मा की आराधना की है और वह आराधना करते हुए साथ में जो राग शेष रह गया उसका यह फल है। इस वैभव का एक रजकण भी मेरे आत्मा का नहीं है, सब कुछ मुझसे भिन्न ही है। इसप्रकार निर्मोह रूप से धर्म की महिमापूर्वक सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रलोक में विराजमान जिनप्रतिमा की भक्ति सहित पूजा की और पश्चात् इन्द्रपद स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने अपना ऐसा भाव प्रकट किया है कि “हे जिनदेव ! हमें यह स्वर्ग वैभव इष्ट नहीं है, हमें तो आप जैसा वीतरागी आत्मवैभव ही इष्ट है।” उन अच्युत इन्द्र को अवधिज्ञान तथा विक्रियादि ऋद्धियाँ थीं। वे बारम्बार तीर्थकरों के पंचकल्याणक में जाते, इन्द्रसभा में सम्यग्दर्शन की चर्चा करके उसकी अपार महिमा प्रकट करते और चारित्रदशा की भावना भाते।

देखो! जीवों के परिणामों की कैसी विचित्रता है। त्रिखण्ड का राजवैभव भोगने में अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों साथ थे; तथापि एक तो विशुद्ध परिणाम के कारण स्वर्ग में गया और दूसरा संक्लेश परिणाम के कारण नरक में। उसने नरक में तीव्र वेदना के निमित्त से पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। फिर भी दो भाइयों में से एक असंख्य वर्षों तक स्वर्ग में और दूसरा असंख्यात वर्ष तक नरक में।

अन्त में वह अनन्तवीर्य का जीव सम्यक्त्व का पालन करते हुए नरक की घोर यातना से छूटकर भरतक्षेत्र में विद्याधरों का स्वामी मेघनाद राजा हुआ। एक बार वह मेघनाद मेरुपर्वत के नन्दनवन में विद्या साध रहा था, ठीक उसीसमय अच्युतेन्द्र भी वहाँ जिनवन्दना हेतु आये और उन्होंने मेघनाद को देखकर कहा “हे – मेघनाद! पूर्वभव में हम दोनों भाई थे; मैं अच्युतेन्द्र हुआ हूँ और तू नरक में गया था, वहाँ से निकलकर मेघनाद विद्याधर हुआ। विषय-भोगों की तीव्र लालसा से तूने घोर नरक-दुःख भोगे। उनका स्मरण करके अब सावधान हो; इन विषय-भोगों को छोड़ और संयम की साधना कर! तुझे सम्यग्दर्शन तो है ही, चारित्र धर्म को अंगीकार कर! तृष्णा की आग विषय-भोगों द्वारा शांत नहीं होती; अपितु चारित्रजल से ही शांत होती है; इसलिए तू आज ही भोगों को तिलांजलि देकर परमेश्वरी जिनदीक्षा धारण कर!”

अपने भाई अच्युत इन्द्र के मुँह से चारित्र की महिमा तथा वैराग्य का महान उपदेश सुनकर उस मेघनाद

को जाति स्मरण हुआ; तुरन्त उसका चित्त संसार से विरक्त हो गया और घर लौटने से पूर्व वहीं उसने एक मुनिराज के समीप वस्त्राभूषण एवं राजमुकुट आदि सर्व परिग्रह छोड़कर चारित्रदशा अंगीकार कर ली।

श्री मेघनाद मुनि आत्मध्यान पूर्वक विचर रहे थे। वे मुनिराज शांतभाव से समाधिमरण करके सोलहवें अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए। इन्द्र तो शान्तिनाथ तीर्थकर का जीव और प्रतीन्द्र चक्रायुध का जीव – इसप्रकार दोनों भाइयों का पुनः मिलाप हुआ।

चैतन्यरस से भरपूर शांत जीवन जीनेवाले शान्तिनाथ तीर्थकर होने से पूर्व पाँचवें तथा तीसरे दोनों अवतारों में विदेहक्षेत्र में तीर्थकर के पुत्र थे। दोनों बार इन्द्रसभा में इन्द्र ने उनके उत्तम गुणों की प्रशंसा की थी और देव-देवी उनकी परीक्षा करने आये थे। तब जैनतत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मचर्य में वे इतने अडिग थे कि देव भी उनको डिगा नहीं सके। ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता के प्रेरक उनके जीवन की उत्तम घटनाएँ हम जैसे आत्मार्थी जीवों को भी आत्मसाधना हेतु उत्साहित करती हैं।

भगवान शान्तिनाथ : चौथा पूर्वभव – क्षेमंकर महाराजा की महारानी कनकमाला की कुक्षि से व्रजायुध के रूप में शान्तिनाथ प्रभु के जीव ने अच्युत स्वर्ग से अवतार लिया तथा वह मेघनाद जो अच्युत स्वर्ग में प्रत्येन्द्र हुआ था और भविष्य में तीर्थकर शान्तिनाथ का गणधर होनेवाला है, वह व्रजायुध का पुत्र सहस्रायुध हुआ।

उस सहस्रायुध का चरमशरीरी कनकशान्ति नामक पुत्र हुआ।

इसप्रकार शान्तिनाथ प्रभु के पूर्वभव व्रजायुध के जीवन में एकसाथ चार पीढ़ियों में महापुरुष हुए, जो इसप्रकार हैं –

१. क्षेमंकर महाराजा (विदेहक्षेत्र के तीर्थकर-रत्नसंचयपुरी के राजा)
२. उन क्षेमंकर के पुत्र व्रजायुध कुमार (चक्रवर्ती – भावी तीर्थकर शान्तिनाथ)

३. उन वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध (भावी गणधर चक्रायुध)

४. उन सहस्रायुध के पुत्र कनकशान्ति (जो चरमशरीरी थे और केवलज्ञान प्रकट करके धर्मोपदेश द्वारा अपने दादा को भी वैराग्य के निमित्त हुए)

एक बार रत्नपुरी की राजसभा में ये चारों महात्मा बैठे थे। तीर्थंकर क्षेमंकर महाराजा – पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र सहित शोभायमान हो रहे थे; इतने में उस राजसभा में एक आश्चर्यजनक घटना हुई।

इन्द्रसभा में वज्रायुध की प्रशंसा और देव द्वारा परीक्षा तथा स्तुति – जब यहाँ रत्नपुरी में राजसभा भरी थी, उसीसमय अमरपुरी में इन्द्रसभा चल रही थी। उसमें इन्द्र महाराजा ने वज्रायुध कुमार की प्रशंसा करते हुए कहा – “हे देवों! देखो, इससमय विदेहक्षेत्र की रत्नसंचयपुरी नगरी में तीर्थंकर भगवान श्री क्षेमंकर महाराज की राजसभा में उनके पुत्र वज्रायुधकुमार बैठे हैं, वे भी भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकर हैं, महाबुद्धिमान हैं, अवधिज्ञानी हैं, गुणों के सागर हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, धर्मात्मा हैं, सम्यग्दर्शन के निःशंकातादि गुणों से शोभित हैं और जिनप्रणीत तत्त्वार्थश्रद्धान में अडिग हैं।”

इन्द्रसभा में वज्रायुधकुमार की ऐसी प्रशंसा सुनकर विचित्रशूल नाम का एक देव परीक्षा करने के लिए रत्नपुरी में आया और एकान्तवादी पण्डित का रूप धारण करके वज्रायुध से पूछने लगा – “हे कुमार! आप जीवादि पदार्थों का विचार करने में चतुर हैं तथा अनेकान्तमत के अनुयायी हैं; परन्तु वस्तु या तो एकांत क्षणिक होती है अथवा एकान्त नित्य होती है।”

उत्तर में वज्रायुधकुमार ने अनेकान्त स्वभाव का कथन करते हुए स्याद्वाद शैली में उत्तर दिया – जीवादि कोई पदार्थ न सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा नित्य है; क्योंकि यदि उसे सर्वथा क्षणिक माना जाये तो पुण्य-पाप का फल या बंध-मोक्ष आदि कुछ भी नहीं बन सकते; पुनर्जन्म नहीं बन सकता, विचारपूर्वक किये जानेवाले कार्य महान-व्यापार-विवाहादि नहीं बन सकते; ज्ञान-चारित्र्यादि का अनुष्ठान या तपादि भी निष्फल हो जायेंगे, क्योंकि जीव क्षणिक होगा तो उन सबका फल कौन भोगेगा? तथा गुरु द्वारा शिष्य

को ज्ञानप्राप्ति या पूर्वजन्म के संस्कार भी नहीं रहेंगे और प्रत्यभिज्ञान, जातिस्मरण ज्ञान आदि का भी लोप हो जायेगा; इसलिए जीव को सर्वथा क्षणिकपना नहीं है। और यदि जीव को सर्वथा नित्य माना जाये तो बंध-मोक्ष नहीं बन सकेंगे, अज्ञान दूर करके ज्ञान करना या क्रोधादि की हानि या ज्ञानादि की वृद्धि नहीं बन सकेगी, पुनर्जन्म भी नहीं बन सकेगा; गति का परिवर्तन भी किसप्रकार होगा ? इसलिए जीव सर्वथा नित्य भी नहीं है। एक ही जीव एक साथ नित्य तथा अनित्य ऐसे अनेक धर्मस्वरूप हैं, (आत्मा द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, पर्याय की दृष्टि से देखें तो वह पलटता है।) आत्मा के इन परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक साथ होने को ही अनेकान्त कहते हैं। उसीप्रकार जीवादि तत्त्वों में जो अपने गुण-पर्याय हैं, उनसे वह सर्वथा अभिन्न नहीं है; वह तो अनेकान्त स्वरूप है।”

इसप्रकार विद्वान पण्डित के वेश में आया हुआ वह देव भी वज्रायुध की विद्वता से मुग्ध हो गया। मन में प्रसन्न होकर अभी विशेष परीक्षा के लिए उसने पूछा कि “हे कुमार ! आपके वचन बुद्धिमत्तापूर्ण तथा आनन्दप्रद हैं। अब यह समझायें कि - क्या जीव कर्मादि का कर्ता है ? या सर्वथा अकर्ता है ?”

उत्तर में वज्रायुध ने कहा - “जीव को घट-पट-शरीर-कर्म आदि परद्रव्य का कर्ता उपचार से कहा जाता है, वास्तव में जीव उनका कर्ता नहीं है। अशुद्धनय से जीव अपने रागादि भावों का कर्ता है; परन्तु वह कर्तापना छोड़ने योग्य है, शुद्धनय से जीव क्रोधादि का कर्ता भी नहीं है, वह अपने सम्यक्त्वादि शुद्ध चेतन भावों का ही कर्ता है; वह उसका स्वभाव है।”

विद्वान के रूप में आये देव ने फिर पूछा - “जीव कर्म के फल का भोक्ता है ? या नहीं ?”

वज्रायुध ने उत्तर दिया - “अशुद्धनय से जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है, शुद्धनय से वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है, अपने स्वाभाविक सुख का ही भोक्ता है।”

देव - “जो जीव कर्म करता है, वही उसके फल का भोक्ता है ? या कोई दूसरा ?”

वज्रायुध - “एक पर्याय में जीव शुभाशुभ कर्म को करता है और दूसरी पर्याय में (अथवा दूसरे जन्म

में) उसके फल को भोगता है; इसलिए पर्याय अपेक्षा से देखने पर जो करता है, वही नहीं भोगता और द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर जिस जीव ने कर्म किए हैं, वही जीव उनके फल को भोगता है।”

अन्त में देव ने पूछा - “क्या जीव स्वयं ज्ञान से जानता है ? या इन्द्रियों से ?”

वज्रायुधकुमार ने कहा - “हे भव्य! जीव ज्ञानस्वरूप है इसलिए वह स्वयं ज्ञान से ही जानता है; इन्द्रियाँ कहीं जीव स्वरूप नहीं है; शरीर और इन्द्रियाँ तो अचेतन-जड़ हैं; उनसे जीव भिन्न है। अरहंत एवं सिद्ध भगवन्त तो इन्द्रियों के बिना ही सबको जानते हैं; स्वानुभवी धर्मात्मा भी इन्द्रियों के अवलम्बन बिना ही आत्मा को अनुभवते हैं। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।”

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप भले प्रकार समझाकर अन्त में वज्रायुधकुमार ने कहा - “जीव का नित्यपना-क्षणिकपना, बंध-मोक्ष, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सब अनेकान्त-नयों से ही सिद्ध होता है, इसलिए हे भव्य जीव! तुम अनेकान्तमय जैनधर्मानुसार सम्यक्श्रद्धा करके आत्मा का कल्याण करो।”

इसप्रकार पण्डित वेष में आये हुए उस देव ने जो भी प्रश्न पूछे, उन सबका समाधान वज्रायुधकुमार ने गंभीरता और दृढ़ता से अनेकान्तानुसार किया। भरत क्षेत्र के भावी तीर्थंकर वज्रायुध के श्रीमुख से ऐसी सुन्दर धर्म-चर्चा सुनकर विदेह के समस्त सभाजन अति प्रसन्न हुए। उनके वचन सुनकर तथा उनके तत्त्वार्थश्रद्धान की दृढ़ता देखकर वह मिथ्यादृष्टि देव भी जैनधर्म का स्वरूप समझकर सम्यग्दृष्टि हो गया।

कुछ समय पश्चात् वज्रायुध के पिता क्षेमंकर तीर्थंकर संसार से विरक्त हुए। वज्रायुधकुमार का राज्याभिषेक करके, बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तनपूर्वक वे स्वयं दीक्षा लेकर मुनि हुए। आत्मध्यान द्वारा अल्पकाल में केवलज्ञान प्रकट किया और समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा भव्यजीवों को धर्मोपदेश देने लगे।

इधर, वज्रायुध महाराजा रत्नपुरी का शासन चला रहे थे; उनके शास्त्रागार में अचानक सुदर्शनचक्र प्रकट हुआ और छहों खण्डों पर विजय पाकर उन्होंने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। पिताजी धर्मचक्री हुए और पुत्र

राजचक्री हुए; परन्तु धर्मात्माओं के लिए तो तीर्थकर का पद ही अधिक महिमावंत होता है।

अब, उन वज्रायुध चक्रवर्ती का पौत्र (क्षेमंकर तीर्थकर का प्रपौत्र) कनकशान्ति जो कि चरमशरीरी थे, वह एकबार परिवार सहित वनविहार करने गए। उन्हें वन में रत्नत्रयवन्त मुनिराज के दर्शन हुए। उन मुनिराज के निकट धर्मोपदेश सुनकर वे कनकशान्ति वैराग्य को प्राप्त हुए और दीक्षा लेने की तैयारी करने लगे। तब उसके दादा वज्रायुध ने तथा सहस्रायुध ने कहा - “बेटा अभी तुम छोटे हो; अतः अभी तुम राजभोग भोगो; फिर हम जब दीक्षा लेंगे तब तुम भी हमारे साथ दीक्षा ग्रहण कर लेना।”

परन्तु वैरागी कनकशान्ति ने कहा - “हे दादाजी! हे पिताजी! जीवन का क्या भरोसा ? और मनुष्य भव के यह दुर्लभ दिन विषय-भोगों में गंवा देना चिन्तामणि को समुद्र में फेंकने के समान है; अतः बचपन से ही धर्म की साधना कर्तव्य है; इसलिए मैं तो आज ही दीक्षा लूँगा। ऐसा कहकर कनकशान्ति ने वन में जाकर जिनदीक्षा ले ली। वे कनक मुनिराज विद्याधर के अनेक उपसर्गों में भी आत्मध्यान में अडोल रहकर अल्पकाल में केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

अपने पौत्र को केवलज्ञान होने के समाचार सुनते ही अति आनन्दित होकर वज्रायुध चक्रवर्ती ने उत्सव किया और स्वयं धूमधाम से उन जिनराज की वन्दना पूजा के लिए गये। वहाँ स्तुतिपूर्वक प्रार्थना की - “हे जिनराज! सांसारिक कषायों से डरकर मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे धर्मोपदेश सुनाने की कृपा कीजिए। अनेक देव और विद्याधर भी आपकी शरण में आ गये हैं। श्री कनककेवली की दिव्यध्वनि में आया - “संसार अनादि अनन्त है, अज्ञानी जीव उसका पार नहीं पा सकते; परन्तु भव्यजीव आत्मज्ञान द्वारा अनादि संसार का भी अन्त कर देते हैं। जो रत्नत्रयरूपी धर्म नौका में नहीं बैठते वे अनंतबार संसार-समुद्र में डूबते हैं; परन्तु जो आत्मज्ञान करके एकबार धर्म नौका में बैठ जाते हैं। वे भव समुद्र को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। इसलिए मोक्षार्थी जीव को भवसमुद्र से पार होने के लिए अवश्य धर्म का सेवन करना चाहिए। धर्म ही माता-पिता के समान हितकारी है, वही जन्म-मरण के दुःखों से उबारकर जीवों

को उत्तम मोक्ष सुखों में स्थापित करता है।” इसप्रकार केवली भगवान का उपदेश सुनकर धर्मात्मा वज्रायुध चक्रवर्ती का चित्त संसार के विषय-भोगों से विरक्त हो गया। अरे! देखो तो सही, जिनके पिता तीर्थंकर, जो स्वयं भावी तीर्थंकर, वे इससमय अपने पौत्र के उपदेश से वैराग्य प्राप्त करते हैं। वैराग्य पाकर वज्रायुध महाराजा विचार करने लगे कि - “अरे! इस संसार में विषय-भोगों की प्रीति प्रबल है; आत्मज्ञानी को भी उसका अनुराग छोड़कर मुनिदशा धारण करना दुर्लभ है। आश्चर्य है कि जो कनकशान्ति मेरा पौत्र था उसने तो अपने आत्मबल से बचपन में ही केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त कर ली और परमात्मा बन गये। धन्य है उन्हें।

वैरागी वज्रायुध ने रत्नपुरी के राज्य का भार अपने पुत्र सहस्रायुध को सौंप दिया और अपने पिताश्री क्षेमंकर तीर्थंकर के समवसरण में जाकर जिनदीक्षा धारण की। वैराग्य पौत्र के उपदेश से प्राप्त किया था और दीक्षा पिता के निकट ली। छह खण्ड का चक्रवर्ती वैभव छोड़कर दीक्षा के पश्चात् श्री वज्रायुध मुनिराज सिद्धाचल पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर अचलमुद्रा में स्थित हुए। बाहुबलि भगवान की भांति उन्होंने भी एक वर्ष तक अडोलरूप से ऐसा ध्यान तप किया कि लतायें कण्ठ तक लिपट गईं; सिंह, सर्प, हिरण, खरगोश आदि प्राणी उनके चरणों में आकर शान्तिपूर्वक रहने लगे। उनकी शान्त ध्यानमुद्रा से प्रभावित होकर हिंसक पशु भी शान्त हो जाते थे। पूर्व के बैरी असुरदेव ने उन्हें ध्यान से डिगाने के लिए घोर उपसर्ग किया; तथापि वज्र मुनिराज तो ध्यान में वज्रसमान स्थिर रहे; उनका चित्त चलायमान नहीं हुआ। अंत में भक्त-देवियों ने आकर असुर देवों को भगा दिया। मुनि वज्रायुध अनेक वर्षों तक रत्नत्रय की आराधना सहित विदेहक्षेत्र में विचरते रहे।

इधर, वज्रायुध महाराजा के पुत्र सहस्रायुध ने कुछ काल तक रत्नपुरी का राज्य किया, फिर उनका चित्त भी संसार से विरक्त हुआ; वे विचारने लगे कि मेरे दादाजी तो तीर्थंकर हैं, पिताजी भी चक्रवर्ती की सम्पदा छोड़कर मुनि बनकर मोक्ष की साधना कर रहे हैं, मेरा पुत्र भी दीक्षा लेकर केवलज्ञानी हो गया और मैं अभी तक विषय-भोगों में पड़ा हूँ। अरे, यह दुःखदायक एवं पापजनक विषय-भोग मुझे शोभा नहीं देते

इनमें कहीं शान्ति नहीं है; मैं तो मोक्ष की साधना हेतु आज ही मुनि दीक्षा लूँगा। ऐसे निश्चयपूर्वक जिनदीक्षा लेकर वे भी वज्रायुध मुनिराज के साथ विचरने लगे। पिता-पुत्र (भावी तीर्थकर-गणधर) दोनों मुनिराजों ने अनेक वर्षों तक साथ-साथ विहार किया। अन्त में विदेहक्षेत्र के वैभार पर्वत पर उन दोनों मुनिवरों ने रत्नत्रय की अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिमरण किया और ऊर्ध्व ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

इसप्रकार क्षेमंकर तीर्थकर और उनके पुत्र वज्रायुध, उनके पुत्र सहस्रायुध और उनके पुत्र कनकशान्ति, इन चार पीढ़ियों में से दो पीढ़ी के जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त किया और बीच की दो पीढ़ी के जीव अहमिन्द्र हुए; वे तीन भव के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करेंगे।

तीसरा पूर्व - तीर्थकर शान्तिनाथ और उनके गणधर चक्रायुध - यह दोनों पूर्वभव में ग्रैवेयक में अहमिन्द्र देव हुए हैं। ग्रैवेयक के देवों के देवियाँ नहीं होतीं, तथापि उनकी अपेक्षा अत्यधिक सुख यहाँ इन्द्रयाणियों के बिना ही उन्हें था। इससे सिद्ध है कि सुख विषयों के भोगोपभोग में नहीं होता।

ऐसी मुमुक्षु भावना सहित स्वर्गलोक की असंख्यात वर्षों की आयु पूर्ण करके वे दोनों महात्मा दूसरे पूर्वभव में मनुष्य लोक में विदेह क्षेत्र में घनरथ महाराजा के पुत्र मेघरथ और दृढ़रथ के रूप में उत्पन्न हुए।

भावी भगवान शान्तिनाथ का जीव मेघरथ कुमार और उनके गणधर चक्रायुध का जीव दृढ़रथकुमार हुआ। वे मेघरथ और दृढ़रथ दोनों भाई आत्मज्ञानी, शान्ति परिणामी तथा विद्वान थे। भवों-भवों के तथा मोक्ष तक के साथी होने से दोनों को एक-दूसरे के प्रति परमस्नेह था। दोनों साथ खेलते, साथ खाते; परस्पर धर्मचर्चा करते और भगवान के समवसरण में या राज दरबार में भी साथ ही जाते। उनकी चेष्टायें सबको आनन्दकारक थीं। काललब्धि से प्रेरित महाराजा घनरथ को स्वयंबुद्धरूप से संसार से वैराग्य जागृत हुआ; उन्होंने मेघरथ को राज्य सौंपा और स्वयं जिनदीक्षा धारण की। देवों ने उनका दीक्षाकल्याणक मनाया। घनरथ मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रकट करके तीर्थकर हुए और दिव्यध्वनि द्वारा अनेक जीवों को

मोक्षमार्ग बतलाते हुए विदेहक्षेत्र में विचरने लगे ।

आत्मसाधना में तत्पर तथा संयम की भावना में तल्लीन रहनेवाले महाराजा मेघरथ ने एकबार पर्व तिथि में प्रोषध उपवास किया था; दिनभर आत्मसाधना में रहकर रात्रि के समय एकान्त उद्यान में जाकर वे धर्मात्मा ध्यान में स्थित थे । वे धीर-वीर महाराजा प्रतिज्ञापूर्वक प्रतिमायोग धारण करके मुनि समान शोभा देते थे । इतने में ईशान स्वर्ग की इन्द्रसभा में इन्द्र ने आश्चर्यपूर्वक उनकी प्रशंसा की कि - “अहो! उन महाराजा को धन्य है । वे सम्यक्त्वादि गुणों के सागर हैं, ज्ञानवान एवं विद्वान हैं, अत्यन्त धैर्यवान हैं; शीलवान हैं । इससमय वे मेरु समान अचल दशा में आत्मध्यान कर रहे हैं । आत्मचिन्तन में उनकी तत्परता देखकर आश्चर्य होता है । अहो! उन्हें नमस्कार हो ।”

इन्द्र द्वारा प्रशंसा सुनकर देवों को आश्चर्य हुआ और पूछा - “हे नाथ ! इससमय आप किसकी स्तुति कर रहे हैं? मनुष्यलोक में कौन ऐसे महात्मा हैं - जिनकी प्रशंसा इस देवसभा में हो सकती है ।”

तब इन्द्र ने कहा - “हे देवों, सुनो! मनुष्य लोक के विदेहक्षेत्र में इससमय राजा मेघरथ ध्यानमग्न हैं, उन्हीं की प्रशंसा मैं कर रहा हूँ । एक भव के पश्चात् वे भरतक्षेत्र में शान्तिनाथ तीर्थकर होनेवाले हैं, उन्होंने शरीर का भी ममत्व छोड़कर इससमय प्रतिमायोग धारण किया है और आत्मध्यान में स्थित हैं ।

इन्द्र की बात सुनकर दूसरे सब देव तो प्रसन्न हुए; परन्तु दो देवियाँ उनकी परीक्षा करने के लिए पृथ्वी पर आयीं और उन्हें ध्यान से डिगाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के हावभाव दिखलाकर उपद्रव करने लगीं; परन्तु महाराजा मेघरथ तो काया और माया दोनों से परे थे, अत्यन्त धीर-वीर एवं सागर समान गंभीर वे अपने परमात्मतत्त्व के आनन्द में लीन थे । उनके परिणाम अत्यन्त शान्त थे; आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उनका चित्त नहीं लगा था ।

स्वर्ग से आयी हुई देवियों ने अनेकप्रकार के उपसर्ग प्रारम्भ किये-कायर मनुष्य का तो कलेजा कांप

उठे - ऐसे भयंकर दृश्य उपस्थित किये तथा मनोहर हावभाव गीत-विलास-आलिंगनादि रागवर्धक कामचेष्टायें कर-करके उन्हें ध्यान से च्युत करने के लिए अनेक उपद्रव किये; परन्तु मेघरथ तो मेरु समान अचल ही रहे। बाह्य में क्या-क्या चेष्टायें हो रहीं हैं, उनके प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं था ? अन्त में देवियाँ थक गईं और खीझकर तिरस्कार भरे वचन बोलीं, शरीर की अनेक वीभत्स चेष्टायें कीं; परन्तु वे ध्यानी वीर आत्मध्यान से नहीं डिगे सो नहीं डिगे। देवियाँ उनके वैराग्यरूपी कवच को नहीं भेद सकीं।

जो उपयोग को निज परमात्मा में एकाकार करके बैठे हों, उनका बाह्य उपद्रव क्या बिगाड़ सकते? परमात्मतत्त्व में उनका प्रवेश ही कहाँ है ? जिसप्रकार बिजली की तीव्र गड़गड़ाहट भी मेरुपर्वत को हिला नहीं सकती, उसीप्रकार देवियों की रागचेष्टा उन महात्मा के मनमेरु को किंचित् भी डिगा नहीं सकी। अन्त में देवियाँ हार गईं; उन्हें विश्वास हो गया कि इन्द्रराज ने जो प्रशंसा की थी वह यथार्थ है। इसप्रकार उनके गुणों से प्रभावित होकर उन देवियों ने उन्हें वन्दन किया, क्षमायाचना की और उनकी स्तुति करके स्वर्ग लोक में चली गईं। रात्रि व्यतीत होते ही महाराजा मेघरथ ने निर्विघ्नरूप से अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया।

एकबार भगवान घनरथ तीर्थंकर की धर्मसभा का नगरी में आगमन हुआ। पिता और प्रभु के पधारने की बात सुनते ही मेघरथ के हर्ष का पार नहीं रहा। महाराजा मेघरथ सपरिवार महान उत्सवपूर्वक समवसरण में गये। एक तो उनके पिता और वे भी तीर्थंकर, उनके दर्शन से अति आनन्द हुआ। सबने भक्तिसहित परमात्मा की वन्दना करके उनकी दिव्यवाणी का श्रवण किया।

प्रभु की वाणी में मोक्षसाधना का अद्भुत वर्णन सुनकर राजा मेघरथ के चित्त में मोक्षसाधना की उत्सुकता उत्पन्न हो गई और वे संसार छोड़कर मुनिदीक्षा लेने को तैयार हुए। उनके भ्राता दृढ़रथ भी उन्हीं के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गये।

मेघरथ ने उनसे राज्य संभालने को कहा; परन्तु वे बोले कि हे पूज्य! जिस राजपाट और जिन विषय-भोगों को असार जानकर आप त्याग रहे हैं, मैं भी उनको असार ही मानता हूँ। आप इनका मोह छोड़ रहे

हैं तो मैं उनके मोह में क्यों पड़ूँ ? मैं तो आपका भव-भवान्तर का साथी-सहोदर हूँ और मोक्ष होने तक आपके साथ ही रहूँगा। इसलिए मैं भी आपके साथ दीक्षा लेकर परमपिता के चरण में रहूँगा।

इसप्रकार घनरथ तीर्थंकर के चरणों में उनके पुत्र मेघरथ तथा दृढ़रथ दोनों ने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली; उनके साथ अन्य सात हजार राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की तथा महारानी प्रियमित्रा आदि अनेक श्राविकायें भी दीक्षा लेकर आर्यिका बन गईं।

दीक्षा लेकर मेघरथ और दृढ़रथ दोनों मुनिवरों ने आत्मध्यान द्वारा शुद्धरत्नत्रय धारण किये, उत्तम तप किया और बारह अंग का ज्ञान प्रकट करके श्रुतकेवली हुए। वे सदैव उत्तम वैराग्य भावनाओं में तत्पर रहते थे। घनरथ तीर्थंकर के सान्निध्य में मेघरथ मुनिराज ने क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट किया तथा दर्शनविशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनाओं द्वारा सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति बांधना प्रारम्भ किया, मानों एक तीर्थंकर पिता के पास से उन्हीं के पुत्र ने तीर्थंकरत्व का उत्तराधिकार प्राप्त किया।

वैराग्य की वृद्धि तथा कर्मों की हानि के हेतु वे सदा अध्रुव-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचि-आस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ एवं धर्म - इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते थे। इन वैराग्य भावनाओं का चिन्तन उनके चित्त में आनन्द उत्पन्न करता था, वे बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प मोक्षसुख का वेदन करते थे। बाह्य स्थित जीव शुद्धोपयोगी मुनि और सिद्धों में अन्तर देखते हैं तो देखें; परन्तु उन्हें स्वयं तो निर्विकल्प आनन्द में लीनता होने से कोई द्वैत दिखायी नहीं देता।

ऐसी आनन्दमय दशा में झूलते-झूलते वे मेघरथ एवं दृढ़रथ मुनिवर अनेक वर्षों तक विचरे और धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण किया। चौंसठ महान ऋद्धियों में से केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य सर्वऋद्धियाँ उनको प्रकट हुई थीं, किन्तु उन लब्धियों का उपयोग करना उनका लक्ष्य नहीं था, उनका लक्ष्य तो चैतन्य की साधना ही था। जब उनकी आयु एक ही मास शेष रही, तब उन्होंने विधिपूर्वक समाधिमरण करने हेतु प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। शरीर की अत्यन्त उपेक्षा करके वे ध्यान-स्वाध्याय में ही रहने

लगे; उन्होंने आहार-जल का सर्वथा त्याग कर दिया; वे अपने शरीर की किसीप्रकार की सेवा सुश्रुषा करते नहीं थे तथा दूसरों के पास कराते भी नहीं थे। महान शूरवीरतापूर्वक वे चार आराधना में तत्पर थे। परिणामों की विशुद्धि बढ़ते-बढ़ते वे शुक्लध्यान में आरूढ़ हुए और उपशमभाव से गुणस्थान श्रेणी चढ़ने लगे। राग-द्वेष-मोह का उपशम करके वे ग्यारहवें वीतरागी गुणस्थान में पहुँचे और समाधिपूर्वक देह को त्यागकर संसार के सर्वोत्कृष्ट स्थान 'सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए।'

भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव - भगवान शान्तिनाथ और उनके भ्राता दोनों जब सर्वार्थसिद्धि में विराजते थे तब भगवान कुन्थुनाथ का आत्मा भी वहीं सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुआ था। एक-दूसरे से अद्भुत-अचिन्त्य चैतन्यचर्चा करते थे।

भगवान शान्तिनाथ का वर्तमान भव - माघ का महीना चल रहा था, अचानक ही हस्तिनापुर में राजभवन के प्रागण में करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी और छह मास पश्चात् भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को महारानी अचिरादेवी ने अति मंगल सूचक सिंह, हाथी, माला, रत्नराशि आदि सोलह स्वप्न देखे। जिससमय अचिरा माता ने स्वप्न देखे उसीसमय सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग से वह अहमिन्द्र शान्तिनाथ के रूप में उनके उदर में अवतरित हुआ। महारानी ने अल्पनिद्रा में देखा कि एक महासुन्दर हाथी उनके मुख में प्रविष्ट हो रहा है।

महारानी जाग उठी; अति हर्षपूर्वक पंचपरमेष्ठी का चिंतन किया। पश्चात् राजसभा में पहुँची और महाराजा से मंगल स्वप्नों की बात कही। अवधिज्ञानी अश्वसेन महाराजा ने जान लिया कि अपने यहाँ त्रिलोकीनाथ तीर्थकर का आगमन हुआ है। उन्होंने कहा - "हे देवी! सोलहवें तीर्थकर का जीव तुम्हारे गर्भ में अवतरित हो चुका है। इतना ही नहीं, वह महान आत्मा पहले चक्रवर्ती होकर इस सारे भरतक्षेत्र पर राज्य करेगा और पश्चात् तीर्थकर होकर समस्त विश्व में धर्म का साम्राज्य चलायेगा। उसका रूप अद्भुत सुन्दर होगा। वह कामदेव, चक्रवर्ती एवं तीर्थकर - ऐसी तीन सर्वोत्तम पदवियों का धारी होगा।"

यह सुखद समाचार सुनकर महादेवी अचिरामाता के हर्ष का पार नहीं रहा - माता के मुँह से निकला

“अहा, ऐसा धर्मात्मा और मोक्षगामी जीव मेरे उदर में!” उन्हें आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में किन्हीं अपूर्व चैतन्य भावों का वेदन हुआ, उनके अंतर से मोहान्धकार दूर होकर चैतन्य प्रकाश खिल उठा।

शान्तिनाथ प्रभु के गर्भावतार कल्याणक का उत्सव करने हेतु स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे। उन्होंने महाराजा अश्वसेन तथा महादेवी अचिरा माता का तीर्थकर के माता-पिता के रूप में सम्मान किया; दिव्य वस्त्राभूषण भेंट किए और स्तुति की।

हस्तिनापुरी के भाग्य का उदय हुआ। उसे अयोध्यातीर्थ जैसा गौरव प्राप्त हुआ। वहाँ प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती थी, शान्ति एवं समृद्धि बढ़ती जा रही थी। कमलवासी श्री-ही-धृति-कीर्ति-लक्ष्मी-सरस्वती आदि देव कुमारियाँ भी इन्द्र की आज्ञा से अचिरा माता की सेवा करने आ गई थीं। वे देवियाँ आनन्द-विनोदपूर्वक चर्चा करके माता को आनन्दित करती थीं और उदरस्थ प्रभु की महिमा प्रकट करती थीं।

एक बार श्री देवी ने पूछा - हे सखी ! इन माताजी के आसपास सर्वत्र इतनी अधिक शान्ति क्यों है?

तब लज्जावती ही देवी ने कहा - हे देवी! भगवान शान्तिनाथ स्वयं माताजी के उदर में विराज रहे हैं, उन्हीं के प्रताप से इतनी अधिक शान्ति छा रही है।

धृति देवी ने पूछा - हे सखी! महाराजा अश्वसेन एवं अचिरा माता की कीर्ति कैसे फैल गई?

कीर्ति देवी ने कहा - हे देवी ! तीन लोक में कीर्ति करनेवाला आत्मा उनके उदर में आया है।

लक्ष्मी देवी ने पूछा - हे देवी सरस्वती! आजकल अचिरा माता के अंतर से सरस्वती उमड़ रही है और सम्पूर्ण राज्य में लक्ष्मी की खूब वृद्धि हो रही है, उसका क्या कारण है ?

सरस्वती देवी ने कहा - हे लक्ष्मी! इससमय माताजी के उदर में जो तीर्थकर विराज रहे हैं, वे तीन लोक की लक्ष्मी तथा श्रेष्ठ सरस्वती के स्वामी होनेवाले हैं।

- ऐसी उत्तम चर्चा में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेकर माताजी भी देवियों को आनन्द प्राप्त कराती थीं।

इसप्रकार प्रसन्नता के वातावरण में सवा नौ महीने बीत गये तत्पश्चात् ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन माता अचिरादेवी ने ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जिसके महातेज से पृथ्वी जगमगा उठी। मात्र मनुष्यलोक का ही नहीं, स्वर्ग का तथा नरक का वातावरण भी दो क्षण के लिए शान्तिमय हो उठा। सर्वत्र ही एक प्रकार का नूतन आल्हाद छा गया। स्वर्ग के दिव्य वाद्य एकसाथ बजने लगे और दिव्य ऐरावत हाथी पर बैठकर इन्द्र हस्तिनापुरी में बालप्रभु का जन्मोत्सव मनाने देवों के ठाट-बाट सहित आ पहुँचे।

बाल तीर्थंकर को गोद में लेकर इन्द्राणी धन्य हो गई। अहा ! तीर्थंकर समान धर्मात्मा का सीधा स्पर्श होने से वह परम वात्सल्यपूर्वक रोमांचित हो गई। देव पर्याय में यद्यपि पुत्र नहीं होते; परन्तु किसी सातिशय पुण्ययोग से तीर्थंकर शिशु को अपनी गोद में लेते हुए उस इन्द्राणी को पुत्रसुख का अनुभव हुआ। वह ऐसा वेदन करने लगी कि मानो वही बच्चे की माँ हो।

बाल तीर्थंकर भी अनेक जीवों को सम्यक्त्व में कारण होते हैं। मोक्षगामी बालक को गोद में लेने से वह इन्द्राणी भी मोक्षगामी बन गई। आनन्द के रोमांचपूर्वक इन्द्राणी ने उन बाल तीर्थंकर को इन्द्र के हाथ में दे दिया। इन्द्र बालक को देखकर तृप्त नहीं हुआ तो उसने एक साथ हजार नेत्र बनाकर प्रभु का रूप निहारा। मनुष्यलोक की तीर्थंकर-विभूति के समक्ष स्वर्गलोक की इन्द्रविभूति भी उसे तुच्छ लगने लगी।

प्रभु को दैवी ऐरावत हाथी पर विराजमान करके महान शोभायात्रा सहित इन्द्र मेरुपर्वत पर ले गया और वहाँ अतिशय भक्तिपूर्वक जन्माभिषेक किया।

“उन शिशु भगवान का स्वरूप यद्यपि स्वयं सुशोभित था, शोभा के लिए किसी बाह्य-अलंकार की आवश्यकता उनको नहीं थी; तथापि स्वर्गलोक स्थित मानस्तम्भ के दिव्य पिटारों से उत्पन्न हुए सर्वोत्कृष्ट अलंकार मैं तीर्थंकर के अतिरिक्त किसे पहनाऊँ? उन दिव्य अलंकार को धारण कर सके ऐसा तो विश्व में दूसरा कोई है नहीं” ऐसा सोचकर इन्द्राणी ने स्वर्ग के दिव्य वस्त्राभूषण बाल तीर्थंकर को पहिनाये और साथ ही प्रभु के मस्तक पर रत्नों का मंगल तिलक लगाया। आश्चर्यपूर्वक प्रभु को निहारने लगी।

उन प्रभु के दर्शन से सर्वजीवों को शान्ति हो रही थी, इससे इन्द्र ने उन सोलहवें तीर्थंकर का नाम

शान्तिनाथ रखा। उनके चरण में मृग का चिह्न था। जन्माभिषेक के पश्चात् एक हजार आठ मंगल नामों से इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की। अद्भुत ताण्डव नृत्य किया और शोभायात्रा के साथ हस्तिनापुर लौटे।

हस्तिनापुर के राजमहल में आकर इन्द्र ने सम्मानपूर्वक भगवान के माता-पिता को उनका पुत्र सौंपा और उनके समक्ष पुनः बाल तीर्थकर की भक्ति की। इन्द्र-इन्द्राणी के साथ थिरक-थिरककर नाच उठा।

पन्द्रहवें तीर्थकर भगवान धर्मनाथ का शासन लगभग तीन सागर तक चला; उसके अन्त भाग में व पल्य (असंख्य वर्ष) तक धर्म का विच्छेद हो गया था; तत्पश्चात् सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ भगवान का अवतार हुआ और धर्म की धारा पुनः प्रवाहित हुई। उनकी आयु एक लाख वर्ष की थी, जगत में श्रेष्ठ ऐसा चक्रवर्ती पद, सर्वार्थसिद्धि-इन्द्रपद या तीर्थकर पद धर्माराधक जीवों को ही प्राप्त होते हैं; ऐसी समस्त पदवियाँ धर्माराधक भगवान शान्तिनाथ के जीव को प्राप्त हुई थीं, तथापि अंत में तो उन सब कर्मजनित संयोगी पदवियों को छोड़कर प्रभु ने स्वभावभूत ऐसे असंयोगी सिद्धपद को ही साधा।

कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थकर के रूप में उनके शरीर की सुन्दरता तो सर्वोत्कृष्ट थी; पर अंतर में अपूर्व भेदज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व और अवधिज्ञान द्वारा उनके आत्मा का सौन्दर्य भी महान था। उनकी दस अंगुलियों की कोमलता में मानो उत्तमक्षमादि दस धर्मों का वास था, इसलिए उनमें किंचित् कठोरता नहीं थी। उन बाल तीर्थकर शान्तिकुमार के मस्तक के कोमल-घुंघराले बालों से लेकर पैरों के चमकदार नखों तक शरीर के समस्त अवयवों की शोभा को भिन्न-भिन्न वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उस शरीर के सर्वांग में व्याप्त होकर एक महामंगलरूप तीर्थकर प्रभु विराज रहे थे।

बालक शान्तिनाथ का अवतार होने के कुछ समय पश्चात् महाराज अश्वसेन की दूसरी रानी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। मेघरथ के भव में जो दृढ़रथ नाम का भाई था और जो सर्वार्थसिद्धि में साथ था, वह जीव वहाँ से चयकर यहाँ शान्तिनाथ के भ्राता चक्रायुध के रूप में अवतरित हुआ।

दोनों भ्राता दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होने लगे। उनकी बाल क्रीड़ाएँ भी आश्चर्यजनक थीं। देव भी उनके

साथ क्रीड़ा करने हेतु उन्हीं जितने बालक का रूप धारण करके हस्तिनापुरी में रहते थे। दोनों भ्राता आत्मानुभवी, चरमशरीरी तथा अत्यन्त आत्मरसिक थे।

एक बार शान्तिनाथ और चक्रायुध दोनों मनोहर उद्यान में पर्यटन हेतु गये। साथ में और भी अनेक लोग थे। आनन्द-प्रमोद में दिन पूरा हुआ। सायंकाल शान्तिनाथ ने अपने भाई से कहा “भाई चक्र ! चलो, शान्ति से दो घड़ी अन्तर में परमात्मतत्त्व का चिंतन करें।” यह बात सुनकर चक्रकुमार प्रसन्न हुए और दोनों भाई ध्यान में बैठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने लगे। उपयोग निजस्वरूप में एकाग्र होने से स्वानुभूति के निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ। योगी समान ध्यानस्थ उन दोनों राजकुमारों को देखकर सब लोग भी प्रभावित हुए और सब बाह्य प्रवृत्ति छोड़कर आत्मचिन्तन में बैठ गये। चारों ओर शान्ति का स्तब्ध वातावरण छा गया। अरे! वन के सिंह और शशक, सर्प और मोर आदि पशु-पक्षी भी उनकी शांत ध्यानमुद्रा देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए और परस्पर का बैरभाव छोड़कर प्रभु सन्मुख बैठ गये।

शान्तिनाथ ने पूछा - “हे बन्धु! स्वानुभूति के समय अन्तर में आत्मा कैसा दिखायी देता है ?”

चक्रायुध बोले - “अहो देव! जब मैंने स्वयं अपने को देखा तो मुझे जो अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति हुई, वह आत्मानुभूति वचनातीत एवं विकल्पातीत थी। परमशांतस्वरूप से आत्मा स्वयं ही प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वाद में स्वयं आता था। वहाँ इन्द्रियाँ नहीं थीं, राग नहीं था, द्रव्य-गुण-पर्याय के कोई भेद भी नहीं थे। अकेला ज्ञायक आत्मा स्वयं अपने आनन्द में लीन होकर सर्वोपरि परमतत्त्व में प्रकाशित हो रहा था।”

शान्तिनाथ ने पुनः प्रश्न किया - “उस स्वानुभूति के समय निर्विकल्प उपयोग में स्व-पर प्रकाशकपना किसप्रकार होता है?”

चक्रायुध बोले - “उस समय अंतर्मुख उपयोग में मात्र आत्मप्रकाशन है, आत्मा स्वयं ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय - इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक की अभिन्नता है। उससमय उपयोग में परज्ञेय नहीं होता; क्योंकि साधकदशा

में उपयोग स्व में तथा पर में दोनों में एकसाथ नहीं लगता; एकसमय एक में ही उपयोग होता है।”

शान्तिनाथ ने फिर पूछा - “तो क्या उससमय जीव को स्व-पर का ज्ञान नहीं है ?”

चक्रायुध - “है; परन्तु छद्मस्थ जीव अपने उपयोग को स्वज्ञेय में ही लगाता है। जिस भेदज्ञान द्वारा परवस्तु को पररूप जाना है वह ज्ञान उस पर्याय में वर्तता अवश्य है; परन्तु लब्धरूप वर्तता है। उपयोग में तो आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा स्वयं ही ज्ञेय है। पर से भिन्नता का ज्ञान कराने के लिए कहीं परसन्मुख उपयोग होना आवश्यक नहीं है। अपने शुद्ध आत्मा को स्वज्ञेय रूप से जाना और उसमें राग की या जड़ की मिलावट नहीं की, वही भेदज्ञान है। ज्ञानी को वह निरन्तर वर्तता है।”

शान्तिनाथ ने जानना चाहा - “धर्मी का उपयोग अन्तर में हो तब तो उस अतीन्द्रिय उपयोग में इन्द्रिय विषय छूट गये हैं; परन्तु जब उसी धर्मी का उपयोग बाह्य में हो और इन्द्रियज्ञान हो, तब उस बाह्य उपयोग के समय क्या उसे मात्र इन्द्रियज्ञान ही होता है अथवा अतीन्द्रियज्ञान भी होता है ?”

चक्रायुध ने कहा - “धर्मी को बाह्य उपयोग के समय इन्द्रियज्ञान होता है तथा उसीसमय उसे उस पर्याय में अतीन्द्रियज्ञान नहीं है, तथापि उसी पर्याय में पहले जो आत्मज्ञान किया है, उसकी धारणा वर्तती है, इसलिए अतीन्द्रियज्ञान का परिणामन (लब्धरूप) से उसी पर्याय में चल सकेगा। इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप शान्ति, सम्यक् श्रद्धा आदि इन्द्रियातीत शुद्धभाव धर्मी की पर्याय में सदा वर्तते ही हैं और उन भावों द्वारा ही धर्मी जीव की सच्ची पहिचान होती है।”

चैतन्यरस से परिपूर्ण ऐसी सरस तत्त्वचर्चा और वह भी तीर्थकर-गणधर होनेवाले दो महात्माओं के श्रीमुख से सुनकर सभाजन स्वानुभूति के गम्भीर रहस्य को स्पष्टरूप से समझ गये और उसीसमय अनेक जीवों ने स्वानुभूति भी प्राप्त की थी। तीर्थकर-प्रकृति का उदय आने से पूर्व ही चक्रवर्ती सम्राट शान्तिनाथ ने गृहस्थ अवस्था में ही आंशिक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया।

स्वानुभव की इस सुन्दर चर्चा द्वारा पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि तीर्थकरों का समस्त जीवन

कैसा महान, सुन्दर एवं गम्भीर भावों से भरा होता है और उनके समागम से जीवों को धर्म की कैसी उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहती हैं।

शान्तिनाथ जब धर्मचक्री होंगे तब धर्मचक्र सहित भरतक्षेत्र के मात्र आर्यखण्ड में ही विहार करेंगे, अनार्यखण्डों में नहीं जायेंगे। वर्तमान में चक्रवर्ती रूप से उन्होंने सुदर्शनचक्र सहित छहों खण्ड में विहार किया, अनार्यखण्डों में भी गये। अभी तक कोई तीर्थकर अनार्यखण्डों में नहीं गये थे। भाग्यशाली हुआ अनार्यखण्ड भी कि वहाँ के जीवों को भावी तीर्थकर के दर्शन हुए। चक्रवर्ती के रूप में शान्तिनाथ सौराष्ट्र में पधारे थे और पश्चात् धर्मचक्री तीर्थकर के रूप में भी उनका सौराष्ट्र में पदार्पण हुआ था। शत्रुंजयगिरि के जिनमन्दिर में विराजमान जिनप्रतिमा आज भी उनका स्मरण कराती हैं। तीन खण्ड की विजय के पश्चात् प्रभु श्री शान्तिनाथ चक्री जब विजयार्द्ध पर्वत पर गये तब वहाँ रहनेवाले विद्याधर राजाओं ने अति हर्षपूर्वक उनका एक परमात्मा जैसा सम्मान किया और (१) विजयपर्वत नाम का श्वेत हाथी (२) पवञ्जय नाम का उत्तम अश्व तथा (३) सुभद्रा नामक सुन्दर कन्या – यह तीन उत्तमोत्तम रत्न उन चक्रवर्ती महाराजा को अर्पण करके महान आदरसहित उनके शासन का स्वीकार किया। विद्याधरों में तीर्थकर उत्पन्न नहीं होते और सामान्यरूप से वहाँ कोई तीर्थकर जाते भी नहीं हैं; परन्तु इस चौबीसी में एक ही जीव एकसाथ तीर्थकर एवं चक्रवर्ती – दोनों पदवी के धारक होने से विजयार्द्ध पर्वत पर तथा अनार्यखण्डों में भी छद्मस्थ भावी तीर्थकर भगवान का पदार्पण हुआ, यह वहाँ के निवासियों के लिए एक अति आश्चर्यकारी एवं महाआनन्दकारी घटना थी। चक्री का सुदर्शनचक्र भी धर्मचक्र जैसा ही था; क्योंकि उसके द्वारा कभी किसी जीव की हिंसा होने का प्रसंग नहीं आता था। इतना ही नहीं, वह चक्रधारी मात्र चक्रवर्ती ही नहीं थे, साथ ही तीर्थकर भी थे, इसलिए उनके सुदर्शन चक्र से भव्यजीव धर्म भी प्राप्त करते थे। चक्री कहीं हाथी-घोड़े या रत्न आदि लेने के लिए छह खण्ड में नहीं गये थे, रत्नों के ढेर तो कुबेर द्वारा उनके जन्म से पूर्व ही लग गये थे। एक भावी तीर्थकर, तीर्थकररूप से अवतरित होने के पश्चात् आर्य खण्ड में विहार करके म्लेच्छ खण्ड के लोगों को भी दर्शन दें, यह उन म्लेच्छों का सौभाग्य ही था। वास्तव में पंचम चक्रवर्ती

प्रभु शान्तिनाथ को छह खण्ड की दिग्विजय करने में मात्र आठ वर्ष लगे थे। जबकि उसी काम में चक्रवर्ती भरत को साठ हजार वर्ष लगे थे। प्रत्येक चक्रवर्ती अपनी विजयगाथा वृषभाचलपर्वत की शिला पर उत्कीर्ण करता है; परन्तु उत्कीर्ण करने के स्थान के लिए उसे पूर्वकाल के किसी एक चक्रवर्ती का लेख मिटाना पड़ता है और तब उनका गर्व उतरता है; परन्तु प्रभु श्री शान्तिनाथ चक्रवर्ती की बात उन सब चक्रवर्तियों से अलग थी; क्योंकि उन सब चक्रवर्तियों में कोई तीर्थकर नहीं थे। उस शिला के अग्रभाग में उनके तीर्थकर प्रकृति के पुण्य प्रभाव से उनका नाम लिखने का स्थान स्वतः बन गया था। इसप्रकार शान्तिनाथ महाराजा छह खण्ड की दिग्विजय करके भरतक्षेत्र के पाँचवें चक्रवर्ती हुए” – ऐसा शिलालेख वज्र द्वारा उत्कीर्ण किया।

इसप्रकार हस्तिनापुरी के महाराजा शान्तिनाथ दूसरी बार चक्रवर्ती हुए। इससे पहले पूर्व पाँचवें भव में भी वे विदेहक्षेत्र में क्षेमंकर तीर्थकर के पुत्र वज्रायुध थे; तब चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था और पश्चात् उसे छोड़ दिया था; परन्तु वह चक्रवर्ती पद मानो अब भी प्रभु का संग छोड़ना नहीं चाहता हो। देखो न, भगवान शान्तिनाथ तो राज्य छोड़कर तथा शरीर को भी त्याग कर मोक्ष में पहुँचे। उसे असंख्यात वर्ष बीत जाने पर भी, वे चक्रवर्ती और तीर्थकर पद आज भी उनका पीछा नहीं छोड़ते, इसलिए उनके साथ चक्रवर्ती शान्तिनाथ, तीर्थकर शान्तिनाथ – इसप्रकार विशेषण लगे हुए हैं।

चक्रवर्ती शान्तिनाथ का वैराग्य – महाराजा शान्तिनाथ चक्रवर्ती का जन्म-दिवस मनाया जा रहा था। उनके अवतार को आज पचहत्तर हजार वर्ष पूरे हुए थे। देश-विदेश में उत्तम भेंट लेकर एक हजार राजा उत्सव में सम्मिलित होने आये थे। महाराजा शान्तिनाथ राजदरबार में जाने की तैयारी करके दर्पण में मुँह देख रहे थे, इतने में तो अरे, यह क्या! महाराजा अचानक चौंक पड़े, दर्पण के प्रतिबिम्ब में पहले सुन्दर रूप दिखायी दिया, वह दूसरे क्षण बदल गया, क्षणभर में ऐसा परिवर्तन। शरीर की ऐसी क्षणभंगुरता! उसीसमय उन्हें अपने निर्मल ज्ञानदर्पण में अपने अनेक भवों के अनेक रूप दृष्टिगोचर हुए। “मैं ही सर्वार्थसिद्धि में था और मैं ही घनरथ तीर्थकर का पुत्र था तथा विदेहक्षेत्र के क्षेमंकर तीर्थकर का पुत्र वज्रायुध

चक्रवर्ती भी मैं ही था। अरे ! दूसरे भोगों की तो क्या बात, यह चक्रवर्ती पद की विभूति भी मेरे लिए नवीन नहीं है—पूर्व में यह भी मैं प्राप्त कर चुका हूँ, इतना ही नहीं, उसे छोड़कर मैंने साधुदशा भी ग्रहण की थी। मेरे रत्नत्रयनिधान के निकट अन्य किसी निधान का क्या मूल्य है ?”

इसप्रकार दर्पण में दिखायी दिये प्रतिबिम्ब के निमित्त से अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण होते ही शान्तिनाथ चक्रवर्ती वैराग्य को प्राप्त हुए और विचारने लगे कि “अरे! मेरे जीवन के पचहत्तर हजार वर्ष बीत गये। मुझे अभी केवलज्ञान की साधना करना है। अब इन क्षणभंगुर वैभवों में या राग में रुकना मेरे लिए उचित नहीं है। बस! मैं आज ही इस राजवैभव को छोड़कर दीक्षा अंगीकार करूँगा और जिनेन्द्र बनूँगा।

महाराजा शान्तिनाथ तो अपने वैराग्य चिन्तन में एकाग्र थे, बारह भावनाओं द्वारा संसार की असारता का चिंतवन करके, परम सारभूत निज परमतत्त्व में उपयोग लगा रहे थे। इतने में ब्रह्मस्वर्ग के लौकान्तिक देव वहाँ उतरे। श्वेत वस्त्रधारी वे वैरागी देव जैन ऋषियों के समान शोभते थे। उन्होंने आकर तीर्थकर के चरणों में वंदन किया और उनके परम वैराग्य की प्रशंसा की – “अहो देव! आप इस भरतक्षेत्र के सोलहवें तीर्थकर हैं, दीक्षा संबंधी आपके विचार उत्तम हैं। आप दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रकट करेंगे और जगत के जीवों को मोक्षमार्ग दर्शायेंगे। भरतक्षेत्र में अनेक वर्षों से विच्छिन्न धर्मप्रवाह को पुनः अविच्छिन्न धारारूप करने का समय आ गया है और वह आपके द्वारा ही होगा। धन्य है यह चारित्र धारण करने का सुअवसर! हम भी इस अवसर के लिए लालायित हैं, इसलिए आपके चारित्र का अनुमोदन करने आये हैं।” ऐसी स्तुति करके वे लौकान्तिक देव पुनः ब्रह्मस्वर्ग में चले गये।

उसीसमय करोड़ों देवों के साथ प्रभु का जय-जयकार करते हुए स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे। वैरागी शान्तिनाथ को दीक्षावन में ले जाने के लिए स्वर्गलोक से सर्वार्थसिद्धि नामक दिव्य शिबिका भी वे साथ लाये थे। उस अवसर पर एक ओर तो महाराजा शान्तिनाथ ने राजपुत्र को राज्य सौंपकर उसका राज्याभिषेक किया और दूसरी ओर इन्द्रों ने शान्तिनाथ का दीक्षा अभिषेक करके स्वर्गलोक से लाये हुए दिव्य वस्त्राभूषण

पहिनाये। बस! वैरागी शान्तिनाथ का संसार में यह अन्तिम स्नान एवं अन्तिम वस्त्र थे।

शिबिका में बैठकर वैरागी शान्तिनाथ ने जब वनगमन किया, तब प्रथम भूमिगोचरी राजाओं ने, पश्चात् विद्याधर राजाओं ने और तत्पश्चात् इन्द्रों ने वह शिबिका कन्धों पर उठायी और आकाशमार्ग में चलने लगे। उन संसार से विरक्त चक्रवर्ती शान्तिनाथ के अचानक वैराग्य की बात सुनकर रानियों को किंचित् आघात लगा। इन्द्राणी उन्हें आश्वासन देने का विचार कर ही रही थी, इतने में तो उन रानियों ने स्वयं विवेकबुद्धि से समाधान करके शूरवीरता से दृढ़ निश्चय किया कि हम जिसप्रकार भोग में स्वामी की सहचरी थीं उसीप्रकार अब योग में भी स्वामी के साथ रहेंगी। हम भी अब देशव्रत धारण करके वैराग्यमय जीवन जियेंगी। हमारे स्वामी को जब केवलज्ञान होगा तब हम भी समवसरण में जाकर प्रभु के चरणों में आत्मकल्याण करेंगे। इसप्रकार वे रानियाँ भी अब राजवैभव के प्रति बिलकुल उदासीन हो गई थीं और देशव्रत का पालन करते हुए उत्तम श्राविकाओं जैसा वैरागी जीवन जीने लगी थीं। इन्द्राणी ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा - “तुम्हें तो इस भव में देशव्रत का अवसर है; परन्तु हमें इस देवी पर्याय में संयम का कोई अवसर नहीं है। तीर्थकर के संग से तुम्हारा जीवन धन्य हुआ है।”

हजारों वर्ष से चक्रवर्ती की सेवा करनेवाले देव, सम्राट का वैराग्य देखकर हाथ जोड़े खड़े थे और देवपर्याय से मनुष्यपर्याय को श्रेष्ठ मानते हुए कह रहे थे कि “अरे! जिनकी सेवा से हमें आनन्द मिलता था। वे हमारे स्वामी तो दीक्षा ले रहे हैं; हम भी यदि मनुष्य होते तो अपने स्वामी के साथ दीक्षा ग्रहण करते। अब तो जब वे केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्री बनेंगे तब समवसरण में जाकर उनकी सेवा करेंगे और दिव्यध्वनि सुनकर आत्मकल्याण करेंगे।”

शान्तिनाथ की दीक्षयात्रा - चक्रवर्ती के सेनापति आदि रत्नों ने भी स्वामी के साथ दीक्षा ले ली। हाथियों का सरदार विजनायक विचारने लगा कि “अरे! जब मुझ पर आरूढ़ होनेवाले स्वामी सब छोड़कर वन में जा रहे हैं तो मैं राज्य में रहकर क्या करूँगा?” ऐसा विचारकर वह विजय हाथी भी प्रभु के पीछे-

पीछे चला गया और वैराग्यपूर्वक प्रभु के निकट ही रहने लगा ।

प्रभु के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आये हुए एक हजार राजा भी प्रभु के साथ दीक्षा लेने हेतु तैयार हुए । चक्रवर्ती के भाई चक्रायुध कुमार भी दीक्षा ग्रहण करने हेतु तत्पर थे ।

प्रभु शान्तिनाथ ने चक्रवर्ती पद से निकलकर परमेष्ठीपद में प्रवेश किया । बारह भव के साथी उनके भाई चक्रायुधकुमार ने भी प्रभु के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की; अन्य हजारों राजा भी मुनि हो गये । लाखों जीवों ने वैराग्यपूर्वक श्रावक के व्रत लिये; कुछ तिर्यच जीव भी व्रतधारी हुए ।

अरे! यदि बाह्यविषयों में सुख होता तो इन चक्रवर्ती के समक्ष तो सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग विद्यमान थे, फिर उन्हें त्यागकर वे वनवासी मुनि क्यों होते ? इसलिए निश्चित होता है कि बाह्यसामग्री में, विषयभोगों में या उनके संग में कहीं सुख है ही नहीं, सुख तो चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में ही है । सुख आत्मा का स्वभाव है और उसके ध्यान में जो अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन होता है, वही सच्चा सुख है ।

मुनिराज शान्तिनाथ की ध्यानदशा देखकर अनेक जीवों ने आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया । उनके दीक्षाकल्याणक का महोत्सव अनेक जीवों के कल्याण का कारण बना ।

मुनिराज शान्तिनाथ बारम्बार शुद्धोपयोगी होते थे । दीक्षा के पश्चात् दो दिन के उपवास करके वे ध्यान के प्रयोग में रहे । पश्चात् तीसरे दिन पारणा हेतु मन्दिरपुरी में पधारे । तीर्थकर जैसे सुपात्र को अपने प्रांगण में देखते ही राजा सुमित्र को अपार हर्ष हुआ, उसने भक्तिसहित पड़गाहन किया एवं नवधा भक्ति से गुरु के चरणों का प्रक्षालन किया, इन्हें उच्चासन पर विराजमान करके अर्घ्य द्वारा पूजा की एवं उनके करकमलों में आहारदान दिया । तीर्थकर को मुनिदशा में प्रथम आहारदान दाता के रूप में उन्हें तद्भव मोक्षगामीपना प्राप्त हुआ था । उस आहारदान के हर्षोपलक्ष्य में उसीसमय आकाश में (१) देवों के दुन्दुभि वाद्य बज रहे थे, (२) रत्नवृष्टि हो रही थी, (३) अहो दानं... कहकर देव उस दान की प्रशंसा कर रहे थे; (४) शीतल वायुसहित

सुगन्धित जल की बूँदे गिर रही थीं और (५) देव पुष्पवर्षा कर रहे थे; इसप्रकार पंचाश्चर्य प्रकट हुए।

इसप्रकार सोलह वर्ष तक मौनरूप में आत्मसाधना करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ते-बढ़ते शान्तिनाथ मुनिराज पुनः हस्तिनापुरी के सहस्रामवन में पधारे। हस्तिनापुरी के प्रजाजन अपने महाराज को मुनिदशा में देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। जहाँ दीक्षा ली थी उसी वन में आकर मुनिराज शान्तिनाथ ध्यानस्थ हुए। साथ में चक्रायुध आदि हजारों मुनिवर भी वैराग्य में आत्मध्यान कर रहे थे।

पौष शुक्ल एकादशी को हस्तिनापुरी के सुन्दर उद्यान में हजारों आम्रवृक्ष असमय में ही आम्रफलों के भार से झुक गये थे; क्योंकि प्रभु शुक्लध्यानरूपी धर्मचक्र धारण कर, सर्वज्ञ होकर अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सुखरूप परिणमित हुए थे। उसीसमय देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उन सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा की और सोलहवें तीर्थकर का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया। कुबेर ने स्वर्गलोक की उत्तम सामग्री द्वारा दिव्य शोभायुक्त समवशरण की रचना की; इन्द्राणी ने उसमें रत्नों का चौक पूरा; करोड़ों दुंदुभिवाद्य बजने लगे।

जिससमय शान्तिनाथ प्रभु को पंचमज्ञान प्रकट हुआ, उसीसमय उनके भ्राता चक्रायुध मुनिराज को भी उन्हीं के सान्निध्य में चौथा ज्ञान प्रकट हुआ। दो सहोदरों में से एक तीर्थकर हुए और दूसरे गणधर। दिव्य समवशरण की बारह सभायें देवों, मनुष्यों एवं तिर्यचों से भर गई। आश्चर्य है कि वहाँ स्थान के माप की अपेक्षा बैठनेवाले जीवों की संख्या अत्यधिक होने पर भी किंचित् भी भीड़ नहीं थी। प्रभु के दर्शनों में सब इतने लीन थे कि किसी को कोई आकुलता नहीं थी। सर्वांग से खिरती हुई प्रभु की दिव्यध्वनि सबने शान्तिपूर्वक श्रवण की। प्रभु ने आत्मतत्त्व की परम गंभीर महिमा दर्शाते हुए कहा -

“हे जीवों! यह आत्मतत्त्व स्वयं स्वतंत्र है; यह अनादि-अनन्त अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप में वर्तनेवाला है; ज्ञान और आनन्द उसका स्वभाव है, जो कि जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वकीय असंख्यात प्रदेश में रहकर प्रतिसमय जानता और परिणमता है।

वह आत्मा स्व-पर का भेदज्ञान करके पर से विभक्त अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है और उसी में

एकत्वरूप से परिणमता है; इसलिए हे जीवों! तुम भेदज्ञान करके रागरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में ही आत्मा को दृढ़रूप से परिणमित करो। सब अरहंत तीर्थकर इसी विधि से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और तुम्हारे लिए भी मोक्ष का यही एक उपाय है।

बस! शुद्धस्वरूप में ही मोक्षमार्ग का समावेश है, राग का कोई अंश उसमें नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव से परिणमित आत्मा स्वयं ही मोक्ष का कारण है और स्वयं ही मोक्षरूप है।”

तीर्थकर परमात्मा का ऐसा धर्मोपदेश सुनकर अनेक जीव आत्मज्ञान को प्राप्त हुए, अनेक जीवों ने श्रावकधर्म तथा अनेकों ने मुनिधर्म अंगीकार किया। शान्तिनाथ तीर्थकर की धर्मसभा में चक्रायुध आदि ३६ गणधर, ८०० श्रुतकेवली, ४१,८०० उपाध्याय, ३,००० अवधिज्ञानी मुनिवर, ६,००० विक्रियाऋद्धिधारी मुनिवर, ४,००० मनःपर्ययज्ञानी और २,४०० वादविद्या में निपुण मुनिवर विराजते थे और इस समस्त धर्मवैभव के साथ उस दिव्य श्रीमण्डप के समकक्ष ४,००० केवलज्ञानी-अरहंत विराजते थे। ६०,३०० आर्यिकायें, दो लाख सम्यक्त्वादि से सुशोभित धर्मात्मा श्रावक तथा चार लाख श्राविकायें थीं। सब मोक्ष की उपासना कर रहे थे। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले तिर्यचों और देवों का तो प्रभु की धर्मसभा में कोई पार नहीं था।

समवशरण में प्रभु का धर्मोपदेश पूर्ण होने पर इन्द्रों ने १००८ मंगल नामों द्वारा प्रभु की स्तुति की। “हे देव! इन्द्र को आपकी गुणमहिमा प्रसिद्ध करने के लिए भले ही १००८ नाम दूँदना पड़े; परन्तु हम तो मात्र एक सर्वज्ञता द्वारा ही आपकी सर्वगुणमहिमा को जान लेते हैं। हे प्रभो! जहाँ आपकी सर्वज्ञता को लक्ष में लेते हैं, वहाँ आपके अनन्त गुणों की स्वीकृति एकसाथ हो जाती है। शुद्धात्मा का अनुभव होकर हमारे मोह का क्षय हो जाता है।”

आपके विहार के समय आगे-आगे चलनेवाला एक हजार आरों वाला रत्नमय धर्मचक्र, करोड़ों वाद्यों तथा करोड़ों ध्वजाओं के साथ चलता है। असंख्यात देव आपके धर्मचक्र की सेवा करते रहे हैं।

प्रभु शान्तिनाथ के साथ उनके भ्राता चक्रायुध गणधर भी केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष को प्राप्त हुए। भव-भवान्तर के साथी मोक्षगमन में भी साथ रहे।

कुन्दप्रभा कूट के ऊपर सिद्धालय में, लोक में सर्वोच्च स्थान पर जहाँ पूर्वकाल में अनन्तानन्त सिद्ध जीव विराजते थे, उनके सान्निध्य में वे भी शाश्वतरूप से विराजमान हुए और वर्तमान में भी विराज रहे हैं।

प्रभु श्री शान्तिनाथ के मोक्षकल्याणक प्रसंग पर इन्द्र ने निर्वाण महोत्सव किया और आनन्द नाम का अति भव्य नाटक किया। उसमें श्रीषेण राजा से लेकर शान्तिनाथ तीर्थंकर तक के बारह भवों में भगवान ने जो मोक्षसाधना की उसे अद्भुत ढंग से प्रदर्शित किया। उस नाटक द्वारा प्रभु का जीवन देखकर अनेक जीव मुक्तिसाधना हेतु प्रेरित हुए।

हे प्रभो! तीन लोक में श्रेष्ठ आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर था, यह सच है; परन्तु आपके चैतन्य की और इस समस्त धर्मवैभव के साथ उस दिव्य श्रीमण्डप के समकक्ष ४,००० केवलज्ञानी-अरहंत विराजते थे। अतीन्द्रिय सुन्दरता के समक्ष उसका क्या मूल्य ? क्योंकि जब आप सिद्धपुरी में पधारे तब उस चैतन्य की सुन्दरता को तो साथ ही ले गये थे; शरीर की उस दिव्यसुन्दरता का आपने त्याग किया, इसलिए वह पुद्गल में विलीन हो गया। अहा! उस कार्य द्वारा तो आपने हमें जड़-चेतन का भेदज्ञान कराया। आज भी आपके स्वरूप का चिन्तन करने से जगत के जीवों को भेदज्ञान होता है और वे मोक्ष के पथ पर चलते हैं। आपका शासन जयवन्त हो।

धर्म करने की उम्र कोई निश्चित नहीं होती, धर्म तो हमारे जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए।
क्या पता कब/क्या हो जाये ?

— इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-६३

देवेन्द्रचक्र से चयकर प्रभु ने, पुनर्जन्म का अन्त किया ।
राजेन्द्रचक्र को त्याग कुन्थु ने, मुक्तिमार्ग स्वीकार किया ।
धर्मेन्द्रचक्र को धारण कर, जिनशासन का विस्तार किया ।
सिद्धचक्र में शामिल होकर, निजानन्द रसपान किया ॥

जो तीसरे पूर्वभव में राजा सिंहरथ थे, उन्होंने उसी राजा सिंहरथ के भव में मुनिमार्ग में सिंहवृत्ति के साथ आत्मानुभूतिपूर्वक अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण से दूसरे पूर्वभव में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया । तत्पश्चात् तद्भव भव में तीर्थकर और चक्रवर्ती - दो पदों को प्राप्त हुए । तीर्थकरत्व के कारण वे त्रिलोक पूज्य हुए । वे सत्रहवें तीर्थकर भगवान कुन्थुनाथ हम सबके कल्याण में निमित्त बनें ।

कुन्थुनाथ अपने राजा सिंहरथ के भव में जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सुसीमा नगर के राजा थे । वह राजा सिंहरथ सिंह के समान ही पराक्रमी था, उसके पराक्रम के यश से ही अधिकांश प्रतिद्वन्दी युद्ध में उसका सामना नहीं करते थे । युद्ध किए बिना ही उसकी आधीनता स्वीकार कर लेते थे ।

बिना कारण कुन्थु जैसे सूक्ष्म जीवों को भी बाधा नहीं पहुँचाने वाला वह राजा शत्रु पक्ष से विजय प्राप्त करने में कभी पीठ नहीं दिखाता था । सदैव सामना करने को तैयार रहता था । न्यायपूर्ण व्यवहार और अहिंसक आचरण वाले और कर्मवीर राजा के सामने पापरूप शत्रु भी भयाक्रान्त होकर उसके पास ही नहीं पहुँचते थे ।

वह राजा एक बार आकाश में उल्कापात (तड़ित विद्युत) देखकर, विचार करने लगा कि यह उल्का

(बिजली) मानो मेरे मोह रूप शत्रु को नष्ट करने के लिए उसके ऊपर ही पड़ी है। उसने उसी समय यति वृषभ नामक मुनि के समीप जाकर एवं उनको साष्टांग नमस्कार कर उनके द्वारा कहे धर्मतत्व को विस्तार से रुचिपूर्वक सुनकर विचार करने लगा कि 'मैं अबतक मोह राजा के बन्धन में पड़ा हुआ था। इस उल्का ने ही मुझे जागृत किया है, सजग एवं सावधान किया है। अब मुझे अपने जीवन को इस क्षणभर में तड़क कर नष्ट हो जानेवाली उल्का की तरह क्षणिक समझ कर शीघ्र ही जिनदीक्षा लेकर अपना कल्याण कर लेना चाहिए।

यह सोचकर उसने अपना राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर बहुत से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। संयमी होकर उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर वह सर्वार्थसिद्धि के अन्तिम अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ के लौकिक सुखों में सर्वश्रेष्ठ सुखों का उपभोग कर आयु पूर्णकर इसी भरत क्षेत्र सम्बन्धी कुरुक्षेत्र के हस्तिनापुर राज्य में महाराजा सूरसेन पिता के घर में एवं महारानी श्रीकान्ता के उदर से कुन्थुनाथ के रूप में अवतरित हुआ।

कुन्थुनाथ के गर्भ एवं जन्म की सम्पूर्ण पूर्वोत्तर क्रियायें सभी तीर्थकरों के गर्भ एवं जन्म के समान इन्द्रों और देवों द्वारा हर्षोल्लास और महा-महोत्सवों के साथ हुईं। जैसे कि - जन्म से १५ माह पूर्व से कुबेर द्वारा रत्नों की वृष्टि, देवियों द्वारा माता की सेवा, सोलह स्वप्न आदि तथा तीर्थकर के जन्मोत्सव, जन्माभिषेक आदि सब सम्पूर्ण क्रियायें ठाट-बाट और उत्साह पूर्वक सम्पन्न हुईं।

श्री शान्तिनाथ तीर्थकर के मोक्ष जाने के बाद जब आधापल्य बीत गया, तब सातिशय पुण्य के धनी श्री कुन्थुनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु ९५ हजार वर्ष की थी। पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति थी। तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार काल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था। और इतना ही समय बीतने पर उन्हें अपनी जन्मतिथि के दिन ही चक्रवर्तित्व की लक्ष्मी मिली।

एक बार वे सेना के साथ क्रीड़ा करने उपवन में गये। क्रीड़ा के बाद जब वे वापिस लौट रहे थे कि मार्ग में उन्होंने किसी मुनि को आतप योग में स्थित देखा और देखते ही मंत्री को ऊँगली से इशारा किया कि देखो, देखो! मुनिराज को देखो! कैसे ध्यानस्थ हैं? मंत्री मुनिराज के दर्शन कर नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि - हे देव! इस तरह का कठिन तप करके ये क्या फल प्राप्त करेंगे?

कुन्थुनाथ हँसकर कहने लगे कि ये मुनि इसी भव में निर्वाण प्राप्त करेंगे। यदि कदाचित इसी भव में मुक्ति नहीं हो सकी तो इन्द्र या चक्रवर्ती पद प्राप्त करके क्रम से अल्पकाल में ही शाश्वत मोक्षस्थान प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह का त्याग नहीं करता, उसी का संसार में परिभ्रमण होता है। महाराजा कुन्थुनाथ ने जितने समय मण्डलेश्वर राजा बनकर शासन किया था, उतने ही काल चक्रवर्ती रहे। तत्पश्चात् वे संसार के सुख को असार क्षणिक जानकर संसार से विरक्त हो गये। सारस्वत आदि देवों ने आकर उनके वैराग्य का स्तवन किया एवं उन्होंने अपने पुत्र को राज्यपद सौंपकर वन को जाने की तैयारी की। देवों द्वारा दीक्षाकल्याणक महोत्सव मनाया गया। वे देवों द्वारा लाई गई विजया नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में गये। वहाँ वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन उन्होंने स्वयं दीक्षा धारण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

दूसरे दिन वे हस्तिनापुर में आहार को गये। धर्ममित्र राजा ने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किए। सोलह वर्ष बाद उसी वन में तिलक वृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया। देव आये, उन्होंने केवल ज्ञान कल्याणक महोत्सव के साथ पूजा की। उनके स्वयंभू आदि पैंतीस गणधर थे। सात सौ चौदह पूर्व के धारक ज्ञानी मुनिराज थे। तैतालीस हजार एक सौ पचास उपाध्याय थे। दो हजार पाँच सौ निर्मल अवधिज्ञान के धारक थे। तीन हजार दौ सौ केवलज्ञानी अर्हन्त परमात्मा थे। पाँच हजार एक सौ विक्रिया ऋद्धिधारी मुनिराज ने तीन हजार तीन सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे। इस तरह सब मिलकर साठ हजार मुनिराज उनके साथ थे। साठ हजार तीन सौ आर्यिकायें, तीन लाख श्राविकायें, दो लाख श्रावक, असंख्यात दैव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच थे।

श्रोता के मन में प्रश्न उठा – प्रभो! वैयावृत्त तप का क्या स्वरूप है ? इस तप के संबंध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं, कृपया स्पष्ट करें ?

दिव्यध्वनि में समाधान आया – हे भव्य ! वैयावृत्त तप के संबंध में विचारणीय बात यह है कि जब यह अंतरंग तप है तो इसका सीधा संबंध आत्मा के परिणामों से होना चाहिए; शारीरिक सेवा से नहीं। हाँ वेदना आदि के कारण जब साधु या श्रावक विचलित होता है, तब साधर्मी उसके परिणामों के स्थितिकरण के लिए शारीरिक अनुकूलता भी पद के अनुसार निर्दोष विधि से करते हैं। तप का वस्तुतः तो आत्मा के परिणामों से ही संबंध है। स्वस्थ अवस्था में शरीर की सेवा – मालिश और पग चप्पी करना/ कराना वैयावृत्त तप नहीं है। वैयावृत्त के बाह्य मूल स्वरूप में होता यह है कि जब-जब भी साधुओं को शारीरिक कष्ट हो, सेवा कराने का विकल्प मन में आये, औषधि प्राप्त करने का भाव मन में आये तो तुरन्त तत्त्वज्ञान के बल से वे उस उपसर्ग या परिषह को जीतें। सेवा कराने का मन में सदैव निषेध वर्ते तो उस इच्छा निरोध का भाव वैयावृत्त तप संज्ञा को प्राप्त होता है; अन्यथा तप तो है ही नहीं; पुण्य भी नहीं है।

हाँ, श्रावकजन साधुओं के प्राकृतिक/अप्राकृतिक परिषह उपसर्ग या रोगादिजनित पीड़ा को देखकर पद के योग्य परिचर्या करते हैं तो उन्हें पुण्यबंध होगा; क्योंकि वह साधु-समाधि भावना है, वैयावृत्य भावना है। तप में तो इच्छाओं का निरोध अनिवार्य है और तप साधु का मूल गुण है। उससे श्रावक का क्या संबंध ?

भगवान् दिव्यध्वनि के द्वारा सबको धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे। जब उनकी आयु एक मास की रही, तब वे सम्मेदशिखर पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया। अब वे कर्म कलंक से रहित निरंजन हो गये। देवों ने उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की। उनका वह परम पद अत्यन्त शुद्ध सुखदायक अविनाशी है। वे हम सब पाठकों के लिए प्रेरणा के स्रोत और मंगलमय बनें। यही शुभभावना है।

हे अरनाथ ! जिनेश्वर तुमने, छह खण्ड छोड़ वैराग्य लिया ।
चक्र-सुदर्शन त्यागा तुमने, धर्मचक्र शिर धार लिया ॥
सिद्धचक्र के साधनार्थ प्रभु ! सकल परिग्रह त्याग दिया ।
शुक्लध्यान की सीढ़ी चढ़, सुखमय अर्हत्पद प्राप्त किया ॥

तीर्थकर अरनाथ के कुछ पूर्वभवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि इस जम्बूद्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में तीर्थकर अरनाथ का ही जीव तीसरे पूर्वभव में धनपति राजा था। वह सर्वगुण सम्पन्न था।

एक दिन राजा धनपति अर्हतनन्दन तीर्थकर की दिव्यध्वनि सुनकर संसार की असारता का और आत्मा के अनन्त वैभव का स्वरूप पहचान कर विषय-भोगों से विरक्त हो गया। अपना राज्यभार पुत्र को देकर जन्म-मरण का नाश करनेवाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। मुनि धनपति ने श्रुत के ग्यारह अंग का पारगामी होकर सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया। फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागर की आयुवाला अहमिन्द्र हुआ। वे वहाँ से चयकर अरनाथ तीर्थकर होनेवाले थे, अतः उनके राग-द्वेष आदि अत्यन्त शान्त हो गये थे। जब वहाँ से चयकर तीर्थकर होने में केवल छह माह शेष बचे तो तीर्थकर के जन्मस्थान में भी जो-जो क्रियायें सभी तीर्थकरों के गर्भ एवं जन्म के समय होती हैं, वे सब क्रियायें भी प्रारंभ हो गईं। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुरुजांगल (वर्तमान कुरुक्षेत्र) के हस्तिनापुर नगर में सोमवंश में उत्पन्न राजा सुदर्शन के घर उनकी रानी मित्रसेना के गर्भ में बालक आने के छह माह पूर्व से जन्म तक (१५ माह) रत्नवृष्टि हुई, माता को १६ स्वप्न दिखाई दिए, देवियों द्वारा माता की सेवा, देव और इन्द्रों द्वारा समय-समय सातिशय पुण्य के फलस्वरूप सभी अतिशय तथा बाल तीर्थकर के जन्म पर

जन्मोत्सव के साथ उनका जन्माभिषेक का महोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया गया ।

श
ला
का
पु
रु
ष
उ
त्त
रा
र्द्ध

भगवान कुन्थुनाथ के बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चौथाई भाग बीत गया जब श्री बालक अरनाथ का जन्म हुआ था । तीर्थंकर भगवान अरनाथ की आयु चौरासी हजार वर्ष की थी । तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था, सुवर्ण के समान उनकी उत्तम कान्ति थी ।

उनके कुमार काल के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मण्डलेश्वर के योग्य सहज राज्यपद प्राप्त हुआ तथा इतने ही वर्ष बाद उन्हें चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ ।^१ इसप्रकार राज्य शासन करते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया तब एक दिन उन्हें शरदऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय हो जाना देखकर अपने जन्म को सार्थक करनेवाला वैराग्य हो गया ।

उसीसमय लौकान्तिक देवों ने उनके विचारों का अनुमोदन किया और वे अरविन्द कुमार नामक पुत्र को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई गई वैजयन्ती नामक पालकी पर सवार हो सहेतुक वन को चले गये । वहाँ बेला का नियम लेकर उन्होंने मगसिर शुक्ला दसवीं के दिन एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली । दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये ।

इसतरह मुनिराज अरनाथ के जब छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये तब वे दीक्षावन में कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन आम्रवृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर विराजमान हुए, उसीसमय घातियाकर्म नष्ट कर उन्होंने अर्हन्त पद प्राप्त किया । देवों ने मिलकर उनके केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया और पूजा की ।

उनके ३० गणधर थे, ६१० ग्यारह अंग और चौदह पूर्व (सम्पूर्ण श्रुतज्ञान) के धारी थे । पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस सूक्ष्मबुद्धि के धारक उपाध्याय थे । दो हजार आठ सौ अवधिज्ञानी तथा इतने ही केवली थे । चार हजार तीन सौ विक्रियाऋद्धिधारी, दो हजार पचपन मनःपर्यय ज्ञानी तथा एक हजार छह सौ श्रेष्ठ वादी थे । इसतरह सब मिलाकर पचास हजार तीस मुनि उनके समवशरण में थे । साठ हजार आर्यिकायें,

१. चक्रवर्तित्व की विशेषताएँ बारह चक्रवर्ती के प्रकरण में आगे दी गई हैं ।

एक लाख साठ हजार श्रावक तथा तीन लाख श्राविकार्ये थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यच भी थे।

इसप्रकार इन बारह सभाओं से घिरे हुए तीर्थकर भगवान अरनाथ ने धर्मोपदेश देने के लिए अपने समवशरण के साथ अनेक देशों में विहार किया। विहारकाल में भव्य श्रोता के मन में प्रश्न उठे, उनके समाधान दिव्यध्वनि में आये, जो इसप्रकार थे।

- प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है।
- सब आत्माएँ समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं।
- प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है। सुख कहीं बाहर से नहीं आना है।
- आत्मा ही नहीं, प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणामनशील है। उनके परिणामन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है।
- सब जीव अपनी भूल से ही दुःखी हैं और स्वयं अपनी भूल सुधारकर सुखी हो सकते हैं। अपने को नहीं पहचाना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।
- भगवान कोई अलग नहीं होते। सही दिशा में पुरुषार्थ करने से प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है।
- स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो और स्वयं में समा जावो; भगवान बन जावोगे।
- भगवान जगत का कर्ता-हर्ता नहीं, वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है।
- जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है।

जब उनकी आयु एक माह की बाकी रही तब उन्होंने सम्मेदाचल की शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन मोक्ष प्राप्त किया, उसीसमय इन्द्रों के निर्वाणकल्याणक महोत्सव के साथ निर्वाण कल्याणक की पूजा की तदुपरान्त सब इन्द्र यथास्थान चले गये।

हे मल्लिनाथ ! तुम परमपुरुष हो, मंगलमय हो प्रभुवर आप ।
भक्तिभावना से हे भगवन ! भक्तजनों के कटते पाप ॥
प्रभो! आपका भक्त कभी भी, अधोगति नहीं जाता है ।
निजस्वभाव को पाकर प्रभुवर, शीघ्र मुक्तिपद पाता है ॥

तीर्थकर भगवान मल्लिनाथ के पूर्वभवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में उनके तीसरे पूर्वभव के संबंध में कहते हैं कि वे वीतशोका नगरी के एक न्यायवन्त, प्रजापालक वैश्रवण नाम के महाराजा थे । महाराजा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसका खजाना जनहित के कार्यों के लिए सदैव खुला रहता था । उसकी सेना प्रजा की सुरक्षा के लिए ही पूर्ण रूप से समर्पित थी । वह प्रजा के पोषण में ही अपनी शक्तियों और वैभव का उपयोग करता था । इसकारण प्रजा भी महाराजा के प्रति सदैव समर्पित भाव से सेवा में तत्पर रहती थी ।

आज के परिप्रेक्ष्य में यदि हमारे वर्तमान जन प्रतिनिधि उन राजा-महाराजाओं के लोकोपकारी कार्यों का शतांश भी अनुकरण करें तो इन्हें भी चुनाव के समय पर जनता के सामने जनमत संग्रह करने के लिए भिखारियों की भांति जनमतों की भीख नहीं माँगनी पड़े, सच्चे-झूठे वायदे नहीं करना पड़ें ।

ग्रन्थकारों द्वारा ऐसे उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण करने का प्रयोजन भी यही सीख देना होता है । यद्यपि बहुत से साहित्यिक कथानकों और सुपात्रों के आदर्श चरित्र-चित्रण कवियों और लेखकों की मानसिकता की उपज भी होते हैं; परन्तु इन पुराणों में तो तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र जैसे पुराण पुरुषों का यथार्थ चित्रण है; अतः इन्हें यथार्थ मानकर ही इनका श्रद्धान और अनुकरण करते हुए कथानक में रोचकता

लाने का प्रयत्न करते हैं, कुनेन को बताशा में रखकर खिलाने की कोशिश करते हैं, अन्यथा प्रथमानुयोग का प्रयोजन पूरा नहीं होता। बहुत से कथानक मिलते-जुलते एक जैसे होने से काल्पनिक से लगते हैं; परन्तु वस्तुतः बात यह है कि जिनका भविष्य लगभग एक जैसा है, उनके पूर्वभव की पर्यायों में भी अधिक भिन्नता नहीं हो सकती; क्योंकि वे सभी महान आत्मायें एक जैसे लोकोपकार के कल्याणकारी कार्य और अहिंसक आचरण करते हैं तो उनके एक जैसा ही पुण्यार्जन होता है, इसकारण एक जैसे अहमिन्द्र आदि के सुखद संयोगों के साथ क्रमशः आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँचकर तीर्थकर होने का सातिशय पुण्य बांधते हैं, परिणामस्वरूप एक जैसे यशस्वी और सुखद संयोग मिलते हैं, जो स्वाभाविक ही हैं; अतः यदि आपको उनके जीवन-चरित्रों में पुनरावृत्ति जैसा लगे तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। यह सब संभव है।

पुराणों में २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण आदि के व्यक्तित्व, विचार एवं घटनायें लगभग एक जैसी हो गईं। इसकारण पुराणों में कथानक भी एक जैसे मिलते हैं। यहाँ पुनरावृत्ति से बचने के लिए नहीं चाहते हुए भी कहीं-कहीं संक्षिप्त सांकेतिक भाषा में कहकर आगे बढ़ना पड़ा है, इससे पाठक किसी भी शलाका पुरुष के व्यक्तित्व का मूल्यांकन कम नहीं समझें और उनके महान आदर्श चरित्रों से अपने जीवन को परिमार्जित करके उन जैसा बनाने का पुनः-पुनः संकल्प दुहराते रहें। संभवतः आचार्यों ने सभी घटनाओं की पुनरावृत्ति इसी दृष्टिकोण से की हो; परन्तु वर्तमान वातावरण को देखते हुए संक्षिप्त और सरलता अति आवश्यक है - ऐसा पाठक स्वयं अनुभव करते हैं।

यदि पाठक इन्हें पढ़कर भी शलाका पुरुषों के आदर्शों का अनुकरण कर पाये तो वह दिन बहुत दूर नहीं होगा, जब हम भी उन शलाका पुरुषों की श्रेणी में कहीं खड़े होंगे। अतः न केवल श्रेष्ठ, बल्कि ऐसे-ऐसे त्रेसठ शलाका महापुरुषों के जीवन चरित्र को बारम्बार पढ़ना पढ़े तो भी पीछे नहीं हटें; बल्कि उत्साह से स्वयं पढ़ें और दूसरों को पढ़ने के लिए भी प्रेरित करें।

हाँ, तो हम महाराजा वैश्रवण की चर्चा कर रहे थे कि राजा और प्रजा - दोनों ही अपने-अपने कर्तव्य

और दायित्वों के प्रति पूर्ण सजग एवं सावधान थे। एक दिन महाराजा वर्षा के मौसम में वन के सौन्दर्य का आनन्द लेने के लिए वन में गए, वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल वृक्ष अपनी बड़ी-बड़ी शाखाओं से वन के पशु-पक्षियों का आश्रयदाता बना हुआ वर्षों से वन की शोभा बढ़ा रहा था। महाराजा उसकी छाया और पशु-पक्षियों के पड़ाव को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। राजा वनविहार करते हुए जब उसी मार्ग से वापिस लौटे तो वहाँ उस विशाल वटवृक्ष को पृथ्वी पर ध्वस्त पड़ा देखकर आश्चर्यचकित हो गए।

पास में आकर देखने पर ज्ञात हुआ कि वह वृक्ष, उल्कापात होने से ध्वस्त हो गया है। जलकर खाक हो गया है। बस, वर्षों से खड़े बृहत् वट वृक्ष की क्षणभर में हुई विध्वंस की घटना को देखकर राजा वैश्रवण को अपनी पर्याय की क्षणभंगुरता का आभास होने से वैराग्य हो गया। उन्हें विचार आया कि “जब इस बद्धमूल विस्तृत और सुदृढ़ वटवृक्ष की ऐसी दशा हो गई, तब कमजोरों का तो कहना ही क्या ? सचमुच सारा संसार अनित्य है, अशरण है। इस संसार में कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है।” ऐसा विचार कर वैश्रवण महाराजा ने अपने पुत्र को राज्यसत्ता सौंपकर श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जिनदीक्षा धारण कर ली।

दो दिन के उपवास के पश्चात् उन तीर्थकर मुनिराज को मिथिलापुरी में नंदिषेणराजा ने नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान देकर पारणा कराया। तीर्थकर मुनिराज जैसे सर्वोत्तम सुपात्र को आहारदान का प्रसंग होने से देवों ने भी आनन्दित होकर जय-जयकार करते हुए आकाश से पुष्पों तथा रत्नों की वर्षा की। मोक्षगामी मुनि के कर-भाजन में आहार देनेवाले वे महात्मा स्वयं भी मोक्ष के भाजन बन गये; क्योंकि ऐसा नियम है कि तीर्थकर को मुनिदशा में प्रथम पारणा करानेवाला जीव उसी भव में अथवा तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

प्रभु मल्लिनाथ की आत्मसाधना आश्चर्यजनक थी। मोह राजा के सेनापति ऐसे दुष्ट कामरूपी महाशत्रु को तो उन्होंने पहले ही घात कर दिया था, इसलिए शेष मोह को जीतने में उन्हें अधिक देर नहीं लगी। मुनिदशा में छद्मस्वरूप से वे मात्र छह दिन ही रहे शुद्धात्मा के ध्यान की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित करके उसमें

घातिकर्मों के ईंधन को इतनी शीघ्रता से दहन कर दिया कि छह दिन में ही केवलज्ञान प्रकट करके परमात्मा बन गये। सर्व तीर्थकरों में छद्मस्थरूप से रहने का न्यूनतम काल मल्लिनाथ मुनिराज का था। मुनि होने के पश्चात् भगवान आदिनाथ ने छद्मस्थादशा में एक हजार वर्ष तक केवलज्ञान प्राप्ति हेतु तपस्या की थी, जबकि भगवान मल्लिनाथ ने मात्र छह दिन तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने मिथिलापुरी के जिस श्वेत वन में दीक्षा ली थी, उसी वन में केवलज्ञान हुआ। इसप्रकार मिथिलापुरी मल्लिनाथ प्रभु के चार कल्याणकों से पावन हुई। मात्र सौ वर्ष में मिथिलापुरी की प्रजा ने तीर्थकर प्रभु के चार कल्याणक अपने गृह-आंगन में प्रत्यक्ष देखे।

पौष कृष्णा द्वितीय को उन्नीसवें तीर्थकर मल्लिनाथ मुनिराज को केवलज्ञान होते ही इन्द्रलोक में पुनः आनन्द की लहर दौड़ गई। देवगण भक्तिपूर्वक तुरन्त पृथ्वी पर उतर आये। क्षणभर में समवशरण की भव्य रचना की और सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा करके केवलज्ञान का महोत्सव मनाया। उस समवशरण की अद्भुत शोभा का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता, प्रत्यक्ष देखने से ही उसकी दिव्यता ज्ञात होती है। अहा! जिसके बीचों-बीच परमात्मा स्वयं विराजते हों, उस स्थान की शोभा जगत में सर्वोत्कृष्ट हो उसमें आश्चर्य ही क्या? अरे, एक छोटे-से साधक के हृदय में जहाँ परमात्मा विराजते हों, उसकी शोभा भी क्या तीन लोक के वैभव से श्रेष्ठ नहीं हो जाती? उस समवशरण में मात्र एक (तीर्थकर) परमात्मा ही नहीं; अपितु दूसरे दो हजार दो सौ सर्वज्ञ परमात्मा भी एक साथ विराजते थे।

प्रभु मल्लिनाथ के समवसरण में दो हजार दो सौ केवली परमात्मा गगन में विराजते थे, तदुपरान्त विशाखसेन आदि अट्ठाईस गणधर थे; चवालीस हजार मुनिवर एवं बंधुषेणा आदि पचपन हजार आर्यिकायें थीं; एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें आत्मचिन्तन करती थीं। तिर्यचों की संख्या का तो कोई पार नहीं था। सब जिनभक्ति में तत्पर थे और वीतराग के वचनामृत द्वारा शांतरस का पान करते थे।

सर्वज्ञ परमात्मा मल्लिनाथ के केवलज्ञान की पूजा करके इन्द्र ने स्तुति की। प्रभो! आपका केवलज्ञान

तीनों लोक के लिए मंगलस्वरूप है। इसप्रकार स्तुति द्वारा इन्द्र ने प्रभु के केवलज्ञान-कल्याणक का मंगल महोत्सव किया।

अपने राजकुमार को मात्र छह दिन में ही परमात्मा के रूप में देखकर मिथिलापुर के प्रजाजनों को अपूर्व आनन्द हो रहा था। इन उन्नीसवें तीर्थकर के चार कल्याणक अपनी नगरी में मनाये गये और अभी इक्कीसवें तीर्थकर के भी चार कल्याणक अपनी नगरी में मनाये जायेंगे। प्रभु मल्लिनाथ को केवलज्ञान होने की बात सुनते ही पिताश्री कुंभ महाराजा और माता श्री प्रजावती आश्चर्य मुग्ध होकर तत्काल समवशरण में आ पहुँचे और अपने पुत्र को परमात्मा के रूप में देखकर कल्पनातीत हर्षानन्द को प्राप्त हुए।

क्षणभर शुद्धोपयोगी होकर विशुद्ध परिणाम की वृद्धि द्वारा चारित्रदशा ग्रहण करके उन्होंने अपना आत्मकल्याण किया। पिता कुम्भराजा तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए और माता प्रजावती एकावतारी होकर स्वर्ग सिधारी।

प्रभु श्री मल्लिनाथ देव ने ५४ हजार नौ सौ वर्ष तक वीतराग मार्ग का उपदेश देकर भव्यजीवों का कल्याण किया। अंत में जब एक मास आयु शेष रही, तब प्रभु सम्पेदशिखर पर आकर स्थिर हुए और काय-वचन-मन का निरोध करके सिद्धपद में जाने की तैयारी की। फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन क्षणभर में चौदहवें गुणस्थान को पार करके, दूसरे ही क्षण वे प्रभुजी संसार से सर्वथा मुक्त होकर संबल कूट से समश्रेणी में सिद्धालय में विराजमान हो गये। देवों ने पंचम कल्याणक का महोत्सव किया; मोक्ष के बाजे बजाये और प्रभु की पूजा की।

पहले जो विदेहक्षेत्र में वैश्रवण राजा थे; वहाँ रत्नत्रयधर्म की महापूजा तथा उपासना करके जिन्होंने तीर्थकर प्रकृति का बंध किया, पश्चात् जो अपराजित विमान में अहमिन्द्र हुए और अन्त में कुम्भराजा के पुत्र रूप में अवतरित होकर, विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करके, केवलज्ञान प्रकट कर भरतक्षेत्र के १९ वें तीर्थकर हुए। वे १९वें तीर्थकर मल्लिनाथ भगवान हमारे मंगलमय में निमित्त बनें। ●

मिथ्यादर्शन-क्रोध-मान को, दुःखद बताया हे जिननाथ !
माया-लोभ कषाय पाप का, बाप बताया सुव्रतनाथ ॥
शरण आपकी पाने से, भविजन होते भव सागर पार ।
हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपको, वन्दन करते सौ-सौ वार ॥

भगवान मुनिसुव्रतनाथ दो भव पूर्व भरतक्षेत्र की चम्पापुरी नगरी के हरिवर्मा राजा थे। वे हरिवर्मा जिसप्रकार बाह्य शत्रुओं को जीतने में वीर थे, उसीप्रकार अन्तर के मोह शत्रु पर विजय प्राप्त करने में भी शूरवीर थे। राजवैभव में रहकर भी राग को चेतना में प्रविष्ट नहीं होने देते थे। इसलिए उनकी चेतना मोक्ष को साधने में समर्थ थी।

एक बार उद्यान के माली ने उन्हें यह शुभ समाचार दिया कि “अपने उद्यान में मुनिराज अनन्तवीर्य पधारे हैं। यह सुनते ही उन्हें भारी हर्ष हुआ। वे मुनिराज श्रुतकेवली थे। मुनिराज के चरणों में उनकी चेतना ऐसी उल्लसित हुई कि तत्क्षण दर्शनमोह का क्षय करके उन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तथा मुनिराज का तत्त्वोपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गये और तुरन्त मुनिदीक्षा ले ली। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। तत्पश्चात् सल्लेखना पूर्वक शरीर का त्यागकर वे चौदहवें स्वर्ग में इन्द्र हुए।

असंख्यात वर्षों तक उस स्वर्गलोक के दिव्य वैभव में आत्मज्ञान सहित रहे। आयु पूर्ण होने पर मनुष्य लोक में अन्य तीर्थकरों की भांति ही तीर्थकर के रूप से अवतरित होने की पूर्वापर की सम्पूर्ण प्रक्रिया जैसी होती रही है, तदनुसार सम्पन्न हुई।

मनुष्यलोक में उससमय भरतक्षेत्र के राजगृही नगर में हरिवंशोत्पन्न राजा सुमित्र राज्य करते थे। उनकी

महारानी का नाम सोमादेवी था। सोमादेवी महारानी मातृत्व सुख से दीर्घकाल तक वंचित रहने से दुःखी थीं। महाराज सुमित्र ने समझाया - हे देवी! तुम धैर्य धारण करो। 'जो कार्य मात्र भाग्य के आधीन है, होनहार पर निर्भर है, उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।' पति के समझाने पर होनहार का विचार कर सोमादेवी शान्त हुई, धैर्य धारण कर अपने उपयोग को धार्मिक कार्यों में बिताने लगी, स्वाध्याय करके अपनी तत्त्वश्रद्धा को सुदृढ़ करके प्रसन्न रहने का प्रयास करने लगी।

इतने में एक आश्चर्यजनक घटना हुई, जो इसप्रकार थी - महाराज सुमित्र तथा सोमादेवी राजमहल में बैठे-बैठे पुत्र प्राप्ति संबंधी वार्ता कर रहे थे कि अचानक आकाश से रत्नों की वर्षा होने लगी। 'यह क्या हुआ' ऐसे आश्चर्य से जब उन्होंने आकाश की ओर देखा तो आकाश से उतरकर देवियों ने उन्हें वन्दन कर कहा - "हे माता! हम दिक्कुमारी देवियाँ हैं। छह माह बाद स्वर्ग से बीसवें तीर्थकर का जीव आपकी कूँख में अवतरित होनेवाला है; इसलिए हम इन्द्र की आज्ञा से आपकी सेवा में आये हैं और यह रत्नवृष्टि उन्हीं के स्वागत में हो रही है।

देवियों से यह बात सुनकर राजा-रानी हर्षित हुए। छह माह बाद सोमादेवी ने सोलह स्वप्न देखे और उसीसमय तीर्थकर होनेवाला जीव उनकी कुक्षि में अवतरित हुआ। इन्द्रों ने गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। सवा नौ माह पश्चात वैशाख कृष्णा दशमी के दिन सोमामाता ने जगत में श्रेष्ठ पुत्ररत्न को जन्म दिया। तीनों लोकों में आनन्द हो गया। इन्द्रों ने राजगृही में आकर उनका जन्मोत्सव किया। इन्द्र ने बाल तीर्थकर का नाम मुनिसुव्रतनाथ रखा। ये मल्लिनाथ से ५४ लाख वर्ष बाद हुए। इनकी आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर का रंग मोर कंठ के समान नीला था।

युवा होने पर अनेक उत्तमोत्तम कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। उनके लिए स्वर्गलोक से इन्द्र वस्त्राभूषण आदि भेजते थे। साढ़े सात हजार वर्ष की आयु में उनका राजगृही के सिंहासन पर राज्याभिषेक हुआ, उन्होंने पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य किया।

उनकी आयु के जब साढ़े पच्चीस हजार वर्ष बीत गये तब वैशाख कृष्ण दशमीं, उनके जन्मदिवस के दिन ही उन्हें वन में स्वतंत्र विचरनेवाले हाथी को बंधन में देखकर वैराग्य हो गया। उन्होंने सोचा हाथी जैसे

प्राणी को मुक्ति अच्छी लगती है, बन्धन अच्छा नहीं लगता और हम राजकाज के राग के बन्धन में बद्ध हैं, धिक्कार है ऐसे पराधीन जीवन को। ऐसे विचार से मुनिसुव्रतनाथ को वैराग्य तो हुआ ही, उन्हें जातिस्मरण ज्ञान भी हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्वभवों का ज्ञान होते ही वैराग्य रस और अधिक बढ़ गया। वे जिन दीक्षा लेने को तैयार हो गये।

तीर्थकर प्रभु की दीक्षा का मंगलमय अवसर जानकर पंचम स्वर्ग से लौकान्तिक देव राजगृही के राजभवन में आये और प्रभु के वैराग्य की प्रशंसा एवं अनुमोदना की। अचानक हुए इस परिवर्तन से राजगृही में सर्वत्र वैराग्य का वातावरण हो गया। इन्द्रासन डोल उठा। देवगण अपराजित शिविका लेकर दीक्षा कल्याणक मनाने हेतु पहुँचे। मुनिसुव्रत ने राजगृही में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। उनको प्रथम आहार दान देकर राजगृही के राजा वृषभसेन धन्य हुए।

मुनिसुव्रतनाथ एक वर्ष तक मुनिदशा में रहे। वैशाख कृष्णा नवमी के दिन पुनः राजगृही पधारे और वहाँ दीक्षावन में अपने चैतन्य स्वरूप में उपयोग को एकाग्र करके परमानन्द में मग्न हो गये; क्षणभर में क्षपकश्रेणी द्वारा मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। अरहन्त परमात्मा बने और समवशरण में बारह सभाओं के बीच दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय तीर्थ का उपदेश देकर तीर्थकर हुए। प्रभु के उपदेश से अनेक भव्यजीव मोक्षपथ के पथिक बने। इन्द्र भी प्रभु की पूजा करने तथा दिव्यध्वनि का श्रवण करने राजगृही में उतरे। मल्लिदेव आदि अठारह गणधर तथा उनसे सौ गुने अर्थात् १८०० केवली भगवन्त विराजते थे। अनेक ऋद्धिधारी मुनिवरों सहित कुल ३०,००० मुनिराज तथा ५०,००० आर्यिकायें थीं। आत्मज्ञान सहित एक लाख अणुव्रतधारी श्रावक और तीन लाख श्राविकायें धर्माराधना करती थीं। देवों और तिर्यचों का तो कोई पार ही नहीं था।

प्रभु ने साढ़े सात हजार वर्ष तक तीर्थकररूप से विचरण करके भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को धर्माभूत का पान कराया और भवदुःख से छुड़ाया। जब प्रभु की आयु एक मास शेष रही, तब वे सम्मेदशिखर सिद्धधाम की 'निर्जरकूट' पर आकर स्थिर हुए। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन प्रभु ने मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों ने उस मोक्ष प्राप्त सिद्धप्रभु की पूजा करके मोक्ष का महोत्सव मनाया।

हे नमि! तेरी अर्चन-पूजन, पापों से हमें बचाती है।
समयसार की सात्त्विक चर्चा, शिव सन्मार्ग दिखाती है॥
जिनवर! तेरी दिव्यध्वनि मम, मोह तिमिर हर लेती है।
भवभ्रमण का अन्त करा कर, मोक्ष सुलभ कर देती है॥

भगवान नमिनाथ के पूर्वभवों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वे पूर्वभव में भी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी के ही राजा थे। इनकी पूर्व पीढ़ी में यहाँ राजा पार्थिव राज्य करते थे, उनके सिद्धार्थ नाम का पुत्र महाप्रतापी एवं भावी तीर्थंकर (नमिनाथ) का ही जीव था।

एकबार अवधिज्ञानी मुनिराज उस कौशाम्बी नगरी में पधारे। महाराजा पार्थिव तथा राजकुमार सिद्धार्थ उन मुनिराज के दर्शन करने गये और धर्मोपदेश श्रवण किया। श्री मुनिराज ने वैराग्य उत्पादक उपदेश देते हुए कहा कि - “यह जीव स्वभाव से स्वयं सुख का निधान है, परिपूर्ण आनन्दघन आत्मा है, चैतन्यसम्राट है; तथापि निजनिधि को भूलकर, रत्नत्रयरूपी वैभव से रहित, विषयों का भिखारी होकर चारों गति में सुख की भीख माँगता हुआ भटक रहा है; परन्तु बाह्य में उसे कहीं सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि यह जाने और सुख के सागर भगवान आत्मा को अन्तर्मुख दृष्टि से देखे तो स्वाधीन सुख का अनुभव हो। राजन्! तुम चरमशरीरी हो और तुम्हारा यह पुत्र सिद्धार्थ भी तीसरे भव में तीर्थंकर होकर सिद्धपद प्राप्त करेगा। इस संसार का मोह छोड़कर अपने को रत्नत्रयधर्म की आराधना में लगाओ और हे सिद्धार्थकुमार! इस संसार में तुम्हारे दो ही भव शेष हैं; तुम भी आत्मा के चैतन्यनिधान को पहिचान कर सम्यग्दर्शन प्रगट करो।”

मुनिराज के श्रीमुख से ऐसी उत्तम बात सुनकर सबके हर्ष का पार नहीं रहा, तुरन्त ही सिद्धार्थकुमार के अन्तर में चेतना उल्लसित हुई, आनन्द से रोमांचित होकर उन्होंने सम्यग्दर्शन प्रकट किया और साथ ही श्रावक के अणुव्रत ग्रहण कर लिये। महाराजा पार्थिव का चित्त भी संसार से विरक्त हो गया था; उन्होंने पुत्र सिद्धार्थकुमार को कौशाम्बी का राज्य सौंपकर जिनदीक्षा अंगीकार कर ली और रत्नत्रय की उत्कृष्ट आराधना द्वारा केवलज्ञान प्रकट करके मोक्षपद प्राप्त किया।

कुछ ही वर्ष बाद राजा सिद्धार्थ का चित्त भी संसार से उदास हो गया, उसीसमय कौशाम्बी नगरी में महाबल नामक केवली भगवान का आगमन हुआ। उनके चरणों में नमस्कार करके सिद्धार्थ राजा ने दीक्षा धारण की। उन्हीं प्रभु के चरणों में रहकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। वे एकावतारी महात्मा चारित्र द्वारा शोभायमान हो उठे और उत्तम आराधनासहित समाधिमरण करके अपराजित विमान में अहमिन्द्र हुए।

भरतक्षेत्र के भावी तीर्थकर नमिनाथ जब अपराजित स्वर्ग में विराज रहे थे, तब विदेहक्षेत्र के 'अपराजित' नामक भावी तीर्थकर भी उसी स्वर्ग में विराजते थे। असंख्यात वर्षों तक वे दोनों भावी तीर्थकर अपराजित नामक स्वर्ग में साथ रहे, आत्मसाधना संबंधी तत्त्वचर्चा की, घोंट-घोंटकर स्वानुभवरस का पान किया। तैंतीस सागर पश्चात् उन दोनों में से एक अहमिन्द्र तो विदेहक्षेत्र की सुसीमानगरी में अपराजित तीर्थकर रूप में अवतरित हुए और कुछ वर्ष पश्चात् दूसरे अहमिन्द्र ने इस भरतक्षेत्र में नमिनाथ तीर्थकर के रूप में अवतार लिया था।

उस अपराजित विमान में नमिनाथ के पूर्व भव के जीव अहमिन्द्र की आयु जब छह माह शेष रही तब मिथिलापुरी के राजभवन के प्रांगण में दिव्यरत्नों की वर्षा होने लगी। उससमय बंगदेश की मिथिलानगरी में ऋषभदेव के वंशज श्री विजय महाराजा राज्य करते थे। उनकी महारानी वप्पिलादेवी ने आश्विन कृष्णा द्वितीया की रात्रि में सोलह मंगलस्वप्न देखे और उसीसमय अपराजित विमान से भगवान नमिनाथ का जीव

उनकी पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। गर्भस्थ पुत्र अवधिज्ञानी था और पिता विजयराजा भी अवधिज्ञानी थे। उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा कि “हे देवी! तुम्हारी कुक्षि में आज रात्रि में तीर्थकर का जीव आया है; अतः तुम जगतपूज्य तीर्थकर की माता बन गई हो।” यह जानकर महादेवी के हर्ष की सीमा नहीं रही। ठीक उसीसमय स्वर्ग के देवविमानों में से देव और इन्द्र जय-जयकार करते हुए मिथिलापुरी में उतरने लगे। क्षायिक सम्यक्त्व तथा तीर्थकर प्रकृति सहित वे महात्मा अभी तो माता के गर्भ में आये ही हैं कि स्वर्ग के इन्द्र तथा देव उनके माता-पिता का सम्मान करते हुए मिथिलापुरी में आ पहुँचे और तीर्थकर के गर्भावतरण के उपलक्ष्य में गर्भकल्याणक का भव्य महोत्सव किया।

स्वर्गलोक की देवियाँ आनन्दपूर्वक माता की तथा गर्भस्थ पुत्र की सेवा करती थीं। गर्भवास के सवा नौ महीने बीतने पर अषाढ़ कृष्णा दशमी के शुभ दिन वप्पिला देवी ने जगतपूज्य पुत्र को जन्म दिया। उस मंगल आत्मा के प्रभाव से जगत में सर्वत्र आनन्द छा गया। स्वर्गलोक के मंगलवाद्य अपने आप बजने लगे, इन्द्र का आसन डोल उठा; सौधर्म इन्द्र एवं शची इन्द्राणी देवों की सेना के दिव्य ठाठ-बाट सहित बाल-तीर्थकर का जन्माभिषेक करने मिथिलापुरी आ पहुँचे। उन बाल-तीर्थकर को अपनी गोद में लेते हुए इन्द्राणी को जो परम हर्ष हुआ। वो शब्दों से नहीं कहा जा सकता; सम्यक्त्व से होनेवाले आनन्द का वेदन क्या वचनों से कहा जा सकता है? इन्द्राणी ने उन बालप्रभु को जब इन्द्र के हाथ में दिया तब इन्द्र भी आश्चर्यमुग्ध होकर हजार नेत्र बनाकर प्रभु का रूप देखता रह गया। भक्ति के जोर से वह नाच उठा। वह एक साथ हजार हाथों को उछालता और उसके हाथों की प्रत्येक अंगुली पर अप्सरा, देवियाँ उसी जैसी चेष्टा कर-करके नृत्य करती थीं। मेरु पर जन्माभिषेक करके इन्द्र ने उन बालप्रभु की स्तुति की और नाम रखा - नमिकुमार।

मुनिसुव्रत तीर्थकर के तीर्थ से छह लाख वर्ष बीतने पर तीर्थकर नमिनाथ का अवतार हुआ था। उनकी आयु नब्बे हजार वर्ष और शरीर की ऊँचाई पन्द्रह हजार धनुष थी। उनके चरण में कमल का चिह्न था।

बाल-तीर्थकर नमिकुमार माता-पिता को हर्षित करते हुए दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे थे।

प्रभु नमिकुमार जब ढाई हजार वर्ष के हुए तब विजयराजा ने उनका राज्याभिषेक करके मिथिलापुरी का राज्य सौंप दिया।

महाराजा नमि ने पाँच हजार वर्ष तक मिथिलापुरी का राजसिंहासन सुशोभित किया। उनके राज्य में प्रजाजन सर्वप्रकार से सुख और धर्मसाधन में तत्पर थे। एक बार वर्षा ऋतु में धरती पर चारों ओर हरियाली छाई हुई थी, मानों रत्नत्रय के उद्यान खिल रहे हों। महाराज नमिकुमार प्रकृति की उस अद्भुत शोभा का अवलोकन करने हेतु हाथी पर बैठकर वन-विहार के लिए गये। वन के आल्हादक वातावरण में प्रभु के आत्मज्ञान की ऊर्मियाँ जागृत होने लगीं।

विदेहक्षेत्र से आये देवों द्वारा वहाँ के अपराजित तीर्थकर की बात सुनकर नमिकुमार को जातिस्मरण हो गया। उन्हें अपने पूर्व भव में साथ रहे और विदेह क्षेत्र में तीर्थकर अपराजित का पूर्व ज्ञान हो गया। वे विचारने लगे कि “उन प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और मैं अभी राजभोग में पड़ा हूँ। अब मुझे इसप्रकार समय गंवाना उचित नहीं है। मैं आज ही मुनि व्रत धारण कर केवलज्ञान की साधना करूँगा।” इसप्रकार दीक्षा का निश्चय करके नमि महाराजा बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

“जीव स्वयं ही मोह द्वारा स्वयं को बन्धन में बांधकर संसाररूपी कारागृह में पड़ा है। जिसप्रकार पिंजरे में बन्द पक्षी दुःखी होता है अथवा खम्भे से बंधा हुआ गजराज दुःखी होता है, उसीप्रकार मोही जीव भवबन्धन में निरन्तर दुःखी एवं व्याकुल होता है। यद्यपि यह प्राणी मृत्यु एवं दुःख से भयभीत होने पर भी उसके कारणों की ओर दौड़ता है; उनसे छूटने का प्रयत्न नहीं करता। तीव्र विषयतृष्णा से आर्त-रौद्रध्यान कर-करके वह महान दुःखी होता है, चार गति के परिभ्रमण में उसे कहीं विश्राम नहीं है। रत्नत्रयधर्म का सेवन ही इस भवदुःख से छुड़ाकर मोक्षसुख देनेवाला है। इसप्रकार भव-तन-भोग से विरक्त होकर निज ज्ञायकतत्त्व में ही अपने चित्त को अनुरक्त करनेवाले नमि महाराजा दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

उसीसमय देवों में वैरागी और ब्रह्मचारी लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से मिथिलापुरी में आये और वैरागी महाराजा को नमस्कार करके स्तुति करने लगे - “हे देव! आपके विचार उत्तम हैं, आपकी वैराग्य भावना का अनुमोदन करने ही हम आये हैं।” इन्द्रादि देव भी पालकी लेकर दीक्षाकल्याणक मनाने आ पहुँचे। आषाढ़ कृष्णा दशमी को नमि महाराजा सिद्ध भगवन्तों को नमन करके स्वयं ही दीक्षित हुए। भगवान के साथ अन्य एक हजार राजाओं ने भी जिनदीक्षा अंगीकार की। उसीसमय आत्मध्यान में एकाग्र होने पर नमि मुनिराज को मनःपर्ययज्ञान प्रकट हुआ। मुनिराज नमिनाथ को प्रथम पारणा वीरपुरी में दत्तराजा ने कराया।

मुनिदशा में नौ वर्ष तक विचरने के पश्चात् श्री नमि मुनिराज मिथिलापुरी में पधारे। वहाँ अपने दीक्षावन में ही मगसिर शुक्ला एकादशी के दिन उन्हें केवलज्ञान प्रकट हुआ। इन्द्रादि देवों ने आकर समवशरण में प्रभु के केवलज्ञान का महोत्सव मनाया। देव, मनुष्य और तिर्यच प्रभु की धर्मसभा में दिव्यध्वनि का लाभ लेने बैठे। प्रभु ने दिव्यध्वनि में शुद्धात्मतत्त्व की अनन्त महिमा बतलायी तथा दिव्यध्वनि में आया - “हे जीवों! आत्मा का शुद्धतारूप परिणमन ही मोक्ष है, वह महान आनन्दरूप है। वह आत्मा से भिन्न नहीं है और किसी वस्तु का उसमें अवलम्बन नहीं है। मोक्ष का उपाय भी आत्मा के शुद्धपरिणमनरूप ही है; उसमें भी किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है।”

ऐसे स्वावलम्बी मोक्षमार्ग को जानकर अनेक जीवों ने आत्मा के आश्रय से शुद्धपरिणमन किया और मोक्ष की साधना की।

इक्कीसवें तीर्थकर प्रभु की धर्मसभा में सुप्रभदेव आदि सत्रह गणधरों सहित कुल २० हजार मुनिवर विराजते थे। ४५ हजार आर्यिकायें थीं। १ लाख धर्मात्मा श्रावक तथा ३ लाख श्राविकायें थीं। १ हजार ६०० तो सर्वज्ञ-केवली भगवन्त विराज रहे थे। वे ढाई हजार वर्ष तक इस भरतक्षेत्र में विचरे और वीतरागी धर्मोपदेश द्वारा लाखों जीवों का कल्याण किया।

इसप्रकार धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते-करते प्रभु नमिनाथ की आयु जब मात्र एक मास शेष रही, तब

वे सम्मेदशिखर पधारे और अनुक्रम से योगनिरोध करके, वैशाख कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में सर्वथा निष्कर्म होकर, सिद्धपुरी में जाकर विराजमान हो गये। देवों और मनुष्यों ने प्रभु की मोक्षप्राप्ति का कल्याणक महोत्सव मनाया। उस अवसर पर शुद्ध आत्मा की अचिन्त्य महिमा का चिन्तन कर-करके अनेक जीव संसार से विरक्त हुए। किन्हीं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, कोई मुनि हुए तो कितनों ने केवलज्ञान प्रगट किया और कुछ जीव तो प्रभु के साथ ही मुक्ति को प्राप्त हुए। मोक्ष की साधना का वह महामंगल-महोत्सव था। उस मोक्ष की स्मृति में इन्द्र ने उस मुक्तिस्थान 'मित्रधर' कूट पर प्रभु चरणों की स्थापना करके पूजा की।

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि - तीर्थकर नमिनाथ संयोग से इक्कीसवें तीर्थकर होते हुए भी अन्य अनेक तीर्थकरों की अपेक्षा कम चर्चित रहे हैं। उनकी मूर्तियाँ भी अधिकांश चौबीसियों के समूह में ही मिलेंगी; अलग से नमिनाथ की मूर्तियाँ शायद ही कहीं-कहीं हों। इसका एक ही कारण समझ में आता है कि उनके साथ कोई चमत्कारिक घटना नहीं जुड़ी या उनका जीवन घटना-प्रधान नहीं है; परन्तु ध्यान रहे, पूज्यता में और उनके अनन्त गुणों के सम्पूर्ण विकास में तथा अतीन्द्रिय आनन्द में एवं वीतरागता, सर्वज्ञता आदि सभी बातों में वे चौबीस तीर्थकरों के समान ही हैं। परन्तु लौकिकजन चमत्कारों और घटनाओं में अधिक रुचि रखते हैं, इसकारण जिन तीर्थकरों का जीवन घटना प्रधान रहा और जिनके साथ लौकिक चमत्कार की घटनायें जुड़ गईं, वे बहुचर्चित हो गये या हो रहे हैं। जैसे कि - भगवान भरत और भगवान बाहूबली समानरूप से अरहन्त परमात्मा बने तो भी बाहूबली की बेलों और बाँवियों ने उन्हें अधिक आकर्षक बना दिया; जबकि वे उनकी विशेषताओं की प्रतीक नहीं; बल्कि भरतजी की अपेक्षा कमजोरी की परिचायक हैं; क्योंकि भगवान बाहूबली को जिस उपयोग को आत्मा में लगाने में इतनी कठिन साधना करनी पड़ी; वही काम भरतजी ने अन्तमुहूर्त में उपसर्ग और परिषह सहे बिना ही कर लिया।

तात्पर्य यह है कि बाहर के चमत्कार या घटनायें छोटे-बड़े की कसौटी नहीं बन सकते। ●

तीन लोक में सार बताया, वीतराग विज्ञानी को ।
भव सागर में दुःखी बताया, मिथ्यात्वी अज्ञानी को ॥
मुक्तिमार्ग का पथिक बताया, स्व-पर भेदविज्ञानी को ।
सहज स्वभाव सरलता से सुन! नेमिनाथ की वाणी को ॥

भावी तीर्थंकर नेमिनाथ की पर्याय में आने के पाँच भव पूर्व यही तीर्थंकर का जीव विदेह क्षेत्र में राजा अर्हत्दास के घर जिनदत्ता रानी की कूँख से उत्पन्न अपराजित नामक राजकुमार था । वह किसी के द्वारा भी पराजित न होता हुआ अपने नाम को सार्थक कर रहा था । यौवन आने पर प्रीति नाम की सर्वगुण सम्पन्न कन्या से विवाह हुआ ।

एक दिन राजा अर्हद्दास भगवान विमलवाहन की वन्दनार्थ अपने पुत्र अपराजित सहित गए । भगवान के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर राजा अर्हद्दास ने अपने अधीनस्थ पाँच सौ राजाओं के साथ भगवान विमलवाहन के समीप जिनदीक्षा ले ली । पिता की दीक्षा के बाद युवराज अपराजित ने राज्यपद संभाला तो; पर साथ ही उन्हें भी भगवान के दिव्य उपदेश से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई ।

एक दिन अपराजित ने सुना कि गन्धमादन पर्वत पर जिनेन्द्र विमलवाहन और पिता अर्हद्दास को मोक्ष प्राप्त हो गया है । यह सुनकर उसने तीन दिन का उपवास कर निर्वाणभक्ति की ।

एक बार राजा अपराजित कुबेर के द्वारा प्रदत्त जिनप्रतिमा एवं चैत्यालय में विराजमान अर्हत् प्रतिमा की पूजा कर एवं उपवास का नियम लेकर मन्दिर में धर्मोपदेश कर रहा था । उसीसमय दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाश से नीचे उतरे । राजा अपराजित ने वन्दन कर उनसे पूछा - “हे नाथ ! वैसे तो मुझे जैन साधुओं

को देखकर स्वाभाविक आनन्द होता ही है; परन्तु आप दोनों के दर्शन कर आज अपूर्व आनन्द हो रहा है तथा स्वाभाविक स्नेह उमड़ रहा है, इसका कारण क्या है ?”

दोनों में बड़े मुनि बोले - “हे राजन् ! पूर्वभव का सम्बन्ध ही स्नेह की अधिकता का कारण होता है । मैं अपने और तुम्हारे पूर्वभव का सम्बन्ध बताता हूँ । “विदेह क्षेत्र में गण्यपुर नगर के राजा सूर्याभ और उसकी पत्नी धारणी के तीन पुत्र थे - चिन्तागति, मनोगति और चपलगति । उसीसमय राजा अरिजंय के यहाँ अनेक विद्याओं की धारक और संसार से विरक्त प्रीतिमति नामक कन्या हुई । उसके माता-पिता उसका विवाह करना चाहते थे और वह संसार को असार जानकर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप करके आत्मा के कल्याण में लगाना चाहती थीं । प्रीतिमति ने पिताजी से दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त करने हेतु युक्ति बनाई । उसने कहा - ‘जो मुझे तेज दौड़ में हरायेगा, मैं उसी से शादी करूँगी ।’ उस प्रतियोगिता में चिन्तागति आदि तीनों भाई सम्मिलित हुए और उससे वे भी पराजित हो गये । इस युक्ति से प्रीतिमति ने अनुमति पाकर ‘निर्वृत्ति’ आर्यिका से दीक्षा धारण कर ली । प्रीतिमति के द्वारा तेज दौड़ में पराजित चिन्तागति आदि तीन भाइयों ने भी दमवर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली । आयु के अन्त में तीनों भाई माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु प्राप्त वाले सामानिक जाति के देव हुए । चिन्तागति का जीव जो माहेन्द्र स्वर्ग में था, वहाँ से चयकर तुम (अपराजित) हुए हो और मनोगति एवं चपलगति के जीव भी माहेन्द्र स्वर्ग से चय कर हम दोनों अमितवेग और अमिततेज हुए हैं । पुण्डरीकणी नगरी में स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप मुनि दीक्षा लेकर उनसे हमने अपने पूर्व भव सुने । उनके बताये अनुसार हे राजन् ! तुम हमारे बड़े भाई चिन्तागति के जीव ही माहेन्द्र स्वर्ग से हमसे पहले ही च्युत होकर यहाँ अपराजित हुए हो । हम दोनों पूर्व भवों के संस्कार वश धर्मानुराग से तुम्हें संबोधने आये हैं । तुम इसी भरत क्षेत्र के हरिवंश नामक महावंश में अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकर होगे । इससमय तुम्हारी आयु एक माह की ही शेष रह गई है ! अतः आत्महित करो ।” इतना कह अमितवेग और अमिततेज दोनों मुनि विहार कर गये ।

चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के वचन सुनकर राजा अपराजित हर्षित होता हुआ भी बहुत समय तक यही

चिन्ता करता रहा कि मेरा तप करने का बहुत-सा महत्त्वपूर्ण समय यों ही निकल गया। अन्त में प्रीतकर पुत्र को राज्यभार सौंपकर शरीरादि से निस्पृह हो वह भी मुनि हो गया।

तत्पश्चात् प्रायोपगमन सन्यास से सुशोभित दिन-रात चारों आराधनाओं की आराधना कर वे अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर की आयु धारक अपराजित इन्द्र हुए। वहाँ से चयकर नागपुर में राजा श्रीचन्द्र और श्रीमती के सुप्रतिष्ठित नामक पुत्र हुआ। वह जिनधर्म का उपासक था। राजा श्रीचन्द्र पुत्र सुप्रतिष्ठित को राज्य देकर मुनि होकर मुक्त हो गये। एकबार राजा सुप्रतिष्ठित ने मासोपवासी यशोधर मुनिराज को नवधा भक्तिभाव पूर्वक आहारदान दिया; फलस्वरूप रत्नवृष्टि आदि पंच आश्चर्य हुए।

एक बार राजा सुप्रतिष्ठित कार्तिक की पूर्णिमा की रात्रि में अपनी आठ सौ स्त्रियों के साथ महल की छत पर बैठा था। उसीसमय आकाश में उल्कापात हुआ। उसे देख वह राज्यलक्ष्मी को उल्का के समान ही क्षणभंगुर समझने लगा। इसलिए अपनी सुनन्दा रानी के पुत्र सुदृष्टि को राज्यलक्ष्मी देकर उसने सुमन्दिर नामक गुरु के समीप दीक्षा ले ली।

राजा सुप्रतिष्ठित के साथ सूर्य के समान तेजस्वी चार हजार राजाओं ने भी उग्र तप धारण किया था। मुनिराज सुप्रतिष्ठित ने ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य की वृद्धि से युक्त हो जिनवाणी का गहन अध्ययन किया तथा सर्वतोभद्र से लेकर सिंहनिष्क्रीडित पर्यन्त विशिष्ट तप किए और सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थकर नामकर्म का बन्ध किया।

इसप्रकार तीर्थकर प्रकृति का बंध करनेवाले सुप्रतिष्ठित मुनिराज एक मास तक आहार त्यागकर चारों आराधनाओं की साधना करते हुए बाईस सागर की स्थिति पाकर जयन्त स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहाँ से चयकर वे राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी से हरिवंश रूपी पर्वत के शिखर स्वरूप नेमिनाथ नामक २२ वें तीर्थकर हुए - जिसका विवरण इसप्रकार है -

यादव कुल में मूलतः हरिवंशीय महाराजा सौरी हुए। उनसे अन्धक वृष्णि और भोग वृष्णि ये दो पुत्र हुए। उनमें राजा अंधकवृष्णि के दस पुत्र थे, जिनमें बाल तीर्थकर नेमिकुमार के पिता-सौरीपुर के राजा

समुद्रविजय सबसे बड़े भाई थे और श्रीकृष्ण के पिता राजा वसुदेव सबसे छोटे भाई थे। दस भाइयों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्रभावशाली, धीर-वीर और सर्वगुण सम्पन्न पुराण प्रसिद्ध पुरुष हुए। राजा समुद्र विजय की रानी शिवा देवी से वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन शुभ घड़ी में नेमिकुमार का जन्म हुआ।

तीर्थकर नामकर्म के साथ बंधे पुण्यकर्म के प्रभाव से सौधर्म इन्द्र आदि देव-देवेन्द्रों ने उनका विशेष प्रकार से जन्मोत्सव मनाया। उन्हें सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले जाकर हर्षोल्लासपूर्वक १००८ कलशों से क्षीरसागर के निर्मल निर्जन्तुक जल से जन्माभिषेक किया। नेमिकुमार परमशान्त मुद्रा, अत्यन्त सुन्दर शरीर और १००८ शुभलक्षणों से युक्त श्याम वर्ण होते हुए भी अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व के धनी और अतुल्यबल के धारक थे। वे जन्म से ही मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक भी थे।

नेमिकुमार और श्रीकृष्ण सगे चचेरे भाई थे। राजा समुद्र विजय और वसुदेव - दोनों सहोदर न्यायप्रिय, उदार, प्रजावत्सल, धीर-वीर-गंभीर और अत्यन्त रूपवान, बलवान तथा शलाका पुरुषों के जनक थे।

यद्यपि नेमिकुमार जन्म से ही वैरागी प्रकृति के थे, फिर भी कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब एक ओर राजा जरासंध और दूसरी ओर समुद्र विजय की सेनायें अपने-अपने व्यूहचक्र बनाकर युद्ध के लिए तैयार खड़ीं थीं, तब उस युद्ध में समुद्रविजय के पक्ष में बलभद्र, श्रीकृष्ण और नेमिकुमार भी युद्ध करने के लिए तैयार थे और इनका सेनापति राजा अनावृष्टि था।

इनके विरुद्ध युद्ध करनेवाले राजा जरासंध की ओर सेनापति के रूप में राजा हिरण्यगर्भ था। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध के समय बजने वाली भेरियाँ और शंख गंभीर शब्द करने लगे तथा दोनों ओर की सेना युद्ध करने के लिए परस्पर सामने आ गईं।

शत्रु सेना की प्रबलता और अपनी सेना को पीछे हटती देख नेमिकुमार, अर्जुन और अनावृष्टि युद्ध विशारद श्रीकृष्ण का संकेत पाकर स्वयं युद्ध करने को तैयार हो गये और इन्होंने जरासंध के चक्रव्यूह को भेदने का निश्चय कर लिया। नेमिकुमार ने शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न करने के लिए इन्द्र प्रदत्त शाक

नामक शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया और अनावृष्टि ने बलाहक नामक शंख बजाया। शंख नाद होते ही उनकी सेना में युद्ध के प्रति पुनः उत्साह बढ़ गया और शत्रु सेना भयाक्रान्त हो गई।

सेनापति अनावृष्टि ने शत्रु के द्वारा रचित सेना के चक्रव्यूह का मध्यभाग, नेमिकुमार ने दक्षिण भाग, अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग भेद डाला। यद्यपि जरासंध (शत्रु सेना) ने भी अपने पूरे पराक्रम के साथ युद्ध करते हुए समुद्र विजय की सेना का सामना किया; परन्तु वह श्रीकृष्ण और नेमिकुमार के बल एवं पराक्रम के सामने टिक नहीं पाई और तितर-बितर हो गई।

नेमिकुमार के अतुल्यबल को सिद्ध करनेवाली एक घटना प्रसिद्ध है – एक दिन युवा नेमिकुमार कुबेर के द्वारा भेजे हुए वस्त्राभूषणों को पहिन कर श्रीकृष्ण के साथ यदुवंशी राजाओं से भरी सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़कर उन्हें नमस्कार किया। फिर श्रीकृष्ण और नेमिकुमार अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। सिंहासन पर बैठे हुए वे दोनों दो इन्द्रों के सदृश सुशोभित हो रहे थे।

उस सभा में बलवानों के बल की चर्चा चल पड़ी तब किसी ने अर्जुन की प्रशंसा की तो किसी ने युधिष्ठिर की और किसी ने नकुल, सहदेव, बलभद्र और श्रीकृष्ण के बल की प्रशंसा की। तब बलदेव बोले तुम लोग जो इन सबकी बढ़ाई करते हो सो सब अपने-अपने अनुराग से ऐसा कह रहे हो। वस्तुतः बात यह है कि नेमिकुमार जैसा बल अभी तीन लोक में किसी में नहीं है।

ज्ञातव्य है कि – वे तीर्थंकर हैं और तीर्थंकर जन्म से ही अतुल्य बल के धनी होते हैं – ऐसा नियम है। अतः उनके शारीरिक बल से किसी की तुलना नहीं होती; किन्तु श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार की बढ़ाई सुनकर कौतूहलवश मुस्कराते हुए उनसे मल्लयुद्ध में बल की परीक्षा करने को कहा।

उत्तर में नेमिकुमार ने बहुत ही विनम्र शब्दों में कहा “हे अग्रज! इसमें मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है? यदि आपको मेरा बल जानना ही है तो लो मेरे पाँव को इस आसन से सरका दो” श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति लगाने पर भी नेमिकुमार का पाँव सरकाना तो दूर रहा, वे पाँव की एक अँगुली को भी हिलाने में

भी समर्थ नहीं हो सके। अन्त में उन्होंने उनके बल को न केवल स्वीकार ही किया, वरन् उसकी प्रशंसा भी की और उनके बल को लोकोत्तर बताया। उसीसमय इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया और उसने तत्काल देवों के साथ आकर अतुल्यबल के धारक श्री तीर्थकर नेमिकुमार की स्तुति की।

श्रीकृष्ण भी अपने राज्य के विषय में शंकित होते हुए अपने महल में चले गये। कृष्ण के मन में यह शंका घर कर गई कि नेमिकुमार के बल का कोई पार नहीं है; अतः इनके रहते हुए हमारा राज्य शासन स्थिर एवं निःशल्य रह सकेगा या नहीं ?

उससमय से श्रीकृष्ण बाहरी व्यवहार में तो उत्तम अमूल्य गुणों से युक्त तीर्थकर के जीव नेमिकुमार की आदरभाव से प्रतिदिन सेवा-सुश्रुषा करते हुए प्रेम प्रदर्शित करने लगे; पर मन में उस शल्य के निवारण का उपाय भी सोचने लगे; एतदर्थ उन्होंने अपनी पत्नियों को नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव मनाने और उसके माध्यम से उनके विरागी मन में और अधिक वैराग्य उत्पन्न करने तथा उन्हें संसार के स्वार्थीपन का आभास कराने की ओर प्रेरित किया।

मनुष्य की मनोवृत्ति को हरण करनेवाली श्रीकृष्ण की पत्नियाँ पति की आज्ञा पाकर वृक्षों और लताओं से युक्त रमणीय वनों में बाल तीर्थकर नेमिकुमार के साथ ऐसा अनुचित व्यवहार करने लगीं, ताकि संसार से उनका मन उचट जाये।

यद्यपि कुमार नेमि स्वभाव से ही रागरूपी पराग से परान्मुख थे; तथापि श्रीकृष्ण की स्त्रियों के अनुरोध से वे उत्साह के बिना ही वे-मन से जलाशय में जलक्रीड़ा करने लगे।

उन्हें अन्दर से जरा भी रुचि एवं उत्साह नहीं था; परन्तु वे किसी के सामने स्वयं को कमजोर सिद्ध नहीं होने देना चाहते थे; अतः उन्होंने न्याय-नीति की मर्यादा में रहकर जितनी जो क्रीड़ा और मनोरंजन भाभियों के साथ उचित था, तदनुसार उनके आग्रह का निर्वाह किया।

घर जाने पर श्रीकृष्ण को नेमिकुमार के सरल व्यवहार से ऐसा भ्रम हो गया कि अब नेमिकुमार शादी

कराने को मना नहीं करेंगे। उन्होंने हर्षित होकर शीघ्र ही नेमिकुमार के लिए विधिपूर्वक भोजवंशियों की राजकुमारी राजमती की याचना की, उसके पाणिग्रहण संस्कार के लिए बन्धुजनों के पास खबर भेजी और रानियों सहित समस्त राजाओं को सम्मानपूर्वक बुलाया। श्रावण मास में शादी तय हो गई। समय पर शादी महोत्सव प्रारंभ हुआ, बारात ने प्रस्थान किया, बारात में ५६ कोटि बाराती आये।

‘५६ कोटि’ सुनकर चौंकिए नहीं, यहाँ कोटि का अर्थ करोड़ नहीं, बल्कि ५६ जाति या ५६ प्रकार के लोग थे – यह भी तो इसका अर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि उनकी बारात में सभी जातियों के बहुत अधिक लोग सम्मिलित हुए थे। रिम-झिम बरसात, सुहावना मौसम, मेघों की गर्जना आदि ने गर्मी को शान्त कर दिया था। नेमिकुमार के गंभीर व्यक्तित्व ने शान्त रस का वातावरण भी भर दिया था।

ऐसी वर्षाऋतु में एक दिन युवा नेमिकुमार, ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित चार घोड़ों से जुते रथ पर सवार हो अनेक राजकुमारों के साथ राजमार्ग में दर्शकों पर दयाभाव रखते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे। रास्ते में उन्होंने तृण भक्षी पशुओं को राजमार्ग के दोनों ओर दीन-हीन दशा में आंसू बहाते और रंभाते देखा। उन्हें इस दीन-हीन हालत में खड़े देखकर नेमि ने पूछा – इन्हें क्यों रोक रखा है ?

उत्तर मिला – हे नेमिकुमार ! ये आपकी बारात के कारण रोके गये हैं। यद्यपि नेमिकुमार अवधिज्ञान से सब यथार्थ स्थिति जान सकते थे, पर सहज ही पूछ लिया – उत्तर ठीक ही मिला था – जब साधारण-सा कोई नेता आता है तो राजमार्ग के दोनों ओर बल्लियाँ बांध दी जाती हैं। बारात का समय गोधूलि का था। पशु जंगल से लौटकर आ रहे थे। अपने-अपने बछड़ों से मिलने को रंभा रहे थे। श्रावणमास प्रायः गायों की प्रसूति का समय होता है। अतः उनका रंभाना स्वाभाविक ही था। पशुओं के अवरोध और क्रन्दन को लेकर अनेक विचारक अपनी-अपनी सोच के अनुसार अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत करते हैं।

राजनैतिक विचारधारा वाले लोगों का ख्याल था कि “श्रीकृष्ण नेमिकुमार के अतुल्यबल से आतंकित हो गये थे और उन्हें सन्देह हो गया था कि इनके रहते हमारा राज्य निष्कंटक नहीं रह सकता; अतः वे

नेमिकुमार को अपने रास्ते से हटाना चाहते थे; परन्तु बहुत ही सम्मानपूर्वक और स्नेह के साथ। वे जानते थे कि नेमि वैराग्य प्रकृति के तो हैं ही; थोड़ा-सा कोई का निमित्त मिलेगा तो वह निश्चित दीक्षा लेकर वनवासी हो जायेंगे। इसके लिए श्रीकृष्ण ने यह उपाय सोचा होगा। निश्चित ही नेमि की विराग प्रकृति को देखकर उन्हें अपने रास्ते से हटाने के लिए विवाह और पशुओं का बन्धन आदि घटनाएँ श्रीकृष्ण की सुनियोजित योजना रही होगी।”

अन्य कोई धार्मिक व्यक्तियों का मत था कि जन्म से ही तीन ज्ञान के धनी, तद्भव मोक्षगामी तीर्थकर नेमिनाथ जैसे अहिंसा का सन्देश देनेवाले के बराती मांसाहारी हो ही नहीं सकते; अतः मांसाहार की बात सर्वथा अनुचित ही है, असत्य ही है, मिथ्या अफवाह है।

वस्तुतः बात यह थी कि - बारात का समय गोधूलिका था, अतः राजमार्ग पशुओं से अवरुद्ध न हो जाय, एतदर्थ व्यवस्थापकों द्वारा बांस-बल्लियाँ बांधकर राजमार्ग सुरक्षित किया गया था। इस कारण रास्ता अवरुद्ध होने से मार्ग के दोनों ओर पशु खड़े-खड़े रंभा रहे थे।

इसप्रकार संसार के स्वार्थीपन का स्वरूप ख्याल में आते ही नेमिकुमार विवाह से विरक्त हो गये। उनके वैराग्य में पशुओं का बन्धन कारण बना - यह ध्रुव सत्य है। नेमिकुमार ने शादी नहीं की। सोचने लगे - “जिसतरह सैकड़ों नदियाँ भी समुद्र को सन्तुष्ट नहीं कर पाती; उसीतरह बाह्य विषयों से उत्पन्न सांसारिक सुख के साधन जीवों का दुःख दूर नहीं कर पाते हैं” - ऐसा विचार कर नेमिकुमार ने दीक्षा लेकर मुनि बनने का निश्चय कर लिया। उसीसमय पंचम स्वर्ग से लौकान्तिकदेव नेमिनाथ के वैराग्य की अनुमोदना करने आ पहुँचे इन्होंने निवेदन किया, इससमय भरत क्षेत्र में धर्मतीर्थ प्रवर्तन का समय है; अतः धर्मतीर्थ प्रवर्तन कीजिए।

देव-देवेन्द्रों ने महोत्सवपूर्वक उनका जोरदार दीक्षाकल्याणक मनाया। सर्वप्रथम इन्द्रों ने स्तुति की। बाद में स्नानपीठ पर विराजमान कर देवों के द्वारा लाए हुए क्षीरोदक से उनका अभिषेक किया एवं

वस्त्राभूषणों से विभूषित किया। उत्तम सिंहासन पर विराजमान कर नेमिकुमार को घेरकर खड़े हुए कृष्ण, बलभद्र आदि अनेक राजा सुशोभित हो रहे थे। इन सबने उन्हें रागवश रोका; पर वे रुके नहीं। वे कुबेर द्वारा निर्मित पालकी की ओर आगे बढ़े और बैठ गये। पहले कुछ दूर पृथ्वी पर तो राजाओं ने पालकी उठाई, पश्चात् देवगण आकाशमार्ग से गिरनार पर्वत पर ले गये। वहाँ नेमिनाथ ने पालकी का त्यागकर शिलातल पर विराजमान होकर पंचमुष्टि केशलोंच किया। उनके साथ गये एक हजार राजाओं ने भी जिनदीक्षा धारण की।

देवेन्द्रों द्वारा विधिवत दीक्षा कल्याणक मनाने के पश्चात् उनके द्वारा मुनिराज नेमिकुमार की स्तुति की गई। स्तुति में उन्होंने कहा - “हे मुनिवर! आप क्रोध और तृष्णा से रहित हैं, निष्काम हैं, निर्मान हैं। हे मुनि! आप मननशील हैं, आपको हम बारम्बार नमन करते हैं।”

जब मुनिराज आहार लेने के लिए द्वारिकापुरी में आये तब उत्तम तेज के धारक सेठ प्रवरदत्त ने उन्हें खीर का आहार देकर देवों द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त की।

राजमती ने भी नेमिकुमार की विराग परिणति का निमित्त पाकर अपनी परिणति को राग-रंग से हटाकर ज्ञान-ध्यान में लगाने का निश्चय कर लिया। वह सामान्य नारियों की तरह नेमिकुमार के दीक्षित हो जाने से उनके वियोग से दुःखी नहीं हुई। उन्होंने भी संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता को जानकर तथा संसार के स्वार्थ को जानकर वैराग्य धारण किया और आर्यिका के व्रत अंगीकार कर आत्मसाधना हेतु कठिन तप करने लगी।”

“ये स्त्रियाँ स्त्री पर्याय में तीनोंपन की पराधीनता के नाना दुःख उठाती हैं। बचपन में पिता के आधीन, युवावस्था में पति के आधीन और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन रहती हैं और पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। कहा भी है - “पराधीन सपनेहु सुख नाही” यदि पति या पुत्र दुर्बल हुआ, बीमार हुआ, अल्प आयु हुआ, मूर्ख हुआ, दुष्ट हुआ तो अनन्त दुःख। यदि सौत हुई तो उसका दुःख, यदि स्वयं बंध्या हुई,

मृत संतान हुई..... और न जाने कितने दुःख नारियों के होते हैं। अतः ऐसी दुःखद स्त्री पर्याय में न जाना हो, इस पर्याय से सदा के लिए मुक्त होना हो तो मायाचार, छलकपट का भाव और व्यवहार छोड़े तथा सम्यग्दर्शन की आराधना करें - यही राह राजमती चली।

दीक्षा कल्याणक मनाने के पश्चात् मुनिराज नेमिनाथ व्रत, समिति, गुप्तियों से सुशोभित एवं परिषहों को जीतते हुए रत्नत्रय और तपरूपलक्ष्मी से मुनिधर्म की साधना करने लगे। आर्त और रौद्र नामक अप्रशस्त ध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान नामक प्रशस्त ध्यान करने लगे।

भगवान नेमिनाथ ने धर्मध्यान के दस भेदों का यथायोग्य ध्यान करते हुए छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन समीचीन तपश्चरण के द्वारा व्यतीत किए। तत्पश्चात् अश्विन शुक्ल प्रतिपदा (एकम) के दिन शुक्लध्यान रूप अग्नि द्वारा चार घातिया कर्मों को भस्म कर अनंतचतुष्टयमय केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

तीर्थकर नेमिनाथ को केवलज्ञान होते ही इन्द्रों के आसन और मुकुट कम्पायमान हो गये और तीनों लोकों के इन्द्र केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने चल पड़े। गिरनारपर्वत की तीन प्रदक्षिणायें देकर उन्होंने खूब उत्साहपूर्वक नेमि जिनेन्द्र का पूजा महोत्सव मनाया।

जब जिनेन्द्र भगवान नेमिनाथ के समवसरण में सब भव्य जीव धर्म सुनने के लिए हाथ जोड़कर बैठ गये, तब वरदत्त गणधरदेव ने जिनेन्द्रदेव से पूछा - “सबका हित किसमें है ? अपना कल्याण करने के लिए हम क्या करें ?”

उत्तर में तीर्थकर नेमिनाथ की दिव्यध्वनि खिरने लगी, जो पुरुषार्थ रूप फल को देनेवाली थी और चार अनुयोगों की एक माता थी। चार गतियों का निवारण करनेवाली थी।

यह दिव्यध्वनि जहाँ भगवान विराजमान थे, उसके चारों ओर एक योजन के घेरे में इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी मानो भगवान सामने ही बोल रहे हैं।

दिव्यध्वनि में जगत की अनादिनिधन, स्वतंत्र, स्वाधीन, अहेतुक स्थिति का ज्ञान कराया गया है। यह

सृष्टि अहेतुक है अर्थात् किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई है, किसी ने इसे बनाया नहीं है। परिणामिकी हैं – स्वतःसिद्ध है। जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं अपनी भूल से संसार में घूमता है और स्वयं भूल सुधार कर मुक्त होता है।

इसप्रकार नेमि जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ निर्मल मोक्षमार्ग तथा लोक का स्वरूप सुनकर बारह सभाओं के जीवों ने भगवान को नमन कर वन्दना की। श्रोताओं में से कितने ही लोगों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, कितने ही लोगों ने संयमासंयम एवं मुनिव्रत धारण कर आत्मकल्याण किया।

शिला देवी, रोहणी, देवकी, रुक्मणी तथा अन्य नारियों ने श्राविकाओं का चारित्र धारण किया।

तीर्थकर नेमि जिनेन्द्र भव्य जीवों को प्रबोधित करते हुए नाना देशों में बड़े-बड़े राजाओं को धर्म में स्थिर करते हुए चिरकाल तक विहार कर भगवान पुनः गिरनार पर्वत पर वापस लौट आये।

बलदेव के मन में यह प्रश्न हुआ – “मैं यह जानना चाहता हूँ कि द्वारिका का विनाश कब और किसके द्वारा होगा ? श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त कारण कौन बनेगा ?

हे प्रभो ! मेरा राग कृष्ण के प्रति बहुत है, मुझे यह मोह कम होकर संयम की प्राप्ति कब होगी ?

नेमि जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि में आया – “हे बलदेव ! ये द्वारिकापुरी बारहवें वर्ष में मदिरा के निमित्त से द्वीपायन मुनि के द्वारा क्रोधवश भस्म होगी। श्रीकृष्ण अपने अन्तिम समय में कौशाम्बी के वन में शयन करेंगे और जरतकुमार उनके विनाश में निमित्त बनेंगे। अन्तरंग कारण के रहते हुए बाह्य हेतु, कुछ न कुछ तो होता ही है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं; अतः वे हर्ष-विषाद नहीं करते।

हे बलदेव ! संसार के दुःखों से भयभीत आपको भी उसीसमय कृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तप की प्राप्ति होगी तथा तपकर आप ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे।”

भगवान नेमीनाथ की दिव्यध्वनि की घोषणा से द्वीपायन ने जाना कि द्वारिका मेरे कारण जलेगी तो, वे संसार से विरक्त होकर मुनि होकर वनमें जाकर तप करने लगे और उस पाप से बचने के लिए वे बारह वर्ष का समय बचाने के लिए पूर्व दिशा की ओर चले गये।

इसीप्रकार जरतकुमार को भी ज्ञात हो गया था कि मेरे निमित्त से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी; अतः वह भी दुःखी हुआ और भाई-बन्धुओं को छोड़कर ऐसी जगह चला गया, जहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन ही न हों।

परन्तु यह अटल नियम है कि *होनी को कोई टाल नहीं सकता, जब, जिसके निमित्त से जो होना है, वही, तभी, उसी के निमित्त से होकर रहता है*, उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी आगे-पीछे नहीं कर सकते।

लाखों प्रयत्न करने पर भी दोनों घटनायें हुईं। द्वारिका द्वीपायन मुनि के निमित्त से ही जली और श्रीकृष्ण का निधन जरतकुमार के बाण से ही हुआ।

यद्यपि श्रीकृष्ण ने द्वारिका में पूर्ण शराबबन्दी करा दी थी। जो शराब तैयार थी, उसे भी जंगलों में दूर-दूर तक फैंक दिया था; परन्तु वह फैंकी हुई शराब पत्थरों के कुण्डों में पड़ी-पड़ी ज्यों-ज्यों पुरानी पड़ी त्यों-त्यों अधिक मादक होती गई।

श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करा दी कि जिनेन्द्र के वचन अन्यथा नहीं होते; अतः जो विरागी होकर आत्मा के कल्याण में लगना चाहें, मुनि होकर मोक्षमार्ग में अग्रसर होना चाहें वे खुशी-खुशी जा सकते हैं; परन्तु जो भव्य सम्यग्दृष्टि थे, जिनेन्द्र की वाणी में विश्वास करते थे, वे तो मुनि होकर मोक्षमार्ग साधने लगे और जो मिथ्यादृष्टि थे, कर्तृत्वबुद्धि से ग्रसित थे, वे उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने सोचा - 'न रहे बांस न बजे बांसरी' अतः द्वीपायन को ही खत्म कर दो और जो शराब निमित्त बनने वाली है, उसे ही जंगलों में फिकवा दी जाये, जब कारण ही नहीं रहेगा तो द्वारिका भस्म होने का कार्य कहाँ से होगा ? परन्तु द्वीपायन लोंड़ का महीना (अधिक माह) गिनना भूल जाने से बारहवें वर्ष में ही द्वारिका के जंगल में जा पहुँचे। उधर उसीसमय वनक्रीड़ा को आये शम्ब आदि कुमारों ने जंगल के कुण्डों में पड़ी मादक शराब पी ली, जिससे वे उन्मत्त हो गये। उन्होंने द्वीपायन को पहचान लिया और उसे मारने की चेष्टा करने लगे। इससे वे क्रोधित हो उठे। यह बात कृष्ण और बलदेव को मालूम हुई तो उन्होंने द्वीपायन को शान्त करने की बहुत कोशिश की; किन्तु वे शान्त नहीं हुए। क्रोध में उनका शरीर जलकर भस्म हो

गया और वे मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए। उन्होंने विभंगावधिज्ञान से सब जान लिया और क्रोधावेश में द्वारिका को भस्म करने लगा।

श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने माता-पिता और अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों को बचाने का प्रयत्न किया तो उस क्रोधी देव ने सब तरह से आक्रमण करके सबको नष्ट-भ्रष्ट करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

‘भवितव्यता दुर्निवार है’ अन्यथा जिस द्वारिका नगरी की रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने की हो, कुबेर ही जिसका रक्षक हो, वह नगरी अग्नि के द्वारा कैसे जल जाती? हे बलदेव और कृष्ण! हम लोग चिरकाल से अग्नि के भय से पीड़ित हो रहे हैं, हमारी रक्षा करो, इसप्रकार स्त्री, बालक और वृद्धजनों के घबराहट से भरे शब्द सर्वत्र व्याप्त हो रहे थे। घबराये हुए बलदेव और श्रीकृष्ण नगर का कोट तोड़ समुद्र के जल से अग्नि को बुझाने लगे तो वह जल तैलरूप में परिणत हो गया। उन दोनों ने जो भी द्वारिका के जन जीवन की रक्षा करने के प्रयत्न किए, सभी असफल रहे। जब अन्त में कृष्ण और बलदेव ने पैर के आघात से नगर के कपाट गिरा दिए तो द्वीपायन के जीव दैत्य ने कहा - “तुम दोनों भाइयों के सिवाय किसी अन्य का निकलना संभव नहीं है।”

यह जानकर दोनों माताओं और वसुदेव (पिता) ने कहा - “हे पुत्रो! तुम जाओ। तुम दोनों के जीवित रहने से वंश का विनाश नहीं होगा। माता-पिता को शान्त कर उनकी आज्ञा का पालन कर दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलदेव दुःखी मन से निकल कर दक्षिण की ओर चले गये।

इधर वसुदेव आदि यादव तथा उनकी स्त्रियाँ सन्यास पूर्वक देह त्याग कर स्वर्ग में उत्पन्न हुए। जो चरम शरीरी थे, वे ध्यानस्थ हो गये। अग्नि केवल उनके देह ही जला पायी आत्मा तो रागादि विकार को और कर्मों को जलाकर मुक्त हो गये। जो सम्यग्दर्शन से पवित्र थे, वे मृत्यु के भय से निर्भय हो समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण कर सद्गति को प्राप्त हुए। वे मनुष्य धन्य हैं जो संकट आने पर, अग्नि की शिखाओं के बीच भी ध्यानरूप अग्नि से विकार को जलाकर अपने मनुष्य भव को सार्थक कर लेते हैं। जो तप निज

व पर को सुखी करनेवाला है, वही उत्तम है, प्रशंसनीय है। जो तप द्वीपायन की भांति निज व पर को कष्टदायक है, वह उत्तम नहीं है।

दूसरों का अपकार करनेवाला पापी मनुष्य दूसरों का वध तो एक जन्म में करता है, पर उसके फल में अपना वध जन्म-जन्म में करता है तथा अपना संसार बढ़ाता है। असहनशील व्यक्ति दूसरे का अपकार किसी तरह भी कर सकता है; परन्तु ध्यान रहे, दूसरों को दुःखी करनेवाले को स्वयं को भी दुःख की परम्परा ही प्राप्त होती है।

विधि के वशीभूत हुए क्रोध से अन्धे द्वीपायन मुनि ने जिनेन्द्र के वचनों का उल्लंघन कर बालक, स्त्री, पशु और वृद्धजनों को जो वस्तुतः दया के पात्र हैं, उन्हें जलाकर अपने ही दुःख को बढ़ा लिया है - ऐसे क्रोध को धिक्कार है।

‘संसार में पुण्य-पाप का खेल भी विचित्र है और होनहार बलवान है, उसे कोई टाल नहीं सकता।’

श्रीकृष्ण और बलदेव के जीवन की अनेक घटनायें इस बात की प्रबल प्रमाण हैं। जो बलदेव और श्रीकृष्ण पहले सूर्योदय के पूर्वार्द्ध की भाँति पुण्योदय से लोकोत्तर उन्नति करते रहे, वे जीवन के अन्तिम क्षणों में बन्धुजनों से भी बिछुड़ गये, शोकाकुल हो गये।

कृष्ण के कहने पर स्नेह से भरे बलदेव ने कहा - “हे भाई! मैं शीतल पानी की व्यवस्था करता हूँ, तुम निराश मत होओ। तबतक तुम जिनेन्द्र के स्मरणरूपी जल से प्यास को दूर करो। भाई! यह पानी तो थोड़े समय के लिए ही प्यास को दूर करता है; पर जिनेन्द्र का स्मरण रूप जल तो तृष्णा के जल को जड़-मूल से नष्ट कर देता है।”

बलदेव पानी लेने गये, कृष्ण वृक्ष की छाया में चादर ओढ़कर विश्राम करने लगे। शिकारप्रेमी जरतकुमार अकेला उस वन में घूम रहा था। होनहार की बात देखो, श्रीकृष्ण के स्नेह से भरा जो उनके

प्राणों की रक्षा की भावना से द्वारिका से वन में जाकर उनसे दूर भाग रहा था ताकि वह तीर्थकर नेमिनाथ की घोषणा के अनुसार अपने भाई की मौत का कारण न बने। उसी जरतकुमार का तीर भ्रमवश उनके मौत का कारण बन गया। श्रीकृष्ण ने कहा “यही तो विधि की विडम्बना है, जिसे अज्ञानी जीव समझ नहीं पाते और अपने कर्तृत्व के अहंकार में संसारचक्र में फँसे रहते हैं। भाई! शोक मत करो ‘होनहार अलंघनीय है और करनी का फल तो भोगना ही पड़ता है। कभी किसी को हमने सताया होगा, चलो ठीक है, कर्ज चुक गया मरना तो था ही, अब ऐसी भूल की पुनरावृत्ति न हो यह भावना भा लें। देखो, जो श्रीकृष्ण और बलदेव, जीवन भर तो क्या आज भी अपने सत्कर्मों से, देश और समाज की सेवा से, दीन-दुखियों की पीड़ा को समझने और उसे दूर करने से भगवान बनकर पुज रहे हैं। वैभव में अर्द्धचक्री, अपार शक्ति सम्पन्न, महाभारत में अन्याय के विरुद्ध सत्य का साथ देकर विजय दिखानेवाले थे; उनके जन्म और मृत्यु की कहानी हमें स्पष्ट संदेश दे रही है कि -

करम फल भुगतहिं जाय टरै।

पार्श्वनाथ तीर्थकर ऊपर कमठ उपसर्ग करे।
एक वर्ष तक आदि तीर्थकर बिन आहार रहे।
रामचन्द्र चौदह वर्षों तक वन-वन जाय फिरें।

करम फल भुगतहिं जाय टरै ॥१॥

कृष्ण सरीखे जगत मान्य जन, परहित जिये-मरे।
फिर भी भूलचूक से जो जन करनी यथा करे ॥
उसके कारण प्राप्त कर्मफल, भुगतहि जाय झरें।

करम फल भुगतहिं जाय टरै ॥२॥

जनम जैल में शरण ग्वालघर, बृज में जाय छिपे।
जिनके राजकाज जीवन में, दूध की नदी बहे ॥

वे ही चक्री अन्त समय में नीर बूँद तरसे।
 करम फल भुगतहिं जाय टरै ॥३॥
 जरत कुंवर जिसकी रक्षाहित, वन-वन जाय फिरे।
 अन्त समय में वही मौत के कारण आय बने ॥
 ऐसी दशा देख कर प्राणी, क्यों नहिं स्वहित करे।
 करम फल भुगतहिं जाय टरै ॥४॥

बहुत भले काम करने पर भी यदि कभी/किसी का/जाने/अनजाने दिल दुःखाया हो, अहित हो गया हो अथवा अपने कर्तृत्व के झूठे अभिमान में पापार्जन किया हो तो वह भी बिना फल दिए नहीं छूटता। तीर्थंकर मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग, आदि तीर्थंकर ऋषभमुनि को एक वर्ष तक आहार में अन्तराय इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थंकर जैसे पुण्य-पुराण पुरुषों को भी अपने किए पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना ही पड़ा था ! अतः हमें इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखने की जरूरत है कि भूल-चूक से भी, जाने-अनजाने में भी हम किसी के प्राण पीड़ित न करें। अपने जरा से स्वाद के लिए हिंसा से उत्पन्न आहार ग्रहण न करें, अपनी पूरी दिनचर्या में अहिंसक आचरण ही करें।

जब भगवान नेमीनाथ की आयु मात्र एक माह शेष रही तो वे समवशरण सहित गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ समवशरण विघट गया। प्रभु मौन धारण कर गिरनार के सर्वोच्च शिखर पर अयोगी हुए।

नेमीप्रभु के मुक्त होने पर इन्द्रों द्वारा उनका मोक्षकल्याणक महोत्सव मनाया गया। संक्षेप सार यह है कि पहले जो चिन्तागति विद्याधर थे, जिन्होंने प्रीतिमती राजकुमारी की माँग को अस्वीकार किया, तत्पश्चात् चौथे स्वर्ग के देव हुए। पुनः अपराजित राजा हुए। फिर सोलहवें स्वर्ग में गये, वहाँ से चयकर सुप्रतिष्ठित राजा हुए। फिर अहमिन्द्र हुए और अन्त में भरतक्षेत्र के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। वे नेमीनाथ हमारे हृदय में सदैव बसे रहें, जिससे प्रेरणा पाकर हम भी शीघ्र ही उन जैसे परमात्मा पद पा सकें। ●

पारस पत्थर छूने से ज्यों, लोह स्वर्ण हो जाता है।
 पार्श्वप्रभु की शरणागत से, पाप मैल धुल जाता है॥
 जो भी शरण गहे पारस की, आनंद मंगल गाता है।
 पार्श्व प्रभु के आराधन से, पतित पूज्यपद पाता है॥

वर्तमान चौबीस तीर्थकरों में भगवान पार्श्वनाथ बहु चर्चित तीर्थकर हैं। उनकी अधिकांश प्राचीन मूर्तियाँ नाग के (सहस्र) फणोंवाली मिलती है। उसके पीछे एक पौराणिक कथा है, जिसमें धरणेन्द्र-पद्मावती का नाम उभर कर आता है।

कहा जाता है कि जब मुनि पार्श्वप्रभु तपश्चरण करते हुए एक वन प्रदेश में ध्यानस्थ थे, तब एक संवर नामक देव का विमान वहाँ से निकला और मुनि पार्श्वनाथ के ऊपर आते ही अटक गया। संवर देव ने विमान के अटकने के कारणों पर उहापोह किया। उसे ध्यान आया कि “जब कोई तीर्थकरादि महापुरुष अथवा कोई शत्रु के ऊपर से देव विमान जाता है तो वह स्वतः रुक जाता है। अतः देखना चाहिए कि विमान रुकने का कारण क्या है ?” विमान से नीचे उतर कर देखा तो देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। देवों को अवधिज्ञान तो होता ही है। अतः उसे मुनि पार्श्वनाथ को देखते ही अपना पुराना वैर-विरोध याद आ गया और उसने सोचा कि “जिसके कारण मेरा विमान अटका है, यह वही जीव है जिसके कारण मेरा अपमान हुआ था।” फिर क्या था, उसने उन पर नानाप्रकार से ऐसे भयंकर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया, जिसे मानो प्रकृति भी सहन नहीं कर सकी। धरणेन्द्र का आसन डोलने लगा, अवधिज्ञान से उसने जाना कि हम पर परम उपकार करनेवाले पार्श्वप्रभु पर उपसर्ग हो रहा है। तुरन्त धरणेन्द्र वहाँ जा पहुँचे और नाग का रूप धारण कर मुनि पार्श्व पर फण फैला कर उपसर्ग दूर करने में तत्पर हुए।

जब संवर द्वेष की ज्वाला में जल रहा था और धरणेन्द्र पार्श्वनाथ की भक्तिवश राग की लपटों में झुलस रहे थे; उसीसमय मुनिराज दोनों के प्रति समान भाव रखे आत्मसाधना में तत्पर थे और ज्ञाता-दृष्टाभाव से पुण्य-पाप का खेल देख रहे थे।

ध्यानस्थ मुनि पार्श्वनाथ के अन्तर्मुखी अनन्त पुरुषार्थ से कुछ ही समय में केवलज्ञान होने पर उपसर्ग स्वतः ही दूर हो गया; क्योंकि केवली पर उपसर्ग होता ही नहीं है। प्रभु का ऐसा अतिशय देखकर धरणेन्द्र एवं उनके साथ आई पद्मावती ने पार्श्वप्रभु की स्तुति की।

“प्रभु! आपके केवलज्ञान की महिमा अद्भुत है, हम आपकी रक्षा करनेवाले कौन होते हैं? आप तो स्वयं अनन्त बल के धनी हैं, वज्र जैसा आपका शरीर है। अज्ञानी जीव वीतरागियों पर भी राग-द्वेष करके व्यर्थ ही कर्मबंध करते हैं।

प्रभो! आपके प्रताप से हमें धर्म की प्राप्ति हुई और हमारी घोर दुःखों से रक्षा हुई। हे प्रभो! आपके नाम के साथ हमारा नाम जुड़ जाने से हमें सहज ही सम्मान मिल गया। अन्यथा हम जैसे तुच्छ असंयमियों की क्या गिनती है ? प्रभु! आपका नाम पारस है न! और पारस पत्थर के स्पर्श से जब लोहा सोना हो जाता है तो आप तो चैतन्यरत्न हैं। यदि आपका सान्निध्य पाकर हम भी कृतार्थ हो गये तो इसमें क्या आश्चर्य ? जो भी आपकी शरण में आयेगा वह स्वयं पारस बन जायेगा।

सचमुच! परम पूज्य तो आप ही हैं; क्योंकि कार्यपरमात्मा स्वरूप ही श्रावकों द्वारा अष्टद्रव्य से पूजने योग्य हैं। हम भी आपके चरणों की बारम्बार वन्दना करते हैं। इसकारण आपके भक्तजन हमें अपना साधर्मी समझ कर यथायोग्य सम्मान करते हैं तो करें; परन्तु देखादेखी कुछ नासमझ लोग जब हमारा जरूरत से ज्यादा आदर करने लगते हैं तो हमें स्वयं उनके भोलेपन पर तरस आता है और आपके समक्ष अपना बहुमान होते देख लज्जा भी आती है; पर क्या करें ? ना समझ लोग ही दुनिया में अधिक हैं जो गतानुगतिक होते हैं, भेड़चाल चलते हैं।”

धरणेन्द्र-पद्मावती इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति करके वापिस चले गये ।

भगवान पार्श्वनाथ के जीवन दर्शन को समझने के लिए और उनसे प्रेरणा पाने के लिए, उन जैसा बनने के लिए हमें उनके कुछ महत्त्वपूर्ण पूर्व भवों को देखना होगा । उनके पूर्व भवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र लिखते हैं; चतुर्थ काल में पोदनपुर में राजा अरविन्द्र हुए । उनके मंत्री के दो पुत्र थे । ज्येष्ठ पुत्र कमठ और उसका अनुज मरुभूति । यह मरुभूति ही आगे आठ भवों के बाद पार्श्वनाथ हुए हैं ।

कमठ क्रोधी और दुराचारी था और मरुभूति शान्त एवं सरल । क्रोध से जीवों को कितन अहित होता और शान्ति एवं सद्गुणों से प्राणी कितने सुखी होते हैं । यह बात हम कमठ और मरुभूति के चरित्र से सीख सकते हैं ।

कमठ और मरुभूति के पिता तो सिर के श्वेत बाल देखकर राज्यमंत्री के पद से त्याग-पत्र देकर मुनि हो गये । राजा अरविन्द्र ने मंत्री के छोटे पुत्र को शान्त एवं सद्गुणी देखकर अपना मंत्री बना लिया । इस बात से कमठ अपने छोटे भाई मरुभूति से ईर्ष्या करने लगा ।

एक बार राजा अरविन्द्र किसी दूसरे राजा से युद्ध करने गये तो अपने नव नियुक्त मंत्री मरुभूति को भी साथ ले गये । राजा और मंत्री दोनों की अनुपस्थिति में दुष्ट कमठ ऐसा बर्ताव करने लगा, मानो वही राजा हो । राजा का अधिकार दिखाकर प्रजा को परेशान करने लगा । छोटे भाई मंत्री मरुभूति की पत्नी अति सुन्दर थी, उसे देखकर कमठ उस पर मोहित तो था ही, वह कामातुर हो उठा । उसने उसे कपटपूर्वक फुलबाड़ी में बुला कर उसके साथ बलात्कार किया ।

कुछ दिन बाद राजा अरविन्द्र युद्ध का भार मंत्री मरुभूति को सौंपकर स्वयं पोदनपुर लौट आये । वहाँ लोगों के मुँह से जब कमठ के दुराचार की कथा सुनी तब उन्हें विचार आया कि ऐसे अन्यायी दुराचारी का हमारे राज्य में रहना उचित नहीं है । उन्होंने उसका सिर मुंडाकर काला मुँह करके गधे पर बैठाकर नगर से बाहर निकलवा दिया । पापी कमठ की ऐसी दुर्दशा देखकर नगरवासी कहने लगे कि “देखो, पापी जीव अपने पाप का कैसा फल भोग रहा है, इसलिए पापों से दूर रहो ।”

राजा ने कमठ को नगर से निष्कासित कर दिया, जिससे वह बड़ा दुःखी हुआ और तापस लोगों के मठ पर जाकर वहाँ बाबा बनकर रहने लगा। उसे कुछ ज्ञान-वैराग्य तो था नहीं। अज्ञान और क्रोध के कारण वह एक बड़ा पत्थर हाथों में उठाकर खड़े-खड़े तप करने लगा और उसी में धर्म मानने लगा।

युद्ध में गया मरुभूति जब लौटकर आया और उसे ज्ञात हुआ कि उसके बड़े भाई कमठ को राजा ने नगर से निष्कासित कर दिया, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। भाई पर क्रोध न करके मरुभूति ने उससे मिलने तथा घर वापिस लाने का विचार किया और वह उसकी खोज करने निकल पड़ा। ढूँढते-ढूँढते अन्त में उसे कमठ का पता चल गया। उसका भाई साधु बनकर मिथ्या तप कर रहा है, यह देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। वह कमठ के पास जाकर हाथ जोड़कर बोला - “हे भाई! मुझे तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता। जो हुआ सो हुआ, अब आप इस मिथ्या वेश को छोड़कर मेरे साथ घर लौट चलो। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो, इसलिए मुझ पर क्रोध न करके मुझे क्षमा कर दो।” ऐसा कहकर मरुभूति ने भाई कमठ को प्रणाम किया।

परन्तु दुष्ट कमठ का क्रोध तो और भी बढ़ गया। उसने सोचा “इसी के कारण मैं इतना अपमानित हुआ हूँ और अब यहाँ भी मुझे दुःखी करने आया है।” ऐसा विचार कर उसने हाथों में उठाये हुए पत्थर का प्रहार मरुभूति के सिर पर ऐसा किया कि पत्थर लगते ही मरुभूति का प्राणान्त हो गया। क्रोध के कारण सगे भाई की मृत्यु हुई। जिसप्रकार सर्प से कभी अमृत प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार क्रोध से कभी सुख नहीं मिलता। क्षमा जीव का स्वभाव है, उसके सेवन से ही सुख की प्राप्ति होती है।

पत्थर के प्रहार से जब मरुभूति की मृत्यु हुई तो उसे भी भयंकर वेदना के कारण आर्तध्यान हो गया; अभी उसे आत्मज्ञान तो हुआ नहीं था, इसलिए आर्तध्यान से मरकर वह सम्मेदशिखर के निकट वन में विशाल हाथी हुआ।

कमठ ने अपने भाई को पत्थर से मार डाला, यह बात जब आश्रम के तापसों ने जानी तब उन्होंने कमठ को पापी मानकर उसे वहाँ से निकाल दिया। पापी कमठ चोरों के गिरोह में सम्मिलित होकर चोरी करने

लगा। एक बार चोरी करते हुए पकड़े जाने पर उसे भयंकर मार पड़ी, जिससे वह बहुत दुःखी हुआ, परन्तु उसके भावों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अन्त में क्रोध से मरकर वह कुक्कट नाम का सर्प हुआ।

मरुभूति तो मरकर हाथी हुआ, परन्तु राजा अरविन्द को उसकी कोई खबर नहीं मिलने से वह चिन्तित रहने लगा कि मरुभूति मेरा मंत्री अभी तक क्यों नहीं लौटा ? उन्हीं दिनों वहाँ एक अवधिज्ञानी मुनिराज का आगमन हुआ। उनका उपदेश सुनकर राजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई। राजा ने उनसे पूछा कि हमारा मंत्री मरुभूति कहाँ है ? और अभी तक क्यों नहीं आया ?

मुनिराज ने कहा - “हे राजन्! मरुभूति को तो उसके भाई कमठ ने मार डाला है और उसे हाथी की पर्याय मिली है तथा कमठ भी मरकर सर्प हुआ है।”

यह सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ। वह विचारने लगा - “अरे! कैसा है यह संसार! दुष्ट कमठ के संग से मरुभूति भी दुःखी हुआ।”

मुनिराज ने समझाया कि हे राजन्! इस संसार में जीव जबतक आत्मज्ञान नहीं करता तबतक उसे ऐसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं। अपने हित के लिए दुष्ट अज्ञानी जीवों का संग छोड़कर ज्ञानी-धर्मात्माओं का संग करना योग्य है। राजा उदास चित्त से महल में चला गया। एक बार वह राजमहल की छत पर बैठा-बैठा मुनिराज के उपदेश का स्मरण करके वैराग्य का विचार कर रहा था। इतने में आकाश में रंग-बिरंगे मेघ एकत्रित होने लगे और कुछ ही देर में ऐसी रचना हो गई मानो एक सुन्दर जिनमन्दिर हो। अतिसुन्दर दृश्य था वह। उसे विचार आया - “आकाश में ऐसे ही सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कराऊँगा।” ऐसे विचार आते ही उसने उस मन्दिर की आकृति बना लेने की तैयारी की। परन्तु उसने कलम हाथ में ली ही थी कि देखते ही देखते वह मेघ रचना बिखर गई और मन्दिर की आकृति विलीन हो गई।

यह देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गया... “अरे! ऐसा अस्थिर संसार! ऐसे क्षणभंगुर संयोग।... यह राजपाट, यह रानियाँ यह शरीरादि...सब संयोग इन मेघों की भांति बिखर जानेवाले विनाशक हैं। अरे,

ऐसे अस्थिर इन्द्रियविषयों में दिन-रात लगे रहना यह जीव को शोभा नहीं देता। यह शरीर नाशवान है और यह भोग भवरोग को बढ़ानेवाले हैं। जिसे अपना हित करना हो उसे इन भोगों की लालसा में जीवन गंवाना उचित नहीं है। जिसप्रकार यह मेघ रचना क्षणभर में बिखर गई, उसीप्रकार मैं भी अविलम्ब इस संसार को छोड़कर मुनि बनूँगा और आत्मध्यान द्वारा कर्मरूपी बादलों को बिखेर दूँगा।”

इसप्रकार अत्यन्त वैराग्यपूर्वक राजपाट छोड़कर राजा अरविन्द वन में चले गये और निर्ग्रन्थ गुरु के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए। इन्हीं अरविन्द मुनिराज द्वारा हाथी आत्मज्ञान प्राप्त करता है।

सम्मोदशिखर की यात्रा हेतु एक विशाल संघ चला जा रहा था। उस यात्रासंघ में अनेक मुनि तथा हजारों श्रावक थे। अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार कर रहे थे। वे यात्रियों को धर्म उपदेश देते हैं और आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, जिसे सुनकर सबको बड़ा ही आनन्द होता है। कभी भक्तिभावपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने का अवसर प्राप्त होने से श्रावकों को महान हर्ष होता है। इसप्रकार धार्मिक लाभ लेते हुए समस्त साधर्मीजन परस्पर धर्मचर्चा और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करते हुए सम्मोदशिखर की ओर चले जा रहे थे। चलते-चलते उस संघ ने एक वन में पड़ाव डाला। शांत सुन्दर वन हजारों मनुष्यों के कोलाहल से गूँज उठा। जंगल में मानो एक नगर बस गया। मुनिराज अरविन्द एक वृक्ष के नीचे आत्मध्यान में बैठ गये। इतने में एक घटना घटी।

एक विशाल हाथी पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगा, जिससे लोगों में भगदड़ मच गई। वह हाथी और कोई नहीं, पार्श्वनाथ का ही जीव था। वह हाथी उस वन का राजा था और स्वच्छन्द होकर विचरण करता था। वन में एक सरोवर था, जिसमें यह प्रतिदिन स्नान करता था, वन के मिष्ठ फल-फूल खाता था और हथिनियों के साथ क्रीड़ा करता था। घने निर्जन वन में इतने अधिक मनुष्य और वाहन उस हाथी ने कभी देखे नहीं थे, इसलिए वह एकदम भड़क उठा और पागल होकर लोगों को कुचलने लगा। लोग

चिल्लाते और हाहाकार करते इधर-उधर दौड़ रहे थे। कितनों को उसने पैरों से कुचला तो कितनों को सूढ़ में उठा-उठाकर पछाड़ दिया। रथों को तोड़ डाला और वृक्षों को उखाड़ दिया। अनेक लोग भयभीत होकर रक्षा हेतु मुनिराज की शरण में जा पहुँचे।

पागल हाथी चारों ओर हाहाकार मचाता हुआ, चिंघाड़ता हुआ उधर आया जहाँ अरविन्द मुनिराज विराजते थे। लोग डरके मारे कांप उठे कि न जाने यह पागल हाथी मुनिराज को क्या कर डालेगा? मुनिराज तो शांत होकर बैठे थे। उन्हें देखते ही वह हाथी सूँढ़ उठाकर उनकी ओर दौड़ा तो; परन्तु... अरविन्द मुनिराज के वक्ष में एक चिह्न को देखते ही वह एकदम शांत हो गया, उसे लगा कि अरे, इन्हें मैंने कहीं देखा है? यह तो मेरे कोई परिचित और हितैषी लगते हैं। ऐसा विचारते हुए वह एकदम शांत खड़ा रहा, उसका पागलपन मिट गया और मुनिराज के सन्मुख सूँढ़ झुकाकर बैठ गया।

लोग आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे कि अरे, मुनिराज के सामने आते ही इसे क्या हो गया? इस घटना से प्रभावित लोग मुनिराज के आसपास एकत्रित हो गये। मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा हाथी के पूर्वजन्म को जान लिया और शांत बैठे हुए हाथी को सम्बोधन कहा - अरे, गजराज, पूर्वभव में तू हमारा मंत्री मरुभूति और मैं राजा अरविन्द था। मैं तो मुनि हुआ हूँ और तू मेरा मंत्री होकर भी आत्मा को भूला और आर्तध्यान करने से तुझे पशु पर्याय प्राप्त हुई अब चेत और आत्मा की पहिचान कर!

मुनिराज के सम्बोधन से उसे वैराग्य हो गया और अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अपने दुष्कर्म के लिए उसे पश्चाताप होने लगा, उसकी आँखों में अश्रुधारा बहने लगी, वह विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर मुनिराज के सन्मुख देख रहा था। प्राकृतिक रूप से उसका ज्ञान इतना विकसित हुआ कि वह मनुष्य की भाषा समझने लगा, और उसे मुनिराज की वाणी सुनने की जिज्ञासा जाग्रत हो उठी।

मुनिराज ने जब जाना कि इस हाथी के परिणाम विशुद्ध हुए हैं, इसे आत्मा समझने की तीव्र जिज्ञासा जाग्रत हुई है और यह तो एक भावी तीर्थकर है तब अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक वे हाथी को उपदेश देने लगे

अरे गजराज! तू शांत हो, यह पशु पर्याय कहीं तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो शरीर से भिन्न चैतन्यमय आत्मा है, आत्मा को जाने बिना तूने अनेक भवों में दुःख भोगे हैं, इसलिए अब आत्मा के स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर! सम्यग्दर्शन ही जीव को महान सुखकारी है। राग और ज्ञान को एकमेक अनुभवने का अविवेक तू छोड़...! तू प्रसन्न हो...सावधान हो...और सदा उपयोगरूप स्वद्रव्य ही मेरा है – ऐसा अनुभव कर! उससे तुझे अति आनन्द होगा। तू निकटभव्य है, इसलिए आज ही ऐसा अनुभव कर!

मुनिराज उसे आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाते हैं। अरे जीव, तेरा आत्मा अनंत गुण रत्नों का भण्डार है...यह हाथी का विशाल शरीर तो पुद्गल है, यह कहीं तू नहीं है, तू तो ज्ञानस्वरूप है, तेरे ज्ञानस्वरूप में पुण्य-पाप नहीं है। तू तो वीतरागी आनन्दमय है – ऐसे अपने स्वरूप को अनुभव में ले।”

ऐसे अनेक प्रकार से मुनिराज ने सम्यग्दर्शन करने का उपदेश दिया, जिसे सुनकर हाथी के परिणाम अंतर्मुख हुए और अंतर में अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप का अवलोकन करने से उसे सम्यग्दर्शन हो गया, परम आनन्द का अनुभव हुआ...उसे ऐसा भासित हुआ कि “अमृत का सागर मेरे आत्मा में लहरा रहा है...परभावों से भिन्न सच्चे सुख का अनुभव आत्मा में हो रहा है। क्षणमात्र ऐसे आनन्द के अनुभव से अनन्त भव की थकान उतर जाती है। “ऐसे आत्मा का बारम्बार अनुभव करने का उसे मन हुआ। उपयोग पुनः पुनः अंतर में एकाग्र होने लगा। उस अनुभव की अचिन्त्य अपार महिमा को कोई पार नहीं था। आत्म उपयोग सहजरूप से शीघ्रतापूर्वक अपने स्वरूपोन्मुख होने से सहज निर्विकल्प स्वरूप अनुभव में आया। चैतन्यप्रभु अपने एकत्व से आकर निजानन्द में डोलने लगा। वाह! आत्मा का स्वरूप कोई अद्भुत है! परमतत्त्व को पाकर मैंने चैतन्य प्रभु को अपने में ही देखा।”

इसप्रकार आत्मानुभूति होने से हाथी के आनन्द का कोई पार नहीं रहा। उसकी आनन्दमय चेष्टाएँ तथा आत्मशांति देखकर मुनिराज को भी लगा कि इस हाथी को आत्मज्ञान हो चुका है, मुनिराज ने प्रसन्न होकर, हाथ उठाकर हाथी को आशीर्वाद किया। संघ के हजारों लोग भी यह दृश्य देखकर अति हर्षित हुए। एक क्षण में यह क्या हो गया...वह सब आश्चर्य से देखने लगे।

हाथी सोचता है - “पूर्वकाल में आत्मा को जाने बिना आर्तध्यान करके मैंने पशुपर्याय पायी, परन्तु अब इन मुनिराज के निमित्त और मेरी भली होनहार से मुझे आत्मज्ञान हुआ है, अब आत्मा के ध्यान द्वारा मैं शीघ्र परमात्मा होऊँगा।” ऐसा विचार कर वह हाथी सूँढ़ झुका-झुकाकर मुनिराज को नमस्कार कर रहा था।

मुनिराज के पास धर्म का उपदेश सुनकर अनेक जीवों ने व्रत धारण किये। हाथी को भी भावना जाग्रत हुई कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी उत्तम मुनिधर्म अंगीकार करता, इसप्रकार मुनिधर्म की भावनासहित उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके उसने पाँच अणुव्रत धारण किये।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके व्रतधारी हुआ वह वज्रघोष हाथी बारम्बार मस्तक झुकाकर अरविन्द मुनिराज को नमन करने लगा, सूँढ़ ऊँची-नीची करके उपकार मानने लगा। हाथी की ऐसी धर्मचेष्टा देखकर श्रावक बहुत संतुष्ट हुए और जब मुनिराज ने घोषणा की कि यह हाथी का जीव आत्मोन्नति करते-करते भरत क्षेत्र में तेईसवाँ तीर्थंकर होगा तब तो सबको अत्यन्त हर्ष हुआ। हाथी को धर्मात्मा जानकर श्रावक उसे प्रेमपूर्वक निर्दोष आहार देने लगे।

यात्रासंघ ने कुछ समय उस वन में रुककर फिर सम्मेशिखर की ओर प्रस्थान किया। अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार करने लगे तब वह हाथी भी विनयपूर्वक अपने गुरु को विदा करने हेतु कुछ दूर तक पीछे-पीछे चलता रहा अंत में मुनिराज को पुनः पुनः वंदन करके अपने वन की ओर लौट चला।

अब, वह पाँच व्रतों सहित निर्दोष जीवन जी रहा था, स्वयं जिस शुद्ध आत्मा का अनुभव किया, उसकी बारम्बार भावना करता था। किसी भी जीव को सताता नहीं था, जिसमें त्रसहिंसा हो ऐसा आहार नहीं करता, शांतभाव से रहकर सूखे हुए घास-पत्ते खाता था, कभी-कभी उपवास भी करता था। चलते समय देख-देखकर पाँव रखता था, हथिनियों का संघ उसने छोड़ दिया था। विशाल शरीर के कारण अन्य जीवों को कष्ट न हो इसलिए वह शरीर का बहुत हलन-चलन नहीं करता, वन के अन्य प्राणियों के साथ

शांति से रहता था। हाथी की ऐसी शांत चेष्टा देखकर दूसरे हाथी उसकी सेवा करते, वन के बन्दर तथा अन्य पशु भी उससे प्रेम करते और सूखे हुए घास-पत्ते लाकर उसे खिलाते हैं।

पूर्वभव का उसका भाई कमठ, जो क्रोध से मरकर विषधर सर्प हुआ था, वह भी इसी वन में रहता था और जीव-जन्तुओं को मारकर खाता था तथा नवीन पापबंध करता था। एक दिन प्यास लगने से वह हाथी सरोवर के निकट आया, सरोवर के किनारे वृक्षों पर अनेकों बन्दर रहते थे, वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। सरोवर का स्वच्छ जल पीने के लिए वह हाथी कुछ भीतर तक गया कि उसके पाँव कीचड़ में फंस गये बहुत प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं सका। तब उसने आहार-जल का त्याग करके समाधिमरण की तैयारी की वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके आत्मा का चिंतन करने लगा। वैराग्यपूर्वक वह ऐसा विचारने लगा कि “अरे, अज्ञान से कुमरण तो मैंने अनन्तबार किये, किन्तु यह अवतार सफल है कि जिसमें समाधिमरण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। श्री मुनिराज ने मुझे पर महान कृपा करके देह से भिन्न आत्मस्वरूप मुझे समझाया, मेरे चैतन्यनिधान मुझे बतलाये। उनकी कृपा से मैंने अपना निजवैभव अपने आत्मा में देखा है। बस, अब इस देह से भिन्न आत्मा की भावना द्वारा मैं समाधिमरण करूँगा।”

हाथी को कीचड़ में फंसा देखकर वन के बन्दर उसे बचाने के लिए किलकारियाँ मारने लगे, परन्तु वे छोटे-छोटे बन्दर उसे कैसे बाहर निकालते ? इतने में सर्प हुआ कमठ का जीव फुंकारता हुआ वहाँ आया, हाथी को देखते ही पूर्वभव के संस्कार के कारण उसे तीव्र क्रोध आया और दौड़कर हाथी को दंश मार दिया। कालकूट विषैले सर्प के दंश से हाथी को विष चढ़ गया और कुछ ही देर में उसका प्राणान्त हो गया। परन्तु इस बार उसने पहले की भांति आर्तध्यान नहीं किया, इसबार तो आत्मा के ज्ञानसहित धर्म की उत्तम भावना भाते-भाते उसने समाधिमरण किया और शरीर को त्यागकर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ।

सर्प ने हाथी को डस लिया यह देखकर बन्दरों को बड़ा क्रोध आया और उन बन्दरों ने उस सर्प को मार डाला, पापी सर्प आर्तध्यान से मरकर पाँचवें नरक में जा पहुँचा। किसी समय जो दोनों सगे भाई थे,

उनमें से पुण्य-पाप के फलानुसार एक तो स्वर्ग में गया और दूसरा नरक में। परिणामों की विचित्रता से यह सब संसार के सुख-दुःख का दृश्य पाठकों को यह प्रेरणा देता है कि हमें व सब अवसर सौभाग्य के सुलभ हैं, जिनमें हम कुछ ऐसा कर सकते हैं जो अभी तक नहीं किया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी हुआ और आत्मज्ञान प्राप्त किया, वहाँ से समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में शशिप्रभ नामक देव हुआ। स्वर्ग की दिव्य विभूति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और अवधिज्ञान से जान लिया कि मैंने हाथी के पूर्वभव में धर्म की आराधना सहित जो व्रतों का पालन किया था उसका यह फल है, ऐसा जानकर उसे धर्म के प्रति विशेष भक्ति-भावना हुई, पूर्वभव में आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले मुनिराज के उपकार का पुनः पुनः स्मरण किया, पश्चात् स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिनबिम्ब की पूजा की। वह असंख्यात वर्षों तक स्वर्गलोक में रहा। वहाँ बाह्य में अनेकप्रकार के कल्पवृक्षों से सुख-सामग्री प्राप्त होती थी और अंतर में चैतन्य-कल्पवृक्ष के सेवन से वह सच्चे सुख का अनुभव करता था। देखो तो सही, वीतराग धर्म की आराधना से एक पशु भी देव हो गया और कुछ ही काल पश्चात् तो वह भगवान होगा!

कमठ का जीव जो कि सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवे नरक में गया और असंख्य वर्ष तक तीव्र दुःख भोगे। उसकी क्षुधा-तृषा का कोई पार नहीं था, उसके शरीर के प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे, लोहे का विशाल पिण्ड भी गल जाये ऐसी तो वहाँ सदी थी, करवत और भालों से उसका शरीर कटता और छिदता था, आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं और अच्छे भाव भी नहीं थे, अज्ञान एवं अशुभ भावों से वह अत्यन्त दुःखी होता था। पूर्वभव में अपने भाई के प्रति जो तीव्र क्रोध के संस्कार थे, वे भी उसके छूटे नहीं थे। क्रोध में नरक से निकलकर वह एक भयंकर अजगर हुआ।

भगवान पार्श्वनाथ का जीव स्वर्ग से चलकर जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्मा। उस पर्याय में उसका नाम था अग्निवेग। अग्निवेग आत्मज्ञान साथ लेकर आये थे। एक छोटे से ज्ञानी की बाल चेष्टाएँ देखकर

सबको बड़ा आनन्द होता था। एक बार राजकुमार अग्निवेग वन में जाकर वन की शोभा निहार रहे थे, वहाँ अचानक उन्होंने एक साधु को देखा। वे साधु आत्मचिंतन में एकाग्र थे। उन्हें देखकर अग्निवेग को हार्दिक प्रसन्नता हुई, निकट जाकर उनकी वंदना करके वह उनके निकट बैठ गया और आत्मा का विचार करने लगा कि - “अहा ! धन्य है ऐसी साधुदशा!” कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर पुनः नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर कहा - “हे भव्य! आत्मा के सम्यक् स्वभाव को तो तुमने जाना है, अब उस स्वभाव को विशेषरूप से साधने के लिए तुम मुनिदशा का चारित्र अंगीकार करो, अब तुम्हारा संसार अति अल्प शेष रहा है, मनुष्य के तीन भव करके तुम मोक्ष प्राप्त करोगे। पहले तुम चक्रवर्ती होगे और फिर तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे।”

मुनिराज के मुख से अपने मोक्ष की बात सुनकर अग्निवेग अति आनन्दित हुआ। उसे संसार के प्रति तीव्र वैराग्य जागृत हुआ। “अरे, मुझे तो अल्पकाल में मोक्ष साधना है, अतः इस राजपाट में बैठे रहना मेरे लिए उचित नहीं है, मैं तो आज ही मुनि बनकर आत्मसाधना में एकाग्र होऊँगा।” इसप्रकार युवावस्था में उन राजकुमार ने विरागी होकर मुनिराज के निकट जिनदीक्षा ली, साधुदशा धारण की।

पूर्वभव का कमठ जो कि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर विशाल अजगर हुआ था, वह अजगर भी विदेहक्षेत्र के इसी वन में रहता था। वह शिकार की खोज में इधर-उधर भटकता रहता था। वह जंगल के पशुओं को पूरे का पूरा निगल जाता था। एक दिन मुनिराज अग्निवेग ध्यान में लीन थे कि वह अजगर वहाँ आ पहुँचा और उसने फुंफकारते हुए क्रोधपूर्वक मुनिराज को निगल लिया। मुनिराज ने आत्मध्यान पूर्वक समाधिमरण किया और सोलहवें स्वर्ग में गये। देखो तो सही उनकी क्षमा! अजगर ने निगल लिया तथापि उस पर क्रोध नहीं किया और स्वयं आत्मा की साधना में लीन रहे। क्रोध में दुःख है और आत्मा की साधना में ही परम शांति है। ऐसे शांत भावों से उन्होंने समाधिमरण किया और सोलहवें स्वर्ग में गये और अजगर क्रोधी भाव के कारण पुनः छठवें नरक में जा पड़ा। दोनों की आयु बाईस सागर

थी। जो दोनों सहोदर भ्राता थे, उनमें से एक ने तो बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोगे तथा दूसरा उतने ही काल तक नरक के दुःख सहन करके दोनों मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए, उनमें से एक तो वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ और दूसरा शिकारी भील हुआ।

चक्रवर्ती का अद्भुत वैभव होने पर भी वे वज्रनाभि जानते थे कि इस समस्त बाह्य वैभव की अपेक्षा हमारा अनन्त चैतन्य वैभव भिन्न प्रकार का है, वही सुख का दातार है, बाह्य का कोई वैभव सुख देनेवाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव तो अल्पकाल ही रहनेवाला है, और हमारा आत्मवैभव अनन्तकाल तक साथ रहेगा। सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्षसाम्राज्य प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है। ऐसी प्रतीति सहित वे जगत से उदास थे -

चक्रवर्ती राज्य में रहने पर भी अन्तर में अद्भुत ज्ञान परिणति सहित वे प्रतिदिन अरिहंतदेव की पूजा, मुनिवरों की सेवा, शास्त्रस्वाध्याय, सामायिकादि क्रियाएँ करते थे। इसप्रकार धर्म संस्कारों से परिपूर्ण उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्श रूप था।

एकबार उनकी नगरी में क्षेमंकर मुनिराज पधारे, उनकी मुद्रा प्रशमरस झरती-वीतरागी थी और वे अवधिज्ञान के धारी थे। वज्रनाभि चक्रवर्ती उनके दर्शन करने गये और उन्हें देखते ही उनके नेत्रों से आनन्द उमड़ने लगा। उन्हें ऐसा लगा कि - वीतरागी तीन रत्नों के समक्ष यह चक्रवर्ती के चौदहरत्न बिलकुल तुच्छ हैं ! उन्होंने मुनिराज की वन्दना एवं स्तवन करके आत्महित का उपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रकट की।

तब मुनिराज ने उनको मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का स्वरूप समझाया, जो स्वतंत्ररूप से आत्मा में, आत्मा के द्वारा ही प्रगट होता है और कहा कि मोक्ष हेतु ऐसा वीतराग भाव ही कर्तव्य है। हे भव्य! तुम इस संसार दुःख से छूटना चाहते हो तो ऐसी चारित्र्यदशा अंगीकार करो। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, राग तो दुःख है, इसलिये कहीं भी किंचित राग न करके, वीतराग होकर भव्यजीव भवसमुद्र से पार होते हैं। हे राजन्! तुम भी ऐसे वीतराग धर्म की साधना में तत्पर

होओ। तुम्हें आत्मप्रतीति तो है ही, और अब तुम्हारे तीन भव शेष है, पश्चात् तुम तीर्थकर होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे।”

मुनिराज का ऐसा वीतराग उपदेश सुनकर वज्रनाभि चक्रवर्ती अति प्रसन्न हुए और उनको भी उत्तम वैराग्य भावनाएँ जाग्रत हुईं। शरीर एवं भोगों से उनका चित्त उदास हो गया और धर्म के प्रति उत्साह अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने मुनिराज से अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिदीक्षा देने की प्रार्थना की। “हे प्रभो! इस दुःखमय संसार से मेरा उद्धार करो। रत्नत्रयरूपी नौका द्वारा मैं भी इस भवसमुद्र से पार होना चाहता हूँ। संसार में कहीं सुख नहीं है, इसलिये तीर्थकर भी संसार को त्यागकर मोक्ष की साधना करते हैं। हे प्रभो! मैं भी मुनिदीक्षा लेकर तीर्थकर जिस पथ पर चले उसी पथ पर चलना चाहता हूँ।”

मुनिराज ने कहा - “हे भव्य! तुम्हारी भावना उत्तम है। तुम चक्रवर्ती की सम्पदा को असार जानकर त्यागने हेतु तत्पर हुए हो और सारभूत रत्नत्रय को धारण करना चाहते हो तुम्हें धन्य है!” ऐसा कहकर क्षेमंकर मुनिराज ने वज्रनाभिचक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी। वे चक्रवर्ती अब राजपाट छोड़कर जिनमुद्राधारी मुनि हो गये। छह खण्ड की विभूति से उन्हें तृप्ति नहीं हुई, इसलिये मोक्ष का अखण्ड सुख साधना चाहते हैं।

गजराज के ऊपर रत्नजड़ित होदे पर आरूढ़ होकर चलने वाले चक्रवर्ती अब नंगे पाँव वनकी पथरीली भूमि पर चलने लगे। रत्न-मणिजड़ित वस्त्रालंकारों को छोड़कर नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी वे मुनिराज अब रत्नत्रयरूपी आभूषणों से सुशोभित हो रहे थे। सुवर्ण-थालों में भोजन लेने वाले अब हथेलियों में खड़े-खड़े आहार करने लगे। चौदहरत्न छोड़कर उन्होंने रत्नत्रयरूप तीन रत्न ग्रहण किये, नव निधानों को त्यागकर अखण्ड आनन्द निधान की साधना में लग गये।

एक बार वे मुनिराज वन की एक शिलापर बैठे-बैठे आत्मध्यान में लवलीन थे। सिद्ध भगवान समान अपने आत्मा का बारम्बार अनुभव करते थे। जंगल में आसपास क्या हो रहा है उसका उन्हें रंचमात्र भी लक्ष्य नहीं था। “मैं तो देह से भिन्न आत्मा हूँ मुझमें परिपूर्ण परमात्मा शक्ति विद्यमान है..” इत्यादि ध्यान में एकाग्र थे कि इतने में दूर से एक तीर सनसनाता हुआ आया और मुनिराज का शरीर विंध गया।

कहाँ से आया था वह तीर ? इस बात का पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि उनका पूर्वभव का भाई कमठ का जीव जो कि नरक से निकलकर कुरंग नाम का शिकारी भील हुआ था, मांस का लोलुपी वह भील इसी वन में रहता था और धनुष बाण द्वारा क्रूर परिणामों से हिरन आदि निर्दोष पशुओं की हिंसा किया करता था और महान पापबंध कर रहा था। वन में चलते-फिरते वह भील वहाँ आ पहुँचा जहाँ मुनिराज ध्यान मग्न विराजमान थे। मुनिराज को देखकर पूर्वभव के संस्कारवश उसे क्रोध आया और धनुष पर बाण चढ़ाकर मुनिराज पर चला दिया। मुनिराज का शरीर विंध गया।

क्रोधान्ध जीव उन भगवान सदृश मुनिराज की महानता को नहीं पहचान सका और ध्यान में स्थिर उन अहिंसक मुनिराज की अकारण हिंसा करके उस जीव ने तीव्र क्रोध से सातवें नरक की आयु का बंध किया। वह नहीं जानता था कि क्रोध के फल में इतने भयंकर दुःख भोगने पड़ेंगे।

इधर, शरीर विंध जाने पर भी मुनिराज तो अपने आत्म स्वभाव में निश्चल थे, उनके ध्यान में कोई शत्रु-या मित्र नहीं था, राग या द्वेष नहीं था। कोई पूजे या कोई बाण मारे-दोनों के प्रति उन्हें समभाव था, जीवन और मरण में भी समभाव था, उनको शरीर का ममत्व नहीं था, आत्मा के आनन्द में इतने लीन हुए कि शरीर छिदने पर भी दुःखी नहीं हुए, वे तो निर्मोह रूप से धर्मध्यान में ही एकाग्र थे। बाण मारने वाले भील पर भी उन्हें क्रोध नहीं आया। समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर वे मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए उन अहमिन्द्र की आयु २७ सागरोपम थी और सातवें नरक में उत्पन्न हुए उस कमठ के जीव की आयु भी २७ सागरोपम थी। और यहाँ से निकलकर दोनों जीव मनुष्यलोक में फिर मिलेंगे। स्वर्गलोक का आश्चर्यजनक वैभव देखकर वे अहमिन्द्र विचार में पड़ गये और उनको अवधिज्ञान प्रगट हुआ, उन्होंने अपना पूर्वभव जान लिया, इससे धर्म की अतिशय महिमा आयी।

अहमिन्द्र स्वर्ग से निकलकर मरुभूति का जीव तो अयोध्यानगरी में राजकुमार आनन्दकुमार के रूप में अवतरित हुआ और कमठ का जीव नरक से निकलकर क्रूर सिंह हुआ।

राजकुमार आनन्द स्वयं आत्मानन्द का अनुभव करते थे और दूसरों को भी आनन्द देते थे। बड़े होने पर वे महामाण्डलिक राजा हुए, आठ हजार राजा उनके अधिकार में थे। इतने महान राजा होने पर भी वे धर्म को नहीं भूले थे। वे धर्मात्माओं का सन्मान तथा विद्वानों का आदर करते थे। उनके शासन में अयोध्या की प्रजा सर्वप्रकार से सुखी थी।

फाल्गुन मास में बसन्त ऋतु आयी और उद्यान सुन्दर पुष्पों से खिल उठे। धर्मात्माओं के अंतर के उद्यान भी श्रद्धा-ज्ञान एवं आनन्द के पुष्पों से खिल उठे। आनन्द महाराजा राजसभा में बैठे थे और धर्मचर्चा द्वारा सबको आनन्दित कर रहे थे। इतने में मंत्री ने आकर कहा - “हे महाराज! कल से अष्टान्हिका पर्व प्रारम्भ हो रहा है, इसलिये आठ दिन तक जिन मन्दिर में नन्दीश्वर-पूजा का आयोजन किया है, आप भी इस उत्सव में पधारकर नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा करें।”

अष्टान्हिका पर्व का मंगल उत्सव चल रहा था, उन्हीं दिनों विपुलमति नाम के एक मुनिराज जिनमंदिर में आये। एक तो भगवान की पूजा का उत्सव और उसी में मुनिराज का आगमन। इससे सारे नगर में हर्ष छा गया। राजा एवं प्रजा सबने भक्तिभाव सहित मुनिराज के दर्शन किये।

विरागी मुनिराज ने कहा - “हे भव्यजीवो! यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान एवं सुखरूप है, इसे पहिचानो! सम्पूर्ण जगत में घूम-फिर कर देखा, परन्तु आत्मा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सुख दिखायी नहीं दिया। आत्मा का सुख आत्मा में ही है, वह बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। आत्मा को जानने से ही आत्मसुख की प्राप्ति होती है। जिनशासन में अरहंत भगवान ने ऐसा कहा कि पूजा व्रतादि के शुभराग से पुण्यबंध होता है और मोह रहित जो वीतरागभाव है वह धर्म है, उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।”

पुनश्च, मुनिराज ने कहा - “नन्दीश्वरद्वीप में बावन शाश्वत जिनालय हैं और उनमें ५६१६ वीतरागी जिनबिम्ब विराजमान हैं। वे जिनबिम्ब आत्मा के शुद्धस्वरूप के प्रतिबिम्ब हैं और आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आने पर मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। उस नन्दीश्वर द्वीप में मनुष्य नहीं जा सकते,

वहाँ देव ही जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा का शुद्ध स्वभाव शाश्वत अनादि का है, उसीप्रकार उसके प्रतिबिम्ब रूप में वे वीतराग जिन प्रतिमाएँ भी शाश्वत अनादि की हैं। वे भले अचेतन हों; किन्तु चैतन्यगुणों के स्मरण का निमित्त है। वे मूक जिन प्रतिमाएँ ऐसा उपदेश देती हैं कि संकल्प-विकल्प छोड़कर तुम अपने स्वरूप में स्थिर हो जाओ। जिसप्रकार चिन्तामणि के चिन्तन द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार तुम जिस स्वरूप में प्रभु का ध्यान करोगे उसी स्वरूप तुम होंगे। अरे, जिसे जिनदेव के प्रति भक्ति नहीं है वह तो संसार समुद्र के बीच विषय-कषायरूपी मगर के मुख में ही पड़ा है।”

राजा आनन्द को संबोधित हुए मुनिराज ने कहा - “हे राजन्! अब आपके दो ही भव शेष हैं। इस भव में तीर्थकर प्रकृति बाँधकर आगामी दूसरे भव में आप भरत क्षेत्र में २३वें तीर्थकर होंगे और सम्मेदशिखर से मोक्ष को प्राप्त करोगे।”

एक दिन राजा ने अपने सिर में एक श्वेत बाल देखा, और तुरन्त ही उनका हृदय वैराग्यरस से भर गया। ‘अरे, यह श्वेत बाल मृत्यु का सन्देश लेकर आया है। इसलिये अब मुझे आत्मकल्याण में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।’ ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वे आनन्द महाराजा वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करने लगे और सागरदत्त मुनि के समीप मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि होकर शुद्धोपयोग द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हुए और अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में निमग्न हो गये। अनेक ऋद्धियाँ भी उनके प्रकट हुईं, परन्तु उनका लक्ष्य तो चैतन्यऋद्धि पर ही था। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का तो उनके अभाव था, वे तो धर्मध्यान में एकाग्र रहते थे और कभी-कभी शुक्लध्यान भी ध्याते थे।

वे मुनिराज बारम्बार शुद्धोपयोगरूपी जल द्वारा चारित्रवृक्ष का सिंचन करते थे। ऐसे मुनिराज ने दर्शन विशुद्धि से लेकर रत्नत्रयधर्म के प्रति परम वात्सल्य तक की सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। शिवपुर पहुँचने में अब मात्र एक ही भव बीच में शेष बचा था।

वे मुनिराज एक बार वन में निष्कंप रूप से ध्यान मग्न थे कि इतने में गर्जना करता हुआ एक सिंह वहाँ आ पहुँचा। उसकी भीषण गर्जना से सारा वन काँप उठा, वन के पशु-पक्षी भयभीत होकर इधर-उधर भागने

लगे। छलाँगें मारता हुआ वह सिंह वन में स्वच्छन्द विचरता था। वह सिंह दूसरा कोई नहीं किन्तु कमठ का ही जीव था। ध्यानस्थ मुनिपर उसकी दृष्टि पड़ते ही उसने क्रोध से गर्जना की और मुनिराज की ओर दौड़ा। मुनिराज किंचित मात्र भी भयभीत नहीं हुए, वे तो निर्भय रूप से अपने ध्यान में लीन थे। सिंह ने छलाँग मारकर उनका गला दबोच लिया और पंजों से शरीर को फाड़कर खाने लगा। वह नहीं जानता था कि मैं जिनके शरीर को खा रहा हूँ वे ही मेरे गुरु बनकर इस दुःखद संसार से मेरा उद्धार करेंगे।” मुनिराज! आनत स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह भी क्रूर परिणामों से मरकर पुनः नरक में जा गिरा।

जब इन्द्र की आयु में छह मास शेष रहे और वाराणसी नगरी (काशी-बनारस) में पार्श्वनाथ की तीर्थकररूप में अवतरित होने की तैयारी होने लगी। तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ प्रभु के अवतरण का समय आ चुका था। राजभवन के प्रांगण में प्रतिदिन आकाश से करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी पन्द्रह मास तक वह रत्नवृष्टि होती रही।

उस समय वाराणसी में राजा अश्वसेन राज्य करते थे। वे अति गंभीर थे, सम्यग्दृष्टि थे। अवधिज्ञान के धारी तथा वीतराग देव-गुरु के परम भक्त थे। उनकी महारानी वामा देवी भी अनेक गुणसम्पन्न थीं। उन दोनों का आत्मा तो मिथ्यात्व मल से रहित था ही, किन्तु उनका शरीर भी मलमूत्र रहित था। ज्ञातव्य है कि तीर्थकर को उनके माता-पिता, चक्रवर्ती को बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलिया को मल मूत्र नहीं होते।

एक दिन महारानी वामादेवी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण कर गहरी नींद में सो रही थी, वह निद्राधीन थीं, वैशाख कृष्ण द्वितीया का दिन था, तब उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में १६ मंगल स्वप्न देखे जो भगवान पार्श्वनाथ के माता के गर्भ में आने के सूचक थे।

महाराजा अश्वसेन के स्वप्नों का फल जानकर माता का हृदय आनन्द से भर गया। प्रभात होते ही राजसभा में जाकर माताजी का महाराज ने इन्द्रों तथा इन्द्रानियों ने आकर खूब सम्मान किया और

गर्भकल्याणक उत्सव करके उनकी स्तुति की। छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगीं। वे बारम्बार तीर्थकर के गुणगान करके माताजी के साथ आनन्ददायक चर्चा करती थीं -

पौष कृष्णा एकादशी के शुभदिन तेईसवें तीर्थकर का अवतार हुआ। तीनों लोक आनन्दित हो गये। स्वर्ग में भी अपने आप दिव्य वाद्य बजने लगे। इन्द्र ने जान लिया कि भरतक्षेत्र में तेईसवें तीर्थकर का अवतार हुआ है, इसलिये तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर भक्तिपूर्वक उन बाल तीर्थकर को नमस्कार किया और ऐरावत हाथी पर बैठकर जन्मोत्सव मनाने मेरु पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ प्रभु का जन्माभिषेक किया। इन्द्र-इन्द्राणी आनन्द से नाच उठे। उन्होंने प्रभु का नाम 'पार्श्वकुमार' रखा। पार्श्वकुमार के जन्माभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्य यह है कि आकाश में कहीं भी पुष्पवृक्ष न होने पर भी पुष्प वर्षा हो रही थी।

मेरुपर्वत पर पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं - "हे प्रभो! आप तो पवित्र ही हो, आपका न्हवन करने के बहाने वास्तव में तो हमने अपने ही पापों को धो डाला है।" इन्द्रानी कहती है - "हे प्रभो! आपको रत्नाभूषणों से अलंकृत करते हुए ऐसा अनुभव होता है मानों मैं अपने ही आत्मा को धर्मरत्नों से अलंकृत कर रही हूँ।" ऐसा कहकर इन्द्रानी ने बाल तीर्थकर को स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण पहिनाए और रत्न का तिलक लगाया। इसप्रकार पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके तथा देवलोक के दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर प्रभु के जन्मोत्सव की शोभायात्रा बनारस नगरी लौट आयी और वामादेवी माता को उनका पुत्र सौंपकर इन्द्र-इन्द्रानी ने कहा - "हे माता! आप जगत की माता हैं, आपने जगत को यह ज्ञानप्रकाश दीपक प्रदान किया है, आपका यह पुत्र तीन लोक का नाथ है।"

इसप्रकार पारसकुमार का जन्मोत्सव मनाकर माता-पिता को उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट देकर वे इन्द्र-इन्द्रानी देवों सहित अपने स्वर्गलोक में चले गये।

भगवान को जन्म से ही मति-श्रुत-अवधिज्ञान और क्षायिक सम्यग्दर्शन था, उनका स्वभाव अति सौम्य

था। किसी के पास विद्या सीखना तो उन्हें था ही नहीं, आत्मविद्या को जानने वाले उन भगवान में अन्य सर्व विद्याएँ भी स्वयमेव आ गई थीं।

युवा राजकुमार को देखकर एकबार माता-पिता ने उनसे विवाह का अनुरोध किया और कहा कि किसी सुन्दर, गुणवान राज कन्या के साथ वे विवाह करें, परन्तु पार्श्वकुमार ने अनिच्छा प्रदर्शित की। माताजी ने गद्गद् होकर कहा “हे कुमार! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा अवतार वैराग्य हेतु है, तुम तीर्थकर होने वाले हो, और उससे मैं अपनी कोंख को धन्य मानती हूँ, परन्तु पूर्वकाल में ऋषभादि तीर्थकरों ने भी विवाह करके जिसप्रकार माता-पिता की इच्छा पूर्ण की थी, तदनुसार तुम भी हमारी इच्छा पूर्ण करो।”

तब पार्श्वकुमार बोले - “हे माता! ऋषभदेव की बात और थी, मैं प्रत्येक विषय में उनके बराबर नहीं हूँ, उनकी आयु तो बड़ी लम्बी थी और मेरी आयु मात्र सौ वर्ष की है, मुझे तो अल्पकाल में ही संयम धारण करके अपनी आत्मसाधना पूर्ण करना है, इसलिये मुझे सांसारिक बंधनों में पड़ना उचित नहीं है।”

एक बार पार्श्वकुमार वनविहार करने निकले। साथ में उनका मित्र सुभोमकुमार भी था। पार्श्वकुमार को देखकर प्रजा अति प्रसन्न होती थी। वन के पशु-पक्षी भी प्रभु को देखकर आश्चर्य में पड़ जाते और उन्हें शांतचित्त से निरखते थे। जब पार्श्वकुमार वन में विचर रहे थे कि तभी एक घटना हुई।

पार्श्वकुमार का नाना राजा महीपाल रानी का देहान्त हो जाने से तापस हो गया था। सात सौ तापस उसके शिष्य थे। वह वाराणसी में पंचाग्नि तप कर रहा था, अग्नि में बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे। इतने में पार्श्वकुमार अपने मित्रों सहित वन-विहार करते-करते वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने महीपाल तापस को नमस्कार नहीं किया; इसकारण तथा पूर्वभव के संस्कार वश उन्हें देखकर उस तापस को क्रोध आ गया। उसीसमय पार्श्वकुमार के मित्र सुभोमकुमार उससे बोले कि - “हे तापस ! क्या आपको यह ज्ञात है कि आप जो यह पंचाग्नि तप कर रहे हैं उसमें हिंसा के कारण जीव का कितना अहित होता है?

सुभोमकुमार की बात सुनकर महीपाल को और अधिक क्रोध आया। क्रोधावेश में वह कहने लगा -

“तू मुझे उपदेश देनेवाला कौन? यह राजकुमार तो अभी छोटा बच्चा है, इसे मेरे तप का क्या पता? ऐसा कहकर वह लक्कड़ों को अग्नि में डालने लगा।

पार्श्वकुमार हाथ में लक्कड़ उठाकर बोले - ‘ठहरो, ठहरो; इस लकड़ी को अग्नि में मत डालो!’

तापस क्रोधित होकर बोला - “तू मुझे रोकने वाला कौन?”

बालक पार्श्वकुमार ने कहा “आप जो लकड़ी काटकर अग्नि में होमना चाहते हैं उसमें नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है, वे अग्नि में जल जायेंगे।

पार्श्वकुमार की बात सुनकर भी उस तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ, बोला - तू कौन ऐसा त्रिकालज्ञानी हो गया जो तुझे इस लकड़ी में सर्प बैठे दिख रहे हैं? व्यर्थ ही होम में विघ्न करता है! तब सुभोमकुमार ने कहा- “हे तापस ! आपको विश्वास न हो तो लकड़ी चीरकर देख लीजिये।”

महिपाल तापस ने क्रोधपूर्वक उस लकड़ी को चीरा तो भीतर दो तड़पते हुए सर्प निकले। उनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे और वेदना से तड़प रहे थे। वे दोनों नाग-नागिन पार्श्वप्रभु की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे, मानो दुःख से छुड़ाने की प्रार्थना कर रहे हों।

सर्पयुगल को देखकर लोग चकित रह गये। महिपाल तापस भी क्षणभर स्तब्ध रह गया।

प्रभु ने सर्पयुगल पर दृष्टि डाली, जिससे दोनों को अत्यन्त शांति का अनुभव हुआ। पार्श्वकुमार गंभीर स्वर में बोले - “जीवों का अज्ञान तो देखो! जहाँ ऐसी जीव हिंसा हो वहाँ धर्म कैसे हो सकता है।”

वीतराग धर्म का उपदेश सुनकर भी कमठ के जीव तापस ने सत्यधर्म अंगीकार नहीं किया। जीव स्वयं भावशुद्धि न करे, तो तीर्थकर भी उसका क्या कर सकते हैं? यद्यपि उसे आभास तो हो रहा था कि इन उत्तम पुरुषों के समक्ष में कोई भूल कर रहा हूँ, किन्तु क्रोध के कारण वह वीतरागधर्म को स्वीकार नहीं कर सका। अभी धर्म की प्राप्ति होने में उसे कुछ समय की देर थी। अन्त में तो उसने इन्हीं भगवान पार्श्वनाथ

की शरण में आकर सच्चा धर्म अंगीकार किया। दोनों सर्पों ने बालक पार्श्वकुमार के दर्शन करके शांति प्राप्त की और उनके श्रीमुख से वीतरागधर्म का उपदेश सुनकर धन्य हो गये!

पार्श्वकुमार कहने लगे - “हे सर्पराज! भले ही कुल्हाड़ी से तुम्हारे शरीर कट गये हैं परन्तु तुम क्रोध नहीं करना; क्योंकि पूर्वभव में क्रोध करने के कारण तुम्हें यह सर्प का भव मिला है, किन्तु अब क्रोध का त्याग करके क्षमाभाव धारण करना, और पंचपरमेष्ठी भगवान की शरण लेना। ऐसा कहकर पार्श्वनाथ प्रभु ने उन्हें धर्म श्रवण कराया। दोनों नाग-नागिन शांतिपूर्वक सुन रहे थे और सोच रहे थे कि - हम जैसे विषैले जीवों को भी पार्श्व ने करुणापूर्वक सच्चा धर्म समझाया और हमारा कल्याण किया।”

नाग-नागिन शान्त हो गये और प्रभु के चरणों में शरीर त्यागकर भवनवासी देवों में धरणेन्द्र तथा पद्मावती हुये। अवधिज्ञान से भगवान का उपकार जानकर वे भक्ति करने लगे कि “धन्य हैं पार्श्वप्रभु! जिन्होंने हमें सर्प से देव बनाया और संसार से मुक्त होने के लिये जैनधर्म का मार्ग बतलाया।”

देखो तो सही, क्षमावन्त आत्मा के संसर्ग से नाग जैसे विषधर जीव भी क्रोध छोड़कर क्षमावान बन गये, और शरीर के टुकड़े कर देने वाले के प्रति भी क्रोध न करके क्षमाभाव से शरीर त्यागकर देव हुए। पर वह तापस फिर भी मिथ्या मान्यता नहीं त्याग पाया, इसीकारण निचली जाति का देव हुआ।

एक बार पौष कृष्णा एकादशी के दिन पार्श्वकुमार राजसभा में बैठे थे और उनका जन्मदिवस मनाया जा रहा था, देश-देशान्तर के राजाओं की ओर से उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट आ रही थी। अयोध्या का राजदूत भी भेंट लेकर आया। पार्श्वप्रभु के दर्शन से उसे आश्चर्य हुआ। विनयपूर्वक स्तुति करके वह कहने लगा - “हे प्रभो! हमारी अयोध्यानगरी के महाराजा जयसेन को आपके प्रति प्रगाढ़ स्नेह है, इसलिये यह उत्तम रत्न एवं हाथी आदि वस्तुएँ आपको भेंट स्वरूप भेजी हैं।”

पार्श्वकुमार ने प्रसन्नदृष्टि से राजदूत की ओर देखा और अयोध्या की कुशलक्षेम पूछी।

राजदूत ने कहा - “महाराज! हमारी अयोध्यानगरी तो तीर्थकरों की खान है, जिस पुण्यभूमि में तीर्थकर उत्पन्न होते हैं वहाँ की कुशलता का क्या कहना ?”

अयोध्यानगरी का तथा पूर्वकाल में हुए तीर्थकरों का वर्णन सुनकर पार्श्वकुमार गँभीर विचारों में डूब गये। उसी समय उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने संकल्प किया कि – “मुझे जगत के सामान्य मनुष्यों की भाँति संयम रहित काल नहीं गँवाना है। ऋषभादि जिनवर जिस मार्ग पर चले उसी मार्ग पर मुझे जाना है, इसलिये अब आज ही मैं दीक्षा लूँगा और अपनी आत्म साधना पूर्ण करूँगा।” इसप्रकार भव से विमुख और मोक्ष के सन्मुख हुए पार्श्वकुमार वैराग्य भावना भाने लगे। दीक्षा का उत्सव करने हेतु इन्द्रादि आ पहुँचे, लौकान्तिक देव भी आये और उन्होंने वैरागी पार्श्वनाथ के वैराग्य का अनुमोदन किया।

दीक्षा के लिये तत्पर हुए पार्श्वकुमार ने माता के पास जाकर कहा – हे माता! अब मैं चारित्र साधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने जाता हूँ उसीप्रकार पिताजी की आज्ञा लेकर पार्श्वकुमार ‘विमला’ नामक शिबिका में आरूढ़ होकर वन में गये और स्वयं दीक्षा लेकर आत्मध्यान करने लगे। मुनिराज पार्श्वनाथ ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्म के दिन ही दीक्षा ग्रहण की, उनके साथ अन्य तीन सौ राजाओं ने जिनदीक्षा ले ली। दिगम्बर मुद्राधारी उन मुनिराज के वस्त्र तो नहीं थे और अंतर में मोह भी नहीं था। निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप सहज दशा से वे महात्मा शोभायमान थे।

प्रभु को ध्यान में तुरन्त ही सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ और मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। वे पार्श्वमुनिराज आत्मा का निजकार्य साधने लगे। सर्वप्रथम मुल्मखेटनगर के ब्रह्मदत्त राजा ने उन मुनिराज को आहारदान दिया और धन्य हो गये।

शरीर और आत्मा की भिन्नता जानने वाले तथा शत्रु एवं मित्र में समभाव रखनेवाले वे पार्श्व मुनिराज अंतर में बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निजरूप को ध्याते थे और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते थे।

जब एक ओर संवरदेव भयंकर द्वेषपूर्वक उपसर्ग कर रहा था और दूसरी ओर धरणेन्द्र तथा पद्मावती भक्ति-भावपूर्वक प्रभु की सेवा-सुश्रूषा में लगे थे तब मुनिराज पार्श्वनाथ दोनों के प्रति समभाव रखकर

आत्मध्यान में लीन थे। वे तो दोनों से परे अपनी चैतन्यसाधना में ही तत्पर हैं। परिणामों को क्षणभर में बदला जा सकता है। क्रोध कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है कि वह नित्य स्थिर रहे। उस क्रोध से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उपसर्ग के समय मुनिराज पार्श्वनाथ ने भी कमठ के जीव पर क्रोध नहीं किया।

धरणेन्द्र ने कहा - “केवलज्ञान की महिमा अद्भुत है। हे देव! आप समर्थ हों, हम आपकी रक्षा करनेवाले कौन होते हैं? प्रभो आपके प्रताप से हमें धर्म प्राप्त हुआ और आपने संसार के घोर दुःखों से हमारी रक्षा की है। प्रभु! आपके सान्निध्य की महिमा अपरम्पार है। जो भी आपकी शरण में आता है, वह कभी न कभी परमात्मा बन जाता है। इसप्रकार स्तुति की। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर भगवान की पूजा स्तुति के पश्चात् आश्चर्यकारी दिव्य समवशरण की रचना की। जीवों के समूह प्रभु का उपदेश सुनने के लिए आने लगे।

यह सब आश्चर्यजनक घटना देखकर संवरदेव के भाव भी बदल गये, केवली प्रभु की दिव्य महिमा देखकर उसे भी श्रद्धा जाग्रत हुई। क्रोध एकदम शांत हो गया और पश्चाताप से बारम्बार प्रभु के समक्ष क्षमा याचना करने लगा - “हे देव! मुझे क्षमा करो, मैंने अकारण ही आपके ऊपर महान उपसर्ग किया, तथापि आपने किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। कहाँ आपकी महानता और कहाँ मेरी अज्ञानता। इन्द्र भी भक्तिपूर्वक आपकी सेवा करते हैं। इतने समर्थ होने पर भी आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया। मैंने अज्ञानपूर्वक क्रोध करके भव-भव में आपके ऊपर इकतरफा उपसर्ग किये, जिससे मैं ही महान दुःखी हुआ और नरकादि की घोर यातनाएँ सहन कीं। प्रभो! अन्त में क्रोध पर क्षमा की ही विजय हुई। अब मैंने क्षमाधर्म की महिमा को जाना। मेरा आत्मा उपयोग स्वरूप है, वह इस क्रोध से भिन्न है - ऐसा आपके प्रताप से समझा हूँ। इसप्रकार कमठ का जीव धर्म को प्राप्त हुआ और भगवान की भक्ति करने लगा।

समवशरण में विराजमान तीर्थकर भगवान की शोभा आश्चर्यकारी थी। वहाँ दिव्य सिंहासन होने पर भी भगवान उसका स्पर्श किये बिना अधर-आकाश में अंतरिक्ष विराजते थे। अन्तरीक्ष बैठे भगवान जगत

को यह संदेश दे रहे थे कि पुण्यफल से प्राप्त यह सिंहासन आत्मा के लिए अपद है। स्फटिक के तीन छत्र प्रभु के रत्नत्रय के प्रतीक थे। प्रभु के मुख का प्रभामंडल भले ही सूर्य-चन्द्र से अधिक दैदीप्यमान था, परन्तु उनके केवलज्ञान के तेज का तो सम्यग्दृष्टियों को ही अनुभव होता था।

भगवान के समवशरण में दसप्रकार की भोगसामग्री प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों को देखकर सम्यग्दृष्टि जीव प्रभावित नहीं होते थे; क्योंकि यह कल्पवृक्ष तो मात्र भोग सामग्री देनेवाले होते हैं, सर्वज्ञदेव तो स्वयं ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिनसे सम्यग्दर्शनादि चैतन्य रत्नों की प्राप्ति होती है।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थकर ने ७० वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार किया और अन्त में सम्मेदगिरि पर पधारे। अब उन्हें मोक्ष जाने में एक मास शेष था, इसलिये उनकी वाणी एवं विहारादि की क्रियाएँ थम गईं। पार्श्वप्रभु सम्मेदशिखर की सर्वोच्च टोंक पर ध्यानस्थ खड़े थे। वहाँ से शरीर छोड़कर अशरीरी हुए। इन्द्रों ने प्रभु का मोक्ष कल्याणक मनाया। भगवान श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन मोक्ष पधारे थे इसलिये उसे 'मोक्ष सप्तमी' कहा जाता है।

जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है, वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके मरण को 'समाधिमरण' में एवं मृत्यु को 'महोत्सव' में परिणत कर उच्चगति प्राप्त करता है।

जो निज दर्शन ज्ञान चरित अरु, वीर्य गुणों से हैं महावीर ।
अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा, जो कहलाते हैं अतिवीर ॥
जिसके दिव्य ज्ञान दर्पण में, नित्य झलकते लोकालोक ।
दिव्यध्वनि की दिव्यज्योति से, शिवपथ पर करते आलोक ॥

भगवान महावीर स्वामी के तीर्थंकर भगवान बनने की प्रक्रिया एक भव में नहीं, अनेक पूर्वभवों में सम्पन्न हुई। आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया समझने के लिए हमें उनके अनेक पूर्व भवों का अध्ययन करना आवश्यक है। साधारण जीव न केवल नर से नारायण, बल्कि पशु से परमात्मा कैसे बन सकते हैं; कैसे बनते हैं? एतदर्थ हम उनकी अनेक पूर्वभवों की जीवनयात्रा को संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे।

तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों का परिचय कराते हुए आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में लिखते हैं कि - “जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पुष्कलावती देश में एक पुंडरीकिनी नाम की नगरी थी। उसके पास एक मधुक नामक वन था, जिसमें भीलों का राजा पुरुरुवा रहता था। उसकी पत्नी का नाम कालिका था।

उसी वन में एक सागरसेन नामक महान तपस्वी नग्न-दिगम्बर मुनिराज विचरण कर रहे थे। उनको भ्रमवश मृग समझकर मारने के लिए उस भीलराज ने ज्योंही धनुष पर बाण चढ़ाया, त्योंही उसकी पत्नी ने हाथ पकड़कर रोकते हुए मृदुल शब्दों में कहा कि “क्या कर रहे हो ? वह मृग नहीं, कोई वन-देवता विहार कर रहे हैं।” मुनि हत्या के महादोष से बचकर वे दोनों पति-पत्नी मुनिराज के पास दर्शनार्थ गये।

उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उनसे धर्म श्रवण कर मद्य-मांसादि का त्याग किया। जीवनपर्यन्त आदर सहित व्रतों का निर्वाह करते हुए मरकर वह भीलराज सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

वहाँ से आकर वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के बड़े पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के यहाँ मारीचि नामक पुत्र हुआ। उसने अपने पितामह ऋषभदेव के साथ ही दिगम्बरी दीक्षा धारण की; किन्तु ऋषभदेव के साथ दीक्षित कच्छादि चार हजार राजाओं के समान मुक्तिमार्ग से अपरिचित होने से, वह भी भ्रष्ट हो गया। उसने स्वतंत्र मत स्थापित किया। वह परिव्राजक का वेष धारण कर ऋषभदेव के समान मत-प्रवर्तक बनने का प्रयत्न करने लगा।

यद्यपि उसने मिथ्यात्व नामक महापाप का सेवन, प्रचार व प्रसार कर अपना भव भ्रमण बढ़ाया; तथापि शुभभावपूर्वक मरण कर वह ब्रह्म नामक पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ।

आयु की समाप्ति पर वहाँ से चयकर वह साकेतनगर में कपिल नामक ब्राह्मण के यहाँ जटिल पुत्र हुआ। वहाँ भी पूर्व-संस्कारवश परिव्राजक साधु हुआ और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर भारद्वाज ब्राह्मण के यहाँ पुष्पमित्र नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी वह स्थिति रही और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

उसके बाद क्रमशः अग्निसह ब्राह्मण, सनत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग का देव, अग्निमित्र ब्राह्मण, माहेन्द्र नामक चतुर्थ स्वर्ग का देव, भारद्वाज ब्राह्मण, चतुर्थ माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।

उक्त सभी भवों में उसकी पूर्ववत् स्थिति रही। मिथ्यात्व का सेवन व प्रसार करते हुए भी शुभभावों में रहा; अतः स्वर्गादिक की लौकिक अनुकूलता प्राप्त होती रही। मिथ्यात्व के सेवन में शुभभाव में रहने का प्रयत्न करते भी चिरकालतक ऊँची गतियों में स्थिति भी नहीं रह सकती है; अतः नीच योनियों में जा पड़ा और उसने त्रस-स्थावर की निम्नतम योनियों के असंख्य भव धारण किए। असंख्य बार जन्मा मरा।

बहुत काल बाद भाग्यवश वहाँ से पुनः उभरा और स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ, शुभ-भावपूर्वक मरण कर माहेन्द्र नामक चतुर्थ स्वर्ग का देव हुआ।

वहाँ से चयकर वह राजगृह नगर में विश्वभूति नामक राजा के यहाँ विश्वनंदी नामक राजकुमार हुआ। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था और विशाखभूति के छोटे पुत्र का नाम विशाखनंद था। शरद ऋतु के बादलों को नष्ट होते देखकर राजा विश्वभूति को वैराग्य हो गया और वे अपने छोटे भाई विशाखभूति को राजपद तथा पुत्र विश्वनंदी को युवराज पद देकर नग्न दिगम्बर साधु हो गये।

विशाखनन्द के साथ हुई पारिवारिक उद्यान संबंधी घटना के निमित्त से विश्वनन्दी संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये। मुनिराज विश्वनंदी अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृषकाय हो गये। महातपस्वी वे मुनिराज एक बार मथुरा नगर में आहार के लिए गये। मार्ग में तत्काल प्रसूता गाय की ठोकर लगने से वे गिर गये। वहीं सामने एक वेश्या के मकान में उनका वह चचेरा भाई विशाखनंद, जिसके साथ उद्यान के कारण झगड़ा-विवाद हुआ था, उन्हें देख रहा था। विशाखनंद अपनी पुरुषार्थहीनता, अन्यायवृत्ति एवं कुकर्मों के कारण राजभ्रष्ट होकर अन्यत्र दूतकार्य करने लगा था और कार्यवश मथुरा आया हुआ था। उसने मुनिराज विश्वनंदी को पहचान लिया और उनका परिहास करते हुए व्यंग्य किया कि कहाँ गया तुम्हारा वह बल, जिसने वृक्ष को उखाड़ डाला था एवं पत्थर की विशाल शिला को मुष्टिका प्रहार से ही तोड़ डाला था।

मुनिराज विश्वनन्दी का चित्त उसके व्यंग्य-बाणों को सहन न कर सका और विचलित हो गया। अतः उन्होंने यद्यपि उसके मानमर्दन का निदान किया, तथापि समाधिपूर्वक मरकर वे महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुए। वहाँ से आकर वे इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर के राजा बाहुबली के वंश में उत्पन्न महाराजा प्रजापति की रानी मृगावती से त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए तथा उनके काका विशाखभूति का जीव उसी राजा प्रजापति की दूसरी रानी जयावती के उदर से विजय नामक पुत्र हुआ।

विजय प्रथम 'बलभद्र' थे और त्रिपृष्ठ प्रथम 'नारायण'। यह ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ का समय था। उससमय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उनकी प्रिय-पत्नी का नाम नीलांजना था। विशाखानन्द का जीवन अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से उनके अश्वग्रीव नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। वह प्रथम 'प्रतिनारायण' था। वह तीन खण्ड पृथ्वी को जीतकर 'अर्द्ध चक्रवर्ती' हो गया था। त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण में परस्पर भयंकर युद्ध हुआ और निदान के अनुसार राजकुमार त्रिपृष्ठ अश्वग्रीव को मारकर अर्द्धचक्रवर्ती सम्राट हो गया।

भगवान महावीर का जीव सम्राट त्रिपृष्ठ नारायण विशाल विभूति का अधिपति था। उसके देवांगनाओं के समान सोलह हजार रानियाँ थीं। पूर्व पुण्य के प्रताप से सर्वप्रकार लौकिक अनुकूलता पाकर भी उसने आत्महितकारी धर्म की आराधना नहीं की। समस्त जीवन अनुशासन-प्रशासन, राज्यव्यवस्था और भोगों में ही गंवा दिया। अन्त में मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ। भोगमय जीवन का परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था ?

भगवान महावीर का जीव बारह भव पूर्व सातवें नरक से निकलकर वह गंगा के किनारे सिंहगिर नामक पर्वत पर अत्यन्त क्रूर परिणामी सिंह हुआ। क्रूरता में ही जीवन बिताकर मरा और ग्यारहवें भव में प्रथम नरक में नारकी हुआ। वहाँ से निकलकर पुनः हिमवान पर्वत के शिखर पर दैदीप्यमान केसर से सुशोभित सिंह हुआ। यहाँ से उसके आत्मा का सुधार आरंभ होता है।

वह भयंकराकृति मृगराज अत्यन्त क्रूर एवं महाप्रतापी था। एक बार वह मृग को मारकर उसे विदारण कर खा रहा था। उसी समय दो अत्यन्त शान्त, परम दयावान, चारणऋद्धि के धारी मुनिराज आकाश मार्ग से उतरे और मृगराज को मृदुवाणी में इसप्रकार संबोधित करने लगे -

“हे मृगराज! आत्मा का अनादर कर तूने आज तक अनन्त दुःख उठाये हैं। क्षुद्र स्वार्थ के लिए जिसप्रकार

तूने इस मृग को मार डाला है, उसीप्रकार पंचेन्द्रिय के भोगों की निराबाध प्राप्ति के लिए तूने अपने पूर्व भवों में बहुत हिंसा और क्रूरता की है। त्रिपृष्ठ नारायण के भव में तूने क्या-क्या भोग नहीं भोगे और क्या-क्या पाप नहीं किये ? पर भोगाकांक्षा तो समाप्त नहीं हुई। परिणामस्वरूप सातवें नरक में गया और भयंकर दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर शेर हुआ, वहाँ भी यही हालत रही। विचार कर! जरा तू अपने पूर्व भवों का विचार कर!!”

मुनिराज का उपदेश सुनकर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, उससे उसे पूर्व भवों का स्मरण हो गया, फिर उसने पश्चाताप के अश्रु बहाते हुए अपने पूर्वकृत पापों का प्रक्षालन किया और आत्मानुभवपूर्वक मुनिराज के द्वारा दिए गए ग्रहीत व्रतों का जीवनपर्यन्त आदरपूर्वक पालन किया। अन्त में समाधिमरण पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर वह सिंह भगवान महावीर से नौ भव पूर्व अर्थात् दसवें भव में सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में सिंहकेतु नामक देव हुआ।

“पर्याय की योग्यता का परिपाक एवं काललब्धि की प्राप्ति के साथ अनुकूल निमित्त के सहचर होने का ऐसा उदाहरण अन्यत्र देखने को प्राप्त नहीं होगा। ऊपर से देखने पर यहाँ ऐसा लगता है कि चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों के उपदेश से शेर को सद्धर्म की प्राप्ति हो गई; किन्तु काललब्धि के परिपाक, भली होनहार, प्रतिबंधक कर्म का आवश्यकतानुसार अभाव तथा शेर द्वारा किये गये अन्तरोन्मुखीवृत्ति के अपूर्व पुरुषार्थ की ओर जगत का ध्यान सहज ही नहीं जाता।” अतः सुखाभिलाषी को सर्वप्रथम अपने को पहिचानना चाहिए, अपने को जानना चाहिए और अपने में ही जम जाना चाहिए, रम जाना चाहिए।

सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अपना सुख अपने में ही है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा में झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुख स्वरूप है, सुख ही है तथा पंचेन्द्रिय

के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पाकर भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावंत परम पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।”

जिनेन्द्र भगवान की सहज वैराग्योत्पादक एवं अन्तरोन्मुखी वृत्ति की प्रेरणा देनेवाली दिव्य वाणी को सुनकर भगवान महावीर के पाँचवें पूर्वभव का जीव चक्रवर्ती प्रियमित्र का वैराग्य इस प्रकार जाग गया; जिसप्रकार एक शेर की गर्जना सुनकर दूसरा शेर जाग जाता है। राज्य-सम्पदा, स्त्री-पुत्रादि संबंधी राग टूट गया। जिस धरती को वर्षों में दिग्विजय करके प्राप्त की थी, जिन पत्नियों का अनुरागपूर्वक पाणिग्रहण किया; उन्हें ऐसे छोड़ दिया मानो उनसे उनका कोई संबंध ही न था, वे उनकी कोई थीं ही नहीं। जिस राग ने जमीन को जीता था, जिस राग ने राजकन्याओं के साथ विवाह किया, जब वह राग ही न रहा, तो रागजनित संयोग कैसे रहते?

छह खण्ड की विभूति को तृण के समान त्याग देनेवाले प्रियमित्र मुनिराज ने जब समाधिपूर्वक देह छोड़ी तो सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक ऋद्धिधारी देव हुए। यह भगवान महावीर का चौथा पूर्वभव था। वहाँ से आकर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में छत्रपुर नगर के राजा नन्दिवर्धन की वीरमती नामक रानी से तीसरे पूर्वभव में नन्द नामक पुत्र हुए।

पूर्वसंस्कारवश जन्म से ही वैराग्यवृत्ति धारण करनेवाला राजा नन्द एक दिन प्रोष्ठिल नामक मुनिराज के पास दर्शनार्थ गया और जिसप्रकार स्वयं प्रज्वलित अग्नि घी पड़ जाने पर और अधिक वेग से प्रज्वलित हो उठती है; उसीप्रकार वैराग्यप्रकृति राजा नन्द का वैराग्य मुनिराज के वैराग्योत्पादक उपदेश से और भी बढ़ गया और उसने उन्हीं मुनिराज से दीक्षा धारण कर ली।

निरन्तर आत्मध्यान और तत्त्वाभ्यास में ही लगे रहने वाले मुनिराज नन्द ग्यारह अंगों के पारगामी विद्वान

हो गये। जगत का उद्धार करने में सर्वोत्कृष्ट निमित्तभूत तीर्थंकर प्रकृति नामक महापुण्य के बंध करने में कारणरूप सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन उन्हें सहज ही होने लगा और उन्होंने इसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, जिसके परिणामस्वरूप ही वे आगे जाकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपने पूर्व भवों में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। जहाँ एक ओर पुण्य के परम-प्रकर्ष को पाकर नारायण, चक्रवर्ती जैसे पदों को प्राप्त किया और कई बार स्वर्ग-सम्पदायें भोगीं, वहीं दूसरी ओर पाप की प्रकर्षता में सप्तम नरक में भयंकर दुःख भी भोगे; पर पुण्य-पाप दोनों में कहीं शान्ति का अनुभव नहीं हुआ, संसार परिभ्रमण ही हुआ।

शुभाशुभभावरूप पुण्य-पाप फल चतुर्गति भ्रमण ही है। शुभाशुभ भाव के अभावरूप जो वीतरागभाव है, वही धर्म है; वही सुख का कारण है। वीतरागभाव की उत्पत्ति आत्मानुभूतिपूर्वक होती है। जब शेर की पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की तभी वे संसार के किनारे लगे। अतः प्रत्येक आत्मार्थी को वीतरागभाव की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति अवश्य प्राप्त करना चाहिए। यही एकमात्र सार है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों की चर्चा से जैनदर्शन की यह विशेषता विशेष रूप से उजागर होती है कि जैनदर्शन का मार्ग नर से नारायण बनने तक का ही नहीं, अपितु आत्मा से परमात्मा बनने का है, शेर से सन्मति बनने का है, पशु से परमेश्वर बनने का है।

पूर्व भवों की चर्चा हमें आश्चस्त करती है कि अपनी वर्तमान दशा मात्र को देखकर किसी भी प्रकार घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। जब भगवान महावीर की आत्मा शेर जैसी पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त कर सकती है तो हम तो मनुष्य हैं, हमें आत्मानुभूति क्यों प्राप्त नहीं हो सकती? आत्मानुभूति प्राप्त कर शेर भी भगवान बन गया, चाहे दस भव बाद ही सही; तो हम क्यों नहीं बन सकते? यदि इसमें दस-पाँच भव भी लग जाएं तो इस अनादि-अनन्त संसार में दस-पाँच भव क्या कीमत रखते हैं?

यह बात भी स्वयं समाप्त हो जाती है कि 'पंचमकाल में तो मुक्ति होती ही नहीं; अतः अभी तो शुभभाव करके स्वर्गादि प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।' भले ही मुक्ति इस काल में, इस भव में न हो; पर शेर के समान आत्मानुभूति प्राप्त कर मुक्ति का सिलसिला आरम्भ तो हो ही सकता है। इसमें प्रमाद क्यों ?

आज से लगभग छब्बीस सौ वर्ष पूर्व इसी भारतवर्ष में 'वैशाली' नगरी गणतंत्र शासन की केन्द्र बनी हुई थी। गणतंत्र के अध्यक्ष थे राजा चेटक। उसी के अन्तर्गत कुण्डलपुर (कुण्डग्राम) नामक अत्यन्त मनोहर नगर था। प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ उसके सुयोग्य शासक थे। राजा सिद्धार्थ की पत्नी का नाम त्रिशला था। माँ त्रिशला ने राजा सिद्धार्थ को जब उक्त स्वप्न सुनाए और उनका फल जानना चाहा, तब निमित्त-शास्त्र के वेत्ता सिद्धार्थ पुलकित हो उठे। शुभ स्वप्नों का शुभतम फल उनकी वाणी से पहले उनकी प्रफुल्लित मुखाकृति ने कह दिया। उन्होंने बताया कि तुम्हारे उदर से तीन लोक के हृदयों पर शासन करनेवाले धर्मतीर्थ के प्रवर्तक भावी तीर्थकर बालक का जन्म होगा।

ये स्वप्न बताते हैं कि तुम्हारा पुत्र गज-सा बलिष्ठ, वृषभ-सा कर्मठ, सिंह-सा प्रतापी, अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी का धारी, पुष्पों-सा कोमल, चन्द्रमा-सा शीतल, सूर्य-सा अज्ञानांधकार नाशक, स्वर्णकलश-सा मंगलमय, जलाशय में क्रीडारत मीन-युगल के समान ज्ञानानन्द सागर में मग्न रहनेवाला, निर्मल समकित ज्ञान से भरपूर, सागर-सा गंभीर, तीन लोक दिलों पर शासन करनेवाला, सोलहवें स्वर्ग से आनेवाला, अवधिज्ञानी का धनी, रत्नों की राशि-सा दैदीप्यमान एवं अग्निशिखा-सा जाज्वल्यमान होगा। शुभ स्वप्नों का शुभतम फल जानकर महारानी त्रिशला अत्यन्त प्रसन्न हुई।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थकर प्रकृति बांधनेवाले राजा नन्द का जीव सोलहवें स्वर्ग से चयकर प्रियकारिणी माँ त्रिशला के गर्भ में आया। माता-पिता के उत्साह, प्रसन्नता और धन्य-धान्यादि वैभव के साथ-साथ बालक भी माँ के गर्भ में नित्य बढ़ने लगा।

पुरजनों और परिजनों की आनन्दमय चिर-प्रतीक्षा के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का शुभ दिन आया।

माँ त्रिशला ने उगते हुए सूर्य-सा तप्त स्वर्णप्रभा से युक्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया। नित्यवृद्धिगत देख उनका सार्थक नाम वर्द्धमान रखा गया। उनके जन्म का उत्सव परिजनों-पुरजनों के साथ-साथ इन्द्रों और देवों ने भी सिद्धार्थ के दरवाजे पर आकर किया, जिसे जन्म-कल्याणक महोत्सव कहते हैं। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गया। वहाँ पाण्डुक शिला पर विराजमान कर क्षीरसागर के जल में उनका जन्माभिषेक किया।

एक बार संजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों की शंका का समाधान वर्द्धमान को दूर से देखने मात्र से हो गया तो उन्होंने होनहार बालक वर्द्धमान को 'सन्मति' नाम से संबोधित किया।

जब इसकी चर्चा वर्द्धमान से उनके साथियों ने की तो उन्होंने सहज ही कहा कि "सर्वसमाधानकारक तो अपना आत्मा ही है जो स्वयं ज्ञानरूप है। दूसरों को देखना, सुनना आदि तो निमित्त मात्र है। मुनिराजों की शंकाओं का समाधान उनके अंतर से स्वयं हुआ, वे उससमय मुझे देख रहे थे; अतः मुझे देखने पर आरोप आ गया, यदि सुन रहे होते तो सुनने पर आ जाता। ज्ञान तो अन्तर में आता है, किसी पर-पदार्थ में से नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि मैं यदि 'सन्मति' हूँ तो अपनी सद्बुद्धि के कारण, तत्त्वार्थों के सही निर्णय करने के कारण हूँ, न कि मुनिराजों की शंका के समाधान के कारण। यदि किसी जड़ पदार्थ को देखने से किसी को ज्ञान हो जावे तो क्या वह जड़ पदार्थ भी 'सन्मति' कहा जायेगा?"

उनके अपूर्व रूप सौन्दर्य एवं असाधारण बल-विक्रम से प्रभावित हो, अनेक राजागण अप्सराओं के सौन्दर्य को लज्जित कर देनेवाली अपनी-अपनी कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव को लेकर राजा सिद्धार्थ के पास आए; पर अनेक राज-कन्याओं के हृदय में वास करनेवाले महावीर वर्द्धमान का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया, पर वे तो इन्द्रिय-निग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के बंधन में बांधने के अनेक प्रयत्न किये गये पर वे

अबंध-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व-बन्धकों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे ।

एक दिन विचारमग्न वर्द्धमान ने अपने सुदूर-पूर्व जीवन में झांकने का यत्न किया और उन्हें जातिस्मरण हो गया । उन्हें अपने अनेक पूर्व भव हस्तामलकवत् स्पष्ट दिखने लगे, उन्हें सब कुछ स्पष्ट हो गया । वे संसार से पूर्णतः विरक्त हो गये । उन्होंने घर-बार छोड़ नग्न दिगम्बर हो आत्माराधना का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

वे किन्हीं दूसरों के कारण विरक्त नहीं हुए थे, उनकी विरक्ति उनके अन्तर की सहज वीतराग-परिणति का परिणाम थी । उस सीमा का राग रहा ही नहीं था कि जिससे वे किसी से बंधे रह सकते थे ।

वस्तुतः वे साधु बने नहीं थे; बल्कि उनमें साधुता प्रगट हो चुकी थी । उनका चित्त जगत के प्रति सजग न होकर आत्मनिष्ठ हो गया था । देश-काल की परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपनी वासनाओं का दमन नहीं किया था; क्योंकि वासनाएँ स्वयं अस्त हो चुकी थीं । परिस्थितिजन्य विराग परिस्थितियों की समाप्ति पर समाप्त हो जाता है ।

उनके इस निश्चय को जानकर लोकान्तिक देवों ने आकर उनके इस कार्य की प्रशंसा की, उनकी वंदना की, भक्ति की । उनके दीक्षा (तप) कल्याणक के महान उत्सव की व्यवस्था भी इन्द्र ने आकर की ।

प्रभु की पालकी कौन उठाये, इस संबंध में मानवों और देवों में मतभेद हो गया ।

देवों में दिव्यशक्ति होने पर भी विजय मानवों की हुई; क्योंकि यह प्रतियोगिता देहशक्ति की न होकर, आत्मबल की थी; जो प्रभु के साथ ही दीक्षित हो, वही प्रभु की पालकी उठाये । इस निर्णय में देव परास्त हो गये और उन्हें उस समय अपने इन्द्रत्व और देवत्व की तुच्छता मानव भव के सामने स्पष्ट हुई । सर्वप्रथम प्रभु की पालकी मानवों ने उठाई, बाद में देवों ने ।

इसप्रकार प्रभु तीस वर्षीय भरे यौवन में मगसिर कृष्ण दशमी के दिन स्वयं दीक्षित हो गये । उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव ही न रहा था ।

उनकी सौम्य मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एवं शान्त स्वभाव को देखकर बहुधा वन्य पशु भी स्वभावगत वैर-विरोध छोड़कर साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर तक भी एक घाट पानी पीते थे। जहाँ वे ठहरते, वातावरण सहज शान्तिमय हो जाता था।

कभी कदाचित भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञायें लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर जाते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक आहार नवधा-भक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक निरीह भाव से खड़े-खड़े आहार ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते। साधु होने के बाद सर्वप्रथम उनका आहार कुलग्राम नगर के राजा कूल के यहाँ हुआ था। एक बार मुनिराज महावीर का आहार विपन्नावस्था को प्राप्त सती चंदनबाला के हाथ से भी हुआ था।

सती चंदनबाला राजा चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। किसी कामातुर विद्याधर द्वारा उपवन में खेलती चंदनबाला का अपहरण कर लिया गया था, किन्तु पत्नी के आ जाने से वह पत्नीभीरू विद्याधर के द्वारा भयंकर वन में छोड़ दी गई। वहाँ वह वृषभदत्त नामक सेठ को मिल गई। वृषभदत्त सेठ की पत्नी सुभद्रा स्वभाव से शंकालु होने से आशंकित हो गई कि कहीं सेठ इस पर मोहित न हो जाय। पुत्रीवत् चंदना उसे सपत्नी-सी प्रतीत होने लगी। उसका व्यवहार चंदना के प्रति कठोर हो गया।

एक दिन मुनिराज वर्द्धमान वत्स देश की उसी कौशाम्बी नगरी में आहार के लिए आये जहाँ चन्दना बन्धन में थी। मुनिराज उस मकान के सामने से निकले। जिसमें चन्दना कैदी का सा जीवन व्यतीत कर रही थी। चन्दना के तो भाग्य खुल गये। नग्न-दिगम्बर मुनिराज को देखकर वह पुलकित हो उठी, मुनिराज की वन्दना को वह एकदम दौड़ पड़ी। वह भक्ति और भावुकता के उन क्षणों में यह भूल ही गई थी कि मैं बंधी हुई हूँ। वह ऐसे दौड़ी जैसे बंधी न हो। यह दृश्य देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि सचमुच उसकी बेड़िया टूट चुकी थीं और उसके मुड़े हुए शिर पर बाल आ गये थे और वह चन्दना वन्दना में लीन थी। उसको ध्यान ही न रहा कि प्रभु को भोजन के लिए पड़गाहन तो कर रही हूँ, पर

खिलाऊंगी क्या ? क्या मिट्टी के सकोरे में कोदों का भात जो मुझे खाने को मिलता है, वह खिलाऊंगी? उसने तो पड़गाहन कर ही लिया और उनके योग्य अहार की समुचित व्यवस्था भी हो गई।

यह सब कैसे हुआ सोचनेवाले सोचते ही रहे और वहाँ तो चन्दना के हाथ से प्रभु का आहार भी हो गया। प्रभु वन को वापिस चले गये। चन्दना की वन्दना सफल हो गई, उसके बन्धन कट गये। आगे चलकर यही चन्दना भगवान महावीर के समवशरण में दीक्षित हो आर्यिकाओं में श्रेष्ठ प्रमुख गणनी बनी।

सम्पूर्ण जगत से सर्वथा निरीह वीतरागी संत मुनिराज वर्द्धमान विहार करते हुए उज्जैनी पहुँचे। वहाँ वे ध्यानस्थ हो गये। पाप-कला में अत्यन्त प्रवीण स्थाणुरुद्र ने वहाँ आकर उन पर घोर उपसर्ग किया। विद्या के बल से उसने अनेक भयंकर से भयंकरतम रूप बनाये और उन्हें विचलित करने का कई बार असफल प्रयास किया। उसने हिंसक पशुओं के, भीलों के, राक्षसों के रूप में अनेकानेक उपद्रव किये।

दूसरों को डराने-धमकाने में ही वीरता को सार्थक समझनेवाले स्थाणुरुद्र ने अन्ततः अडिग महावीर के रूप में वीरता की साक्षात् मूर्ति के दर्शन किए। उसने स्पष्ट अनुभव किया कि वीरता निर्भयता और निश्चलता का नाम है। वीरता हिंसा की पर्याय नहीं, अहिंसा का स्वरूप है। उसके उपद्रवों का महावीर की साधना पर कोई असर ही न हुआ।

एक तो आत्म-साधनारत वीतरागी संतों के ज्ञान में अंतरोन्मुखी वृत्ति के कारण बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आते ही नहीं; यदि आते भी हैं तो उनके चित्त में कोई भंवर पैदा नहीं करते, मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाते हैं; क्योंकि वे तो अपनी और पर की परिणति को जानते-देखते हुए प्रवर्तते हैं।

मुनिराज महावीर की अडिग साधना, अनेक संकटों के बीच भी निर्विकार सौम्याकृति और वीतरागी मुद्रा देख स्थाणुरुद्र का क्रोध काफूर हो गया। वह भय-मिश्रित आश्चर्य से विह्वल हो उनकी स्तुति करने लगा, अपने किए पर पछताने लगा।

‘न काहू से दोस्ती न काहू से वैर’ के प्रतीक मुनिराज महावीर पर इस परिवर्तन का भी कोई असर

नहीं हुआ। वे तो अपने में ही मग्न थे। वे अपने अनुरूप क्रिया कर रहे थे और स्थाणुरुद्र भी अपने अनुरूप क्रिया कर रहा था। उससे उन्हें क्या लेना-देना था ?

प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता है, उसका भला-बुरा परिणामन उसके आधीन है, उसमें पर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है। तथा जिसप्रकार आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता-भोक्ता स्वतंत्ररूप से है, उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा अपने विकार का कर्ता-भोक्ता भी स्वयं है। इस रहस्य को गहराई से जाननेवाले महावीर उससे सर्वथा निरीह ही रहे।

इसप्रकार मुनिराज महावीर निरन्तर वीतरागता की वृद्धिगत दशा को प्राप्त करते जा रहे थे। अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए उन्हें बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बयालीस वर्ष की अवस्था में एक दिन वे जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में पहुँचे। वहाँ पर शाल वृक्ष के नीचे रत्नों के समान दैदीप्यमान शिला पर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो, ध्यानस्थ हो गये।

अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव कर उन्होंने पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होते ही अनन्तर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन उन्हें पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) भी प्राप्त हो गया।

उसीसमय तीर्थंकर नामक महापुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विख्यात हुए। सौधर्म इन्द्र को तत्काल विशेष चिह्नों से पता चला कि तीर्थंकर महावीर को पूर्णज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। उसने तत्काल आकर बड़े ही उत्साह से केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव किया और भगवान महावीर की पवित्र वाणी से सब लाभान्वित हो सकें, एतदर्थ कुबेर को आज्ञा दी कि शीघ्र ही समवशरण की रचना करो।

तीर्थंकर की धर्मसभा में राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्मश्रवण करते हैं। उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार है। छोटे-बड़े और जाति-पांति का कोई

भेद नहीं है। यहाँ तक कि उसमें मुनि-आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवांगनाओं के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था रहती है और बहुत से पशु-पक्षी भी शान्तिपूर्वक धर्म श्रवण करते हैं।

ऋजुकूला नदी के तटवर्ती समीपस्थ सभी प्रदेश में दुन्दुभि घोष द्वारा सूचना हो गई और श्रोताओं का विशाल जन-समुदाय तीर्थकर भगवान महावीर की दिव्य-वाणी सुनने उमड़ पड़ा। सभा-मण्डप खचाखच भर गया, पर प्रभु की वाणी न खिरी। समय समाप्त होने पर लोग उदास घर चले गये। ऐसा कई दिनों तक हुआ। सबको प्रभु के दर्शन-प्राप्ति का परम सन्तोष था, पर वाणी श्रवण का अवसर न मिलने से थोड़ा असंतोष भी था। जनता जुड़ती, पर दिव्य-ध्वनि नहीं खिरती, कुछ दिनों बाद भगवान का वहाँ से विहार हो गया। वहाँ की जनता प्यासी ही रही। उनके दिव्य-प्रवचनों का लाभ उसे न मिला।

विहार होते ही समवशरण का विघटन हो गया, पर जहाँ जाकर भगवान रुके वहाँ फिर तत्काल समवशरण की रचना कर दी गई। जनता आई, दर्शन मिले, पर प्रवचन नहीं। इसप्रकार विहार होता रहा, पर प्रवचन नहीं हुआ। विहार करते-करते महावीर राजगृहों के निकट विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ भी वैसा ही विशाल समवशरण बना और सीमातीत जनसमुदाय भी उनके दर्शन एवं श्रवण को उपस्थित हुआ, पर प्रभु का मौन न टूटा। ६५ दिन समाप्त हो चुके थे। सभी श्रोताओं के साथ-साथ प्रमुख नियामक सौधर्म इन्द्र का धैर्य भी समाप्त हो रहा था।

उसने अपने अवधिज्ञान का प्रयोग करते हुए सर्वकारणों की सम्यक् मीमांसा की। उपस्थित जन-समुदाय में प्रभु का प्रमुख शिष्य, जिसे गणधर कहते हैं, बनने की पात्रता किसी में न दिखी। उसने अपनी दृष्टि का घेरा और विशाल किया तो इन्द्रभूति नामक महान विद्वान पर जाकर उसकी दृष्टि रुक गई।

इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदांगों के पारंगत विद्वान थे। उनके पाँच सौ शिष्य थे। इन्द्र ने जब ये अनुभव किया कि भगवान की दिव्यध्वनि को पूर्णतः धारण करने में समर्थ और उनका पट्ट शिष्य बनने के योग्य इन्द्रभूति गौतम ही है, तब वह वृद्ध ब्राह्मण के वेष में इन्द्रभूति के आश्रम में पहुँचा।

इन्द्र ने इन्द्रभूति गौतम के समक्ष एक छन्द प्रस्तुत किया एवं अपने को महावीर का शिष्य बताते हुए उसका अर्थ समझने की जिज्ञासा प्रगट की।

छन्द में जो कहा गया था उस पर विचार करते हुए वे सोचने लगे - “तीन काल, छह द्रव्य, नौ पदार्थ, षट्काय जीव, षट् लेश्या, पंचास्तिकाय, व्रत, समिति, गति, ज्ञान, चारित्र” - ये सब क्या हैं ? इन सबकी क्या-क्या परिभाषाएँ हैं, इनके भेद-प्रभेद क्या हैं, इन सबकी जानकारी तो मुझे है ही नहीं। इन सबका ज्ञान जबतक मुझे ही नहीं है, तबतक मैं इसे क्या बताऊँ। पर इन्कार भी कैसे करूँ, यह क्या सोचेगा ?

वृद्ध ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने उनके चेहरे पर आते उतार-चढ़ाव को स्पष्ट अनुभव किया और उनके स्वाभिमान पर चोट करते हुए बोले - क्या मुझे यहाँ से भी निराश लौटना होगा?

उक्त वाक्य से इन्द्रभूति के अहंकार को कुछ चोट लगी, पर अपने तत्संबंधी अज्ञान को अहं में छिपाते हुए इन्द्रभूति ने कहा - इस संबंध में मैं तुम्हारे गुरु से ही चर्चा करूँगा ? चलो, वे कहाँ हैं ? मैं उन्हीं के पास चलता हूँ। वृद्ध ब्राह्मण (इन्द्र) का प्रयोग सफल हुआ अतः आगे-आगे वृद्ध ब्राह्मण (इन्द्र) और पीछे-पीछे अपने पाँच सौ शिष्य समुदाय के साथ इन्द्रभूति गौतम चले पड़े।

वस्तुतः इन्द्रभूति के सद्धर्म प्राप्ति का काल आ गया था। साथ ही भगवान की दिव्यध्वनि के खिरने का समय भी आ चुका था। समवशरण के द्वार पर स्थित मानस्तम्भ की ओर देखते ही उनका मान गल गया और अज्ञान अन्धकार गायब हो गया। वे विनम्र भाव से समवशरण में पहुँचे, भगवान के दर्शन किए और बाहर का विशाल वैभव देखा तो वे देखते ही रहे। प्रभु सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अधर में विराजमान थे। उनकी शान्त मुद्रा में उनके अन्तर की निर्विकारी स्थिति स्पष्ट प्रतिभासित हो रही थी।

अन्तर्मग्न प्रभु की मुद्रा ने मानो इन्द्रभूति गौतम को मौन उपदेश दिया कि “यदि तुझे अतीन्द्रिय आनन्द एवं अन्तर की सच्ची शान्ति चाहिए तो मेरी ओर क्या देखता है ? अपनी ओर देख, तू स्वयं अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का पिण्ड परमात्मा है। आज तक तूने ज्ञान और आनन्द की खोज पर में ही की है,

पर की खोज में इतना व्यस्त हो रहा है कि मैं कौन हूँ ? मैं क्या हूँ ? जानने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ । एक बार अपनी ओर देख । जानने-देखने लायक एकमात्र अपना आत्मा ही है ।”

भगवान महावीर की अन्तरोन्मुखी होने की मौन प्रेरणा पाकर इन्द्रभूति भी अन्तरोन्मुख हो गये, अन्तर में चले गये और जब बाहर आये तब उनके चेहरे पर अपूर्व शान्ति झलक रही थी । उन्होंने आज वह पा लिया था, जो आज तक नहीं पाया था । वे आत्मा का अनुभव कर चुके थे, उन्होंने प्रभु के समक्ष उसी समय दीक्षा धारण कर ली तथा अन्तर के प्रबल पुरुषार्थ द्वारा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त किया ।

उनका हृदय भगवान महावीर के अनन्त उपकार से गद्गद् हो रहा था; क्योंकि उन्हें प्रभु की कृपा से संसार का अभाव करनेवाला सद्धर्म प्राप्त हो गया था । उनके सागरवत् हृदय में भक्ति का भाव उमड़ रहा था । उनकी वाणी प्रस्फुटित हो उठी और वे इसप्रकार भगवान की स्तुति करने लगे -

हे प्रभो! जो व्यक्ति आपके इस वैभव को जानते-पहिचानते हैं, वस्तुतः वे ही आपको जानते हैं, अन्य तो गतानुगतिक लोग हैं । राजा आया तो उसके साथ कर्मचारी भी आ गए, बाह्य-विभूति देखकर चकित रह गये, नत-मस्तक भी हो गये और आपसे भोगों की भीख माँगने लगे, आपको भोगों का दाता मानने लगे, भक्ति के आवेग में आपको भोगदाता, वैभवदाता, कर्ता-हर्ता बताने लगे ।

हे भगवन्! वस्तुतः वे आपके भगत नहीं, भोगों के भगत हैं । उनके लिए भोग ही सबकुछ हैं, भोग ही भगवान हैं । वे आपके ही चरणों में नहीं, जहाँ भी भोगों की उपलब्धि प्रतीत करेंगे, वहीं झुकेंगे ।

हे प्रभो! कितने आश्चर्य की बात है कि जिन भोगों को तुच्छ जानकर आपने स्वयं त्याग दिया है, वे उन्हें ही इष्ट मान रहे हैं और आपसे ही उनकी माँग कर रहे हैं, आपको ही उनका दाता बता रहे हैं ।

हे प्रभो! जो व्यक्ति आपके इस वीतरागी-सर्वज्ञ स्वभाव को भलीप्रकार जान लेता है, पहिचान लेता है, वह अपने आत्मा को भी जान लेता है, पहिचान लेता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नष्ट हो जाता है । वह अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा चारित्र-मोह का भी क्रमशः नाश करता जाता है और कालान्तर

में जाकर वह भी वीतरागी बन जाता है। उसके समस्त मोह-राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। वह लोकालोक का ज्ञाता हो जाता है, वह स्वयं वीतरागी बन जाता है।

हे प्रभो! जिसके क्षयोपशम ज्ञान में वीतरागता और सर्वज्ञता का सच्चा स्वरूप आ गया; वह निश्चित रूप से भविष्य में पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा। सर्वज्ञ का ज्ञान तो अनन्त महिमावंत है ही, किन्तु जिसके ज्ञान में सर्वज्ञता का स्वरूप आ गया, उसका ज्ञान भी कम महिमावाला नहीं है; क्योंकि वह सर्वज्ञता प्राप्त करने का बीज है। सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना, पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।”

इन्द्रभूति गौतम के साथ उनके शिष्यगण भी उनके साथ महावीर के मार्ग पर हो लिए थे। गौतम अपनी योग्यता से महावीर के प्रमुख शिष्य व प्रथम गणधर बने।

इन्द्र का मनोरथ सफल हो चुका था। चिरप्रतीक्षित भगवान की दिव्यध्वनि का आस्वादन सबको मिल चुका था। दिव्यवाणी को सुनकर समस्त प्राणीजगत हर्षायमान था। सबको इन्द्रभूति गौतम के प्रति विशेष भक्ति उमड़ रही थी; क्योंकि उनके शुभागमन पर प्रभु की वाणी खिरी थी।

‘गौतम ने कहा – ‘कोई भी कार्य काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार ही होता है, उस काल में तदनुकूल पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम भी होता है तथा अनुकूल निमित्त भी उपस्थित रहता ही है। मेरे अभाव के कारण प्रभु की वाणी रुकी और मेरे आने के कारण खिरी, यह दोनों बातें मात्र उपचार से ही कही जा सकती हैं। वस्तुतः वाणी के खिरने का काल यही था, मेरे सद्धर्म की प्राप्ति का काल भी यही था। दोनों का सहज संयोग हो जाने पर यह उपचार से कहा जाने लगा।’

तीर्थंकर भगवान महावीर का सम्पूर्ण भारतवर्ष में लगभग तीस वर्ष तक धर्मोपदेश व विहार होता रहा। उनके विहार की अधिकता के कारण भारत का एक बहुत बड़ा भू-भाग ही ‘बिहार’ के नाम से जाना जाने लगा। बिहार प्रान्त के कई बड़े-बड़े नगर उनके नाम पर बसे। जिलास्थल वर्द्धमान, वीरभूमि उनके नाम पर ही बसे नगर हैं। उनके चिह्न के नाम पर भी सिंहभूमि नगर बसा है।

उनका विहार जहाँ भी होता, वहाँ उनका उपदेश प्रतिदिन प्रातः दोपहर और सायं तीन बार छह-छह घड़ी होता था। जिसप्रकार सूर्योदय होने पर रात्रिकालीन गहन अंधकार स्वतः विलीन हो जाता है; उसीप्रकार वीर प्रभु के दिव्यउपदेश द्वारा जन-जन के मन में व्याप्त विकार और अज्ञान-अन्धकार विलीन होने लगा। उनके उपदेशों के प्रभाव से समस्त देश का वातावरण अहिंसामय हो गया।

श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक बिम्बसार प्रमुख थे। उनके कर्मठ शिष्य-परिवार में चौदह हजार साधु, छत्तीस हजार आर्थिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। वैसे उनके अनुयायियों की संख्या तो अगणित थी।

अंत में विहार करते हुए भगवान महावीर पावापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने विहार और उपदेश से विराम ले, योग-निरोध कर, शुक्लध्यान की चरमावस्था में आरूढ़ हो, कर्मों के अवशेष चार अघातिया कर्मों का भी अभाव कर, अन्तिम देह का पूर्णतः परित्याग कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

प्रभु के निर्वाण का समाचार पा देवों ने आकर महान उत्सव किया, जिसे निर्वाणोत्सव कहते हैं। पावानगरी प्रकाश से जगमगा गई।

तीर्थकर भगवान महावीर का प्रातः निर्वाण हुआ और उसी दिन सायंकाल उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर को पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई। इसकारण यह दिन द्विगुणित महिमावंत हो गया। भगवान महावीर के वियोग से दुःखी धर्म-प्रजा को केवली गौतम को पा कुछ आश्वासन मिला।

यद्यपि भगवान महावीर के बाल्यकाल में घटी सभी घटनायें यथार्थ हैं और एक नन्हें से बालक द्वारा किए गए उन साहसपूर्ण कार्यों की महिमा भी स्वाभाविक है; परन्तु अनन्तवीर्य के धनी तीर्थकर भगवान महावीर के लिए वे सब नाम ओछे पड़ते हैं, जैसे ५ वर्ष के बालक के जन्मदिन पर आये बहुमूल्य कपड़े २५ वर्ष के युवक के लिए नहीं पहनाये जा सकते, ठीक उसीप्रकार बचपन के नाम पचपन वर्षीय प्रौढ़ के लिए सार्थक संज्ञा नहीं पा सकते।

वे महावीर तो अभी भी हैं; किन्तु अपने अनन्तवीर्य गुण के कारण महावीर हैं। सांप और मदोन्मत्त हाथियों को काबू में करने के कारण नहीं। सांपों और हाथियों को तो सपेरे और महावत भी काबू में कर लेते हैं, इसमें अनन्तबल के धनी महावीर से जोड़ना उनकी महावीरता का मूल्यांकन कम करना ही होगा।

बालकपन से निरन्तर वद्धिगत वर्द्धमान, सन्मतिदाता सन्मति देव तथा मदोन्मत्त हाथियों को वश में करनेवाले महावीर आदि सामयिक घटनाओं से प्राप्त सभी नामों के अर्थ को निरर्थक करनेवाले चौबीसवें तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान महावीर का नाम वस्तुतः अपने ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि गुणों का पूर्ण विकास करने के कारण तथा क्रोध-मान-माया-लोभ और मोह मत्सर का मर्दन करने के कारण अनन्तीवीर्य प्रगट करने के कारण सार्थक हैं। ये सार्थक नाम पाठकों को महावीर बनने की प्रेरणा दें। ●

जो उन वीतरागीदेव के पवित्र गुणों का स्मरण करता है, उसका मलिन मन स्वतः निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वतः पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं। अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का, जिनेन्द्रभक्ति का सच्चा फल है।

ज्ञानी धर्मात्मा लौकिक फल की प्राप्ति के लिए पूजन-भक्ति नहीं करते। वे तो जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्मस्वभाव को जानकर, पहिचानकर, उसी में जम जाना, रम जाना चाहते हैं। ऐसी भावना से ही एक न एक दिन भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

— इन भावों का फल क्या होगा, पृष्ठ-६

चक्रवर्ती पद का सामान्य स्वरूप

● चक्रवर्तियों की दिग्विजय - पूर्व जन्म में किये गये पुण्य के फल से प्राप्त छह खण्ड पृथ्वी के सम्राट को चक्रवर्ती कहते हैं, उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट होता है, जिसके द्वारा वह सर्वप्रथम जिनेन्द्र पूजन करके छह खण्ड पर दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है। पौराणिक कथानकों में ऐसे उल्लेख हैं कि चक्रवर्ती राजा पहले पूर्व दिशा की ओर जाकर गंगा के किनारे-किनारे उपसमुद्र पर्यन्त जाता है। बारह योजन पर्यन्त समुद्र तट पर प्रवेश करके वहाँ से अमोघ नामा वाण फेंकता है, जिसे देखकर मागध देव चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर लेता है। यहाँ से वैजयन्त नामा दक्षिण द्वार पर पहुँचकर पूर्व की भाँति ही वहाँ रहने वाले वरतनु देव को वश करता है और सिन्धु नदी के द्वार में स्थित प्रभास देव को भी वश करता है। तत्पश्चात् नदी के तट से उत्तरमुख होकर विजयार्ध पर्वत तक जाता है और पर्वत के रक्षक वैताढ्य नामा देव को वश करता है। तब सेनापति उस पर्वत की पश्चिम गुफा को खोलता है। गुफा में प्रवेश करने के पहले पश्चिम के म्लेच्छ राजाओं को वश में करने के लिये चला जाता है। जबतक वह वापिस लौटता है तबतक उस गुफा की वायु शुद्ध हो जाती है। तत्पश्चात् सर्व सैन्य को साथ लेकर उस गुफा में प्रवेश करता है और कांकिणी रत्न से गुफा के अन्धकार को दूर करता है। सर्व सैन्य गुफा से पार हो जाती है। यहाँ पर सेना को ठहराकर पहले सेनापति पश्चिम खण्ड के देव से युद्ध करता है। देव के द्वारा अतिघोर वृष्टि की जाने पर चक्रवर्ती छत्ररत्न व चर्मरत्न से सैन्य की रक्षा करता हुआ उस देव को भी जीत लेता है। फिर वृषभगिरि पर्वत के निकट आता है। चक्रवर्ती वृषभगिरि पर्वत पर अपना नाम लिखने के लिए विजय प्रशस्तियों से सर्वत्र व्याप्त उस वृषभाचल को देखकर और अपने नाम को लिखने के लिए तिलमात्र भी

स्थान न पाकर उसका चक्रवर्तित्व का प्रथम विजेता होने का अभिमान टूट जाता है। वह सोचता है “मेरे पहले असंख्य चक्रवर्ती यहाँ विजय प्राप्त कर अपना-अपना नाम लिख चुके हैं और न जाने कितनों ने मेरी ही भाँति दूसरों के नाम मिटाकर अपने नाम लिखे होंगे।” फिर भी पूर्व परम्परा के अनुसार अन्तिम चक्रवर्ती का नाम मिटाकर के अपना नाम अंकित करता है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से चौबीसवें तीर्थंकर के काल में ऐसे बारह वर्तमान काल में चक्रवर्ती हुए हैं

● **चक्रवर्तियों का वैभव** - प्रत्येक चक्री उत्तम संहनन, (मजबूत हड्डियाँ), उत्तम संस्थान (उत्तम आकृति) से युक्त सुवर्ण वर्ण वाले होते हैं। प्रत्येक के छयानवें हजार रानियाँ होती हैं - इनमें बत्तीस हजार आर्यखण्ड की कन्यायें, बत्तीस हजार विद्याधर कन्यायें और बत्तीस हजार म्लेच्छ कन्यायें होती हैं। प्रत्येक चक्रवर्तियों के संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ, बत्तीस हजार गणबद्ध देव अंगरक्षक, तीन सौ साठ वैद्य, तीन सौ साठ रसोइये, साढ़े तीन करोड़ बन्धुवर्ग, तीन करोड़ गायें, चौरासी लाख भद्र हाथी, चौरासी लाख रथ, अठारह करोड़ घोड़े, एक लाख करोड़ हल, चौरासी करोड़ उत्तम योद्धा, अठासी हजार म्लेच्छ राजा, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा, बत्तीस हजार संगीत शालायें और अड़तालीस करोड़ पदातिगण होते हैं।

यद्यपि आज के परिप्रेक्ष्य में यह कथन असंभव-सा लगता है, पर काल अनादि-अनन्त है, पृथ्वी विपुल है, सृष्टि परिवर्तनशील है, वैभव भी असीमित है; अतः कुछ भी असंभव नहीं है।

● **चक्रवर्ती के चार प्रकार की राजविद्या** - १. **आन्वीक्षिकी** - अपना स्वरूप जानना, अपना बल पहिचानना एवं अच्छा बुरा समझ लेना। २. **त्रयी** - शास्त्रानुसार धर्म-अधर्म समझकर अधर्म छोड़ देना और धर्म में प्रवृत्ति करना। ३. **वार्ता** - अर्थ-अनर्थ को समझकर प्रजाजनों का रक्षण करना। ४. **दण्डनीति** - योग्य दण्डविधान द्वारा दुष्टों को मार्ग पर लाना।

● **चक्रवर्ती के पाँच इन्द्रियों का विषय** :- स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय से ९९ योजन तक का विषय जान लेते हैं। चक्षुरिन्द्रिय से ४,७२,६२७/७० योजन तक देख सकते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय से १२ योजन तक का शब्द सुन सकते हैं।

● चक्रवर्ती के ७ अंगों (बलों) की संख्या :- स्वामी, अमात्य, देश, दुर्ग, खजाना (कोष), षडंग बल (सैन्यबल) और मित्र (सुहृत्) इस प्रकार सात अंग (बल) होते हैं।

● चक्रवर्ती के षडंग (६ प्रकार का) सैन्य बल :- चक्रबल, ८४ लाख हाथी, ८४ लाख रथ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ वीरभट (पैदल सैनिक), असंख्यात देव और विद्याधर सैनिक होते हैं।

● चक्रवर्ती के दशांग भोग :- दिव्य नगर, दिव्य भाजन, दिव्य भोजन, दिव्य शय्या, दिव्य आसन, दिव्य नाटक, दिव्य रत्न, दिव्य निधि, दिव्य सेना और दिव्य वाहन।

● चक्रवर्ती के नवनिधियाँ :- (१) कालनिधि :- ऋतु के अनुसार नानाविध पदार्थ प्रदान करती है। (२) महाकालनिधि :- नानाविध भोज्य पदार्थ प्रदान करती है। (३) माणवक :- विभिन्न प्रकार के आयुध प्रदान करती है। (४) पिंगल :- विभिन्न प्रकार के आभरण प्रदान करती है। (५) नैसर्प :- नाना-विध मन्दिर/भवन प्रदान करती है। (६) पद्म निधि :- नानाविध वस्त्र प्रदान करती है। (७) पाँडुक निधि :- नानाविध धान्य प्रदान करती है। (८) शंख निधि :- नानाविध वादित्र प्रदान करती है। (९) सर्वरत्न निधि :- नानाविध रत्न प्रदान करती है।

● चौदह रत्न और उनकी फलदान शक्ति :- १. सेनापतिरत्न :- आर्यखंड और पाँच म्लेच्छखंड पर विजय दिलाता है। २. गृहपतिरत्न :- राजभवन की व्यवस्थाओं का संचालनकर्ता एवं हिसाब-किताब रखता है। ३. पुरोहितरत्न :- सबको धर्म-कर्मानुष्ठान का मार्गदर्शन देता है। ४. स्थपति रत्न :- चक्रवर्ती की इच्छानुसार महल, मंदिर, प्रासाद आदि को तैयार करता है। ५. स्त्रीरत्न :- चक्रवर्ती की ९६ हजार रानियों में मुख्य पट्टरानी। ६. गजपतिरत्न :- शत्रु राजाओं के गज समूह को विघटित करता है। ७. अश्वरत्न :- तिमिस्रगुफा के कपाटोद्घाटन में बारह योजन तक दौड़कर पार होता है। ८. चक्ररत्न :- सेना के ऊपर आनेवाली धूप, वर्षा, धूलि, ओले, वज्र आदि को दूर करता है। ९. असि रत्न :- चक्रवर्ती के चित्त को प्रसन्न करता है। ११. दण्डरत्न :- चक्रवर्तियों के सैन्य की जमीन को साफ करता है। १२. काकिणीरत्न :- गुफा आदि में रहने वाले अंधकार को दूर कर प्रकाश करता है। १३. चूड़ामणि रत्न :-

इच्छित पदार्थों को प्रदान करता है। १४. चर्मरत्न :- सैन्यादिकों को नद और नदी से सुरक्षित रीति से पार कराता है। इसप्रकार चेतन और अचेतन रूप से ये चौदह रत्न चक्रवर्ती के रहते हैं। चेतन रत्नों में १ से ५ तक अपने-अपने नगरों में उत्पन्न होते हैं और ६-७ विजयार्थ पर्वत में उत्पन्न होते हैं। अचेतन रत्नों में ८ से ११ तक आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं तथा १२ से १४ तक श्रीदेवी के मन्दिर में उत्पन्न होते हैं।

● चक्रवर्ती के स्वामित्व का स्वरूप :- चक्रवर्ती का ३२ हजार राजाओं पर स्वामित्व होता है।

नृपति :- जो समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षण करने वाला है वह नृप या नृपति कहलाता है।

भूप :- समस्त पृथ्वी का जो रक्षक है वह भूप या भूपति कहलाता है।

राजा :- जो समस्त प्रजाजनों को राजी रखने वाला है वही राजा कहलाता है।

● राजाओं की १८ श्रेणियों का स्वरूप :- १. सेनापति - सेना का नायक, २. गणकपति: - ज्योतिषी का नायक, ३. वणिकपति - व्यापारियों का नायक, ४. दण्डपति - समस्त सेनाओं का नायक, ५. मंत्री - पंचागमंत्र विषय में प्रवीण, ६. महत्तर - कुलवान्, ७. तलवर - कोतवाल का स्वामी, ८. ब्राह्मण, ९. क्षत्रिय, १०. वैश्य, ११. शूद्र - (इन चातुर्वर्ण्य का स्वामी) १२. हाथी, १३. घोड़ा, १४. रथ, १५. पदाति - (इस चतुरंग बल का स्वामी), १६. पुरोहित - आत्महित कार्य का अधिकारी, १७. अमात्य - देश का अधिकारी, १८. महामात्य - समस्त राज्य कार्यों का अधिकारी। जो उपर्युक्त १८ श्रेणियों का स्वामी है। अधिराजा :- पाँच सौ मुकुटधारी राजाओं का स्वामी। महाराजा :- एक हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी। दो हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'मुकुटबद्ध' या 'अर्धमांडलिक', चार हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'मांडलिक', आठ हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'महामांडलिक', सोलह हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'अर्धचक्री' तथा जो बत्तीस हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'सकल चक्रवर्ती कहलाता है।

● चक्रवर्ती का पारिवारिक वैभव :- (१) चक्रवर्ती के एक पट्टरानी के सिवाय ९६ हजार स्त्रियाँ और

होती हैं। (२) चक्रवर्ती रात्रि के समय अपनी पट्टरानी के महल में ही रहते हैं; परन्तु चक्रवर्ती के भोग अबाधित होता है, इसकारण पट्टरानी के संतान नहीं होती, चक्रवर्ती अपनी पृथक् विक्रिया की सहायता से अपने शरीर के अनेक रूप धारण कर सकते हैं, इसलिये उनकी अन्य स्त्रियों को पुत्रादिक होते रहते हैं। (३) चक्रवर्ती पर ३२ यक्षदेव ३२ चमर दुराते रहते हैं। (४) ३२ हजार नाट्यशालायें और ३२ हजार संगीतशालायें होती हैं। ३२ हजार देश और उन प्रत्येक देश के ३२ हजार मुकुटधारी राजाओं पर स्वामित्व होता है। इसी तरह १६ हजार गणबद्ध देवों का स्वामी और ८८ हजार म्लेच्छ राजाओं का स्वामी होता है।

● **ग्राम** – जिस गाँव के चारों ओर परकोटा होता है उसे 'ग्राम' कहते हैं। चक्रवर्ती के ९६ करोड़ ग्राम होते हैं। ● **नगर** – जो गाँव चारों ओर दीवाल और चार दरवाजों से संयुक्त होता है उसे 'नगर' कहते हैं। नगर ७५ हजार होते हैं। ● **खेट** – नदी और पर्वतों से वेष्टित रहने वाले गाँव को 'खेट' कहते हैं। ये खेट ७६ करोड़ होते हैं। ● **कर्वट** – पर्वतों से वेष्टित गाँव को 'कर्वट' कहते हैं। कर्वट २४ हजार होते हैं। ● **मटंब** – जो पाँच सौ ग्रामों में प्रधान होता है, उसे मटंब कहते हैं। मटंब ४ हजार होते हैं। **पट्टन** – जहाँ रत्न उत्पन्न होते हैं उस गाँव को 'पट्टन' कहते हैं। पट्टन ४८ हजार होते हैं। **द्रोणमुख** – नदी के किनारे से वेष्टित हुए ग्राम को 'द्रोणमुख' कहते हैं। द्रोणमुख ९९ हजार होते हैं। **संवाहन** – बहुत प्रकार के अरण्यों से युक्त महापर्वत के शिखर पर स्थित रहने वाले गाँवों को 'संवाहन' कहते हैं। संवाहन १४ हजार होते हैं।

भरत और ऐरावत खण्ड में कालानुसार एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं। भरतक्षेत्र में जिस प्रकार एक आर्यखण्ड और पाँच म्लेच्छ खण्ड मिलकर ६ खण्ड होते हैं, उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी छह खण्ड होते हैं। विदेह क्षेत्र में जो ३२ देश हैं उन देशों में भरतक्षेत्र के समान छह छह खण्ड होते हैं और उन देशों में एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं।

चक्रवर्तियों की संख्या जो १२ कही है वह भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा कही गई है। विदेह क्षेत्र में वे सर्वत्र होते रहते हैं। वहाँ उत्कृष्ट या जघन्य संख्या का नियम नहीं है। नरक से आने वाले जीवों को

यह पद कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। स्वर्ग से आने वाले जीवों को ही यह पद प्राप्त होता है।

वर्तमान चौबीस तीर्थकरों के काल के चक्रवर्ती :- भरत क्षेत्र में भरत, सगर, मघवा, सनतकुमार, शांति, कुन्थु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती छह खण्ड रूप पृथिवी मंडल को सिद्ध करनेवाले और कीर्ति से भुवनतल को भरने वाले उत्पन्न हुये हैं। ये बारह चक्रवर्ती सर्व तीर्थकरों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष वन्दना में आसक्त तथा अत्यन्त गाढ़ - भक्ति से भरपूर रहते हैं।

१. भरत चक्रवर्ती

अयोध्या नगरी के महाराजा युगादि पुरुष ऋषभदेव की यशस्वती महारानी से चक्रवर्ती भरत का जन्म हुआ था। ऋषभदेव के १०० पुत्रों में यह ज्येष्ठ पुत्र थे। ब्राह्मी इनकी बहिन थी। रात्रि के अन्तिम प्रहर में शयन करते समय माता ने स्वप्न में सुमेरु पर्वत, सूर्य, चन्द्रमा, कमल युक्त सरोवर, ग्रसी हुई पृथ्वी और समुद्र देखे - इन छह शुभ स्वप्न पूर्वक भरतजी माता के गर्भ में आये। चैत्र वदी नवमी की शुभ तिथि में उनका जन्म हुआ। भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के लिए जाते समय इन्हें साम्राज्य पद पर प्रतिष्ठित किया था।

एक समय भरत को एक साथ तीन समाचार ज्ञात हुए कि - रनिवास में पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है, आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है और पूज्य पिता श्री को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। इन तीनों शुभ, सुखद समाचारों को सुनकर उन्हें अपार प्रसन्नता हुई। किसका उत्सव पहले मनायें यह असमंजस भरत महाराज को क्षण भर को हुई, कि शीघ्र ही उन्होंने विचार किया कि पुत्रोत्पत्ति काम का फल है, चक्र का प्रकट होना अर्थ का फल है और केवलज्ञान की प्राप्ति धर्म का फल है। अतः धर्म का कार्य प्रथम करने के लिए भरत ने सर्वप्रथम समवसरण में जाकर भगवान की पूजा की, और उपदेश सुना। तदनन्तर चक्ररत्न की पूजा करके पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। अनन्तर भरत महाराज ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय यात्रा में भरतजी को साठ हजार वर्ष लगे।

विजय यात्रा करते हुए चक्रवर्ती ने वृषभाचल पर्वत की एक सपाट शिला पर अपना नाम अंकित करना चाहा। उन्होंने सोचा था कि “समस्त पृथ्वी को जीतनेवाला मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ।” किन्तु जब वे नाम अंकित करने गये तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ नाम लिखने के लिए कोई स्थान ही रिक्त नहीं था। तब भरत का अभिमान नष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में उन्होंने एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को अपने हाथ से मिटाया और अपनी प्रशस्ति अंकित की।

तत्पश्चात् विजयार्थ पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा नमि और विनमि चक्रवर्ती के लिए उपहार में सुन्दर कन्यायें भी लाये थे। भरत ने राजा नमि की बहिन सुभद्रा के साथ विद्याधरों की परम्परा के अनुसार विवाह किया। यही सुभद्रा चक्रवर्ती की पटरानी पद पर प्रतिष्ठित हुई। दिग्विजय के पश्चात् सुदर्शन चक्र के अयोध्या में प्रवेश न करने पर बुद्धिसागर मंत्री से इसका कारण “भाइयों द्वारा अधीनता स्वीकार न किया जाना” ज्ञात कर इन्होंने उनके पास दूत भेजे थे। बोधि प्राप्त होने से बाहुबली को छोड़ शेष भाइयों ने इनकी अधीनता स्वीकार न करके अपने पिता ऋषभदेव से दीक्षा ले ली थी। बाहुबली ने इनके साथ दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध तथा मल्लयुद्ध किये तथा तीनों में भरतजी ने सोच-समझकर बुद्धिपूर्वक बाहुबली को जिताया। इसका विशेष विवरण शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध में देखें।

भरत चक्रवर्ती न्यायप्रिय सम्राट थे। एक समय काशी नरेश अकम्पन की पुत्री सुलोचना का स्वयंवर विवाह रचा गया। स्वयंवर विवाह में अनेक देशों के राजकुमार उपस्थित हुए। भरत के पुत्र युवराज अर्ककीर्ति एवं सेनापति जयकुमार भी उपस्थित हुए। कंचुकी से सभी राजकुमारों का परिचय प्राप्त करते हुए सुलोचना ने हस्तिनापुर नरेश महाराज सोमप्रभ के यशस्वी पुत्र सेनापति जयकुमार का वरण किया। इस पर भरत पुत्र युवराज अर्ककीर्ति ने अपना अपमान समझा। उन्हें उनके सेवक और अन्य राजाओं ने भड़का दिया जिससे वह जयकुमार से युद्ध करने को तत्पर हो गये। जयकुमार ने भी शूरवीरता से युद्ध किया और अर्ककीर्ति को पराजित कर पकड़ लिया। महाराज अकम्पन और जयकुमार ने अपनी लघुता प्रगट

करते हुए समस्त वृत्तान्त दूत के माध्यम से चक्रवर्ती सम्राट के पास भिजवाया। भरतजी ने परिस्थिति की गंभीरता और सच्चाई को समझते हुए युवराज अर्ककीर्ति को अपराधी पाया; अतः उन्होंने निश्चय किया कि “मैं उसे अवश्य दण्ड दूँगा।” इसप्रकार दूत से भरत महाराज ने स्पष्ट शब्दों में कहा। तदनन्तर चक्रवर्ती ने युवराज अर्ककीर्ति को राजसभा में बुलाकर उसके कृत्य की समुचित भर्त्सना की।

एक दिन भरत ने सोचा कि “हमने जो वैभव प्राप्त किया है उसे कहाँ खर्च किया जाय ? मुनि तो धन से निःस्पृह रहते हैं। अतः अणुव्रत धारी गृहस्थों के लिए ही धनाधिक देना चाहिए।” एतदर्थ उनकी पात्रता की परीक्षा हेतु एक दिन भरत चक्रवर्ती ने नगर के सब लोगों को किसी उत्सव के बहाने अपने घर बुलाया। घर के अन्दर पहुँचने के मार्ग हरित अंकुरों से आच्छादित करा दिये। बहुत से लोग उन मार्गों से चक्रवर्ती के महल में प्रविष्ट हुए; परंतु कुछ लोग बाहर खड़े रहे। चक्रवर्ती ने उनसे भीतर न आने का जब कारण पूछा तब उन्होंने कहा कि “मार्ग में उत्पन्न हुई हरी घास आदि स्वयं एकेन्द्रिय जीव हैं। हम लोगों के चलने से वे सब मर जायेंगे अतः जीवों की रक्षा के कारण हम लोग अन्दर आने में असमर्थ हैं।” चक्रवर्ती उनके इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें ‘ब्राह्मण’ संज्ञा दी। यही लोग ब्राह्मण कहलाये। महाराजा आदिनाथ द्वारा स्थापित क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों के साथ ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करने से भरतजी सोलहवें कुलकर माने गये। भरत के नाम से ही इस देश का नाम ‘भारतवर्ष’ पड़ा।

भरत महाराज अपने धर्मध्यान को बनाये रखने के लिए सभी आवश्यकों को नित्य प्रति सम्पन्न करते थे। मुनियों के प्रति भक्ति और आहारदान में उनकी तत्परता का एक प्रसंग बड़ा मार्मिक एवं प्रेरक हैं -

नगर में एक दिन अनेक मुनि चर्या के लिए पधारे, किन्तु मार्ग में अन्य श्रावकों ने उनका पड़गाहन कर लिया। अतः राजमहल तक कोई मुनिराज नहीं आ पाये। इसलिए भरत चिन्तामग्न हो गये। वे बार-बार विचार करने लगे - थोड़ी देर में उन्हें आकाश में गतिशील प्रभापुंज दिखाई पड़ा। भरत आश्चर्यचकित होकर उधर देखने लगे। धीरे-धीरे उस प्रभापुंज ने आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। वे और कोई नहीं,

दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे। भरत उन्हें देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। उन्होंने भक्तिपूर्वक उन मुनियों का पड़गाहन किया और गृहप्रवेश का निवेदन किया। तदनन्तर वे मुनिराज ईर्यापथ समितिपूर्वक भूमि को देखते हुए भरत के पीछे-पीछे चल पड़े। मुनिराज के आहार सम्पन्न होने पर देवों ने पञ्चाश्चर्य किये। इस तरह श्रावकोचित दिनचर्या में सम्राट भरत की मुनिभक्ति भी प्रख्यात रही है।

एक दिन चक्रवर्ती भरत ने अद्भुत फल दर्शाने वाले स्वप्न देखे। उन स्वप्नों के देखने से जिन्हें चित्त में कुछ खेद-सा उत्पन्न हुआ है। “भरत अचानक जाग पड़े और उन स्वप्नों के फल का इसप्रकार विचार करने लगे कि “ये स्वप्न मुझे प्रायः बुरे फल देने वाले जान पड़ते हैं तथा साथ में यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगे के पंचम काल में फल देने वाले होंगे; क्योंकि इस समय भगवान् ऋषभदेव के प्रकाशमान रहते हुए प्रजा को इसप्रकार का उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है? इसलिए कदाचित् इस कृतयुग (चतुर्थकाल) के व्यतीत हो जाने पर जब पाप की अधिकता होने लगेगी तब ये स्वप्न अपना फल देंगे। ये स्वप्न अनिष्ट को सूचित करने वाले हैं। यद्यपि यह अनुमान स्थूल ज्ञान करानेवाला है, सूक्ष्म तत्त्व की प्रतीति तो प्रत्यक्ष ज्ञान से ही हो सकती है। तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप दिखलाने वाले भगवान् ऋषभदेव के रहते हुए मुझे बुद्धि का भ्रम क्यों रहे ? इसलिए इस विषय में भगवान् के मुखरूपी मंगल दर्पण को देखकर ही मुझे स्वप्नों के यथार्थ रहस्य का निर्णय करना उचित है। इसप्रकार मन में विचार कर महाराज भरत समोसरण में भगवान् की अनेक स्तोत्रों के द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर मुनिराज द्वारा प्राप्त धर्मरूप अमृत के पान से वे बहुत ही संतुष्ट हुए और उच्च स्वर से अपने हृदय का अभिप्राय मुनिराज से इसप्रकार निवेदन करने लगे। “हे देव! आज मैंने रात्रि के अन्तिम भाग में सोलह स्वप्न देखे हैं और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये स्वप्न प्रायः अनिष्ट फल देने वाले हैं। कृपया उनका फल बतायें?

(१) पर्वत पर स्थित तेईस सिंह (२) सिंह के पीछे हिरणों का समूह (३) बड़े हाथी के उठाने योग्य बोझ से झुकी पीठवाला घोड़ा (४) शुष्क पत्ते खानेवाले बकरों का समूह (५) हाथी के ऊपर बैठा बन्दर (६) कौओं द्वारा त्रसित किया हुआ उलूक (७) नाचते हुए भूत (८) मध्य भाग में सूखा किन्तु किनारे-

किनारे थोड़ा पानी भरा हुआ तालाब (९) धूलधूसरित रत्नराशि (१०) पूजा सत्कार को प्राप्त नैवेद्य खाता हुआ कुत्ता (११) उच्च स्वर में शब्द करते हुए तरुण बैल (१२) परिमण्डल से घिरा हुआ चन्द्रमा (१३) शोभा रहित जाते हुए दो बैल (१४) मेघों से आवृत्त सूर्य (१५) छाया रहित सूखा वृक्ष (१६) जीर्ण पत्तों के समूह ।

देखे गये उन सोलह स्वप्नों का फल भगवान् ने क्रमशः इस प्रकार बतलाया - पहले स्वप्न का फल महावीर के अतिरिक्त २३ तीर्थकरों के समय में दुर्नयों की उत्पत्ति का अभाव रहेगा, दूसरे स्वप्न का फल - महावीर के तीर्थ में अनेकों कुलिंगियों की उत्पत्ति होगी, तीसरे स्वप्न का फल - पंचम काल में साधुगण तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे । चौथे स्वप्न का फल - आगामी काल में दुराचारी मनुष्यों की उत्पत्ति होगी, पाँचवें स्वप्न का फल - क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और निम्नकुलीन लोग शासन करेंगे, छठवें स्वप्न का फल - धर्म की इच्छा से मनुष्य अन्य मत के साधुओं के पास जायेंगे, सातवें स्वप्न का फल - व्यन्तर देवों की पूजा होगी, आठवें स्वप्न का फल - आर्य खण्ड से हटकर म्लेच्छ खण्डों में थोड़ा धर्म रह जायेगा, नौवें स्वप्न का फल - पंचमकाल में ऋद्धिधारी मुनियों का अभाव होगा, दसवें स्वप्न का फल - गुणी पात्रों के समान अब्रती अपात्रों का सत्कार होगा, ग्यारहवें स्वप्न का फल - तरुण अवस्था में ही मुनिपद की साधना होगी, वृद्धावस्था में शिथिलता रहेगी, बारहवें स्वप्न का फल - पंचमकाल में मुनियों को अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान का अभाव होगा, तेरहवें स्वप्न का फल है कि मुनिगण साथ-साथ रहेंगे अर्थात् जिनकल्प रूप एकाकी विहार का अभाव होगा, चौदहवें स्वप्न का फल है कि केवलज्ञान रूपी सूर्य का अभाव होगा, पन्द्रहवें स्वप्न का फल है कि स्त्री-पुरुष कुलाचार का त्याग करेंगे और सोलहवें स्वप्न का फल है कि महा औषधियों का रस नष्ट होगा ।

“कैलाश पर्वत पर विराजित भगवान् आदिनाथ ने समवशरण छोड़कर योग निरोध किया है” यह समाचार पाकर भरत समस्त परिवार के साथ कैलाश पर्वत पर आ गये । वहाँ उन्होंने भगवान् ऋषभदेव की तीन प्रदक्षिणायें दीं, स्तुति की और चौदह दिन तक भक्ति भाव से महामह नाम की पूजा करते रहे । भगवान्

के निर्वाण गमन के पश्चात महाराजा भरत ने उस निर्वाण भूमि पर रत्नमय चौबीस जिन मन्दिरों का निर्माण कराया। भरत ने एक दिन दर्पण में मुख देखते हुए शिर के बालों में एक श्वेत केश देखा और तत्क्षण भोगों से विरक्त हो गये। अपने अर्ककीर्ति पुत्र को राज्यपद देकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। केशलौच करते ही अन्तर्मुहूर्त में उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया। जिससे भरत केवली सर्वज्ञ प्रभु होकर इन्द्रों द्वारा वन्दनीय गन्धकुटी में विराजमान हो गये। बहुत काल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हुए आयु के अंत समय में वृषभसेन आदि गणधरों के साथ कैलाश पर्वत पर कर्मों का क्षय करके केवली भगवान भरत ने मोक्ष प्राप्त किया। ●

२. सगर चक्रवर्ती

तीर्थकर अजितनाथ के तीर्थकाल में सगर नामक दूसरे चक्रवर्ती हुए, सगर चक्रवर्ती की पूर्व पर्याय का परिचय कराते हुए कहा है कि इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में वत्सकावती देश का तत्कालीन राजा जयसेन था। जयसेन के दो पुत्र थे। एक रतिषेण और दूसरा घृतिषेण। वे दोनों पुत्र पुण्यवान और बलवान तो थे ही, अपने सौन्दर्य और कान्ति से सूर्य के तेज और चन्द्र की कान्ति को भी फीका करते थे।

राजा जयसेन और उसकी पत्नी जयसेना को वे दोनों पुत्र इतने प्रिय थे कि वे एक पल को भी उन्हें अपने पास से पृथक् नहीं कर सकते थे। अतः वे उन्हें अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देते थे। परन्तु काल की गति विचित्र है, जिन्हें वे एक पल को पृथक् नहीं करते, उनमें प्रथम रतिषेण असमय में ही दिवंगत हो गया, उसके मरण से पुत्र वियोग के दुःख को न सह पाने के कारण वे दोनों मूर्छित हो गये।

कहते हैं कि 'काल के गाल में सब समा जाते हैं।' ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वे भी सहज होते गये; परन्तु रतिषेण की मौत से उनके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आ गया। वे संसार से विरक्त हो गये। मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पाने को अपने द्वितीय पुत्र घृतिसेन को राज्य शासन सौंपकर अपने अजर-अमर स्वरूप के सहारे जिनदीक्षा धारण कर ली। उनके साथ उनके साले महारुत तथा और भी अनेक राजा दीक्षित हुए।

जयसेन मुनि ने आयु के अन्त में संन्यास मरण किया। फलस्वरूप वे महाबल नामक देव हुए। जयसेन के साले महारुत भी उसी स्वर्ग में मणिकेतु नामक देव हुआ। वहाँ उन दोनों ने परस्पर संकल्प किया। दोनों परस्पर वचनबद्ध हुए कि हम दोनों में जो पहले पृथ्वी लोक पर अवतीर्ण होगा, मनुष्य जन्म धारण करेगा, दूसरा देव उसे सांसारिक दुःखों से निकलने हेतु संयम धारण करने एवं दीक्षा लेने को संबोधित करेगा।

महाबल देव अच्युत स्वर्ग से चयकर अयोध्या नगरी में महाराजा समुद्रविजय के सगर नाम का पुत्र हुआ। उसकी आयु सत्तरलाख पूर्व की थी, जिसमें से अठारह लाख पूर्व तो कुमार अवस्था में बीते तत्पश्चात् यहाँ मंडलेश्वर पद प्राप्त हुआ। कुछ दिन बाद उन्हें चक्रवर्त्तन की प्राप्ति हुई और उन्होंने छह खण्ड की दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया।

सगर चक्रवर्ती के एक से बढ़कर एक साठ हजार गुणवान पुत्र थे। एक दिन सिद्धिवन में एक मुनिराज पधारे थे। उन्हें उसीसमय समस्त लोकालोक के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्रगट हुआ था। उनके केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव में अन्य देवों का तथा इन्द्रों के साथ मणिकेतु देव भी आया था। वहाँ आकर उसने जानना चाहा कि मेरा मित्र महाबल देवलोक से मृत्यु को प्राप्त होकर कहाँ उत्पन्न हुआ है? ऐसी इच्छा होते ही उसने अपने अवधिज्ञान से जान लिया, वह सगर चक्रवर्ती हुआ है। ऐसा जानकर वह मणिकेतु सगर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और बोला - “क्यों स्मरण है? हम दोनों अच्युत स्वर्ग में कहा करते थे कि “हम दोनों में जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा, उसे यहाँ रहनेवाला साथी संबोधेगा, समझायेगा। मैं वही तुम्हारा मित्र मणिकेतु देव हूँ।

“हे भव्य! मनुष्य जन्म के साम्राज्य सुख का तू चिरकाल से उपभोग कर रहा है; परन्तु तुझे इस वैभव में किंचित् भी सुख-शान्ति नहीं मिली है। इन जहरीले भोगों की तृष्णा नागिन ज्यों-ज्यों डसती है, त्यों-त्यों आकुलता ही उत्पन्न होती है। अतः हे राजन्! अब तू मुक्ति के लिए उद्यम कर! ये भोग भुजंग के समान हैं, इनसे अनुराग मत कर! भुजंग के काटने से तो एक बार ही मरण होता है; किन्तु ये भोग तो अनन्त दुःखकारी हैं।

हे राजन्! चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति से भी इस मनुष्य भव का एक-एक समय बहूमूल्य है - ऐसी यह मानव पर्याय और आत्मकल्याण के अनुकूल यह सुकुल, उत्तम देह, जिनवाणी का सान्निध्य सभी कुछ सहज उपलब्ध है; फिर भी यदि तुम इन विषवत् भोगों में अटके रहे; आत्मा से परमात्मा बनने की ओर अग्रसर नहीं हुए तो तुम्हारे इस चक्रवर्तित्व को धिक्कार है, धिक्कार है; अनन्तबार धिक्कार है।

हे सगर ! तू इस क्लेशरूप संसार से विरत हो! प्रमाद छोड़कर जाग्रत हो! यदि तू आत्महित में प्रवृत्त नहीं हुआ तो रत्नचिन्तामणि जैसी यह मूल्यवान पर्याय निष्फल हो जायेगी।”

मणिकेतु के इतना सम्बोधने पर भी जब चक्रवर्ती सगर भोगों से विरत नहीं हुआ तो मणिकेतु वापिस देवलोक चला तो गया; परन्तु वह ऐसा उपाय सोचने लगा, ताकि सगर का हृदय द्रवित हो उठे और उसे संसार का सुख असार लगने लगे। मणिकेतु यह भलीभांति जानता था कि “जगत के जीवों का यह स्वभाव ही है कि वे जिस पर्याय में जाते हैं, वहीं रम जाते हैं। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में ही रम जाता है, दुःखद पर्याय से भी मुक्त नहीं होना चाहता; फिर सगर तो चक्रवर्ती है, अतः वह आसानी से विरक्त नहीं होगा।”

मणिकेतु देव सोचता है कि “उसकी समझ में तबतक कुछ नहीं आयेगा जबतक उसकी भली होनहार नहीं होगी और मुक्तिमार्ग की काललब्धि नहीं आयेगी।” अपने आपको सान्त्वना देते हुए भी मणिकेतु मित्र के अनुरागवश सगर को सम्बोधने के लिए पुनः व्याकुल हो उठा।

सगर को संसार-शरीर और भोगों से विरक्त कराने के लिए मणिकेतु के मन-मस्तिष्क में एक उपाय सूझा - अतः वह पुनः पृथ्वी लोक पर आया और इस बार उसने चारण ऋद्धिधारी मुनि का रूप बनाया। वह मुनि वेषधारी मणिकेतु देव संयम की भावना भाता हुआ जिनेन्द्र देव की वन्दना कर सगर चक्रवर्ती के चैत्यालय में जा ठहरा।

उस चारण ऋद्धिधारी धारक, युवा, रूपवान, बलवान एवं सर्वगुणसम्पन्न मुनि को देखकर चक्रवर्ती सगर आश्चर्यचकित हो गया। उसने पूछा - “आपने इस अवस्था में यह तप धारण क्यों किया ?”

चारण मुनि वेषधारी देव ने संसार के स्वरूप का चित्रण करते हुए वैराग्यवर्द्धक वचन कहे - “हे राजन्! यह यौवन बुढ़ापे के द्वारा ग्रसनेवाला है, आयु प्रतिक्षण कम हो रही है, यह सुन्दर शरीर नवमल द्वारों से दुर्गन्धित और मलिन है, इसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं, सचमुच देखा जाय तो यह देह व्याधियों का ही घर है। जन्म-जरा-मृत्यु आदि १८ दोषों से युक्त है। अशुचि भावना में तो स्पष्ट कहा है कि - यह देह मांस, खून, पीव और मल-मूत्र की थैली है, हड्डी, चर्बी आदि से अत्यन्त मैली है, इस देह में नौ द्वारों से घृणास्पद मल प्रवाहित होता है। हे भाई ! तू ऐसी देह से प्रेम क्यों करता है? इससे अपने मोक्षमार्ग को साध कर इसे सफल क्यों नहीं करता?”

ये घर, द्वार, गोधन, हाथी, घोड़ा, नौकर-चाकर, यह युवावस्था तथा ये इन्द्रियों के भोग - सब इन्द्रधनुष और बिजली के समान क्षणिक हैं, नाशवान हैं; अतः इनसे राग तोड़ और आत्मा से प्रीति जोड़!

हे भव्य पुरुषोत्तम ! संसार में इष्ट वस्तुओं का वियोग और अनिष्ट वस्तुओं का संयोग सदैव होता ही रहता है। जिनके निमित्त से कुगति का कारण आर्तध्यान होता रहता है। अतः मैं तपरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों को जलाकर सुवर्ण के समान अविनाशी शुद्धि एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त करूँगा।”

मुनिवेष धारी पूर्वभव के मित्र मणिकेतु देव के इसप्रकार कहने पर चक्रवर्ती सगर संसार के दुःखद स्वरूप को समझकर संसार से किंचित् उदास तो हुआ, परन्तु मोक्षमार्ग अभी भी नहीं पा सका; क्योंकि वह निमित्त रूप में तो पुत्र व्यामोह की सांकल से जकड़ा था और वस्तुस्वरूप की तरफ से देखें तो अभी उसकी काललब्धि ही नहीं आई थी। अथवा यों कहें कि अभी उसका दीर्घ संसार शेष था।

मणिकेतु जब इस उपाय में भी सफल नहीं हुआ तो वह मन में विषाद करता हुआ वापिस चला गया। नीतिकार कहते हैं कि ‘निष्फल उपाय किस बुद्धिमान को विषादयुक्त नहीं करता। कोई कितना भी समझदार क्यों न हो तत्काल विषाद तो हो ही जाता है। भूमिकानुसार जबतक जितने कषायकण अथवा तत्संबंधी राग विद्यमान है, तदनुसार यत्किंचित् दुःख तो हो ही जाता है।’

वह मणिकेतु देव सोचने लगा कि “देखो, चक्रवर्तित्व के साम्राज्य की तुच्छ लक्ष्मी और पुत्र व्यामोह

के वशीभूत हुए चक्रवर्ती ने अच्युत स्वर्ग की लक्ष्मी भुला दी। सो ठीक ही है - 'कामी मनुष्यों को अच्छे-बुरे के अन्तर का विवेक कहाँ होता है?' वह सोचता है कि मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह चक्रवर्ती अपने चक्रवर्तित्व के वैभव और भोगोपभोगों में विवेकशून्य हो गया है। अस्तु स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मी का लाभ भी इसे अभी लाभ सा नहीं लगता - ऐसा समझकर ही यह पुत्रों के मोह में मस्त हो रहा है।

एक बार की बात है कि सिंह के बच्चों के समान उद्धत और स्वाभिमान से भरे वे राजपुत्र सभा में विराजमान चक्रवर्ती सगर से कहने लगे - "शूरवीरता और साहस से सुशोभित क्षत्रिय पुत्रों का यौवन यदि दुःसाध्य कार्य में पिता का मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो ऐसे यौवन को धिक्कार है। वह बकरे के गले में लटकते स्तनों के समान निरर्थक है। जन्म और यौवन का अस्तित्व तो सर्वसाधारण जीवों के जीवन में भी होता। उसमें हमारी क्या विशेषता है। अतः आप हम लोगों को साहसपूर्ण कार्य सौंपिए, जिसमें हम अपने प्राप्त यौवन और बल को सार्थक कर सकें।"

चक्रवर्ती ने उनके प्रस्ताव का आदर करते हुए कहा - "बेटा! आप लोगों का कथन बिल्कुल सत्य है, परन्तु चक्ररत्न से सबकुछ प्राप्त हो चुका है। अब तुम्हारे लिए तो बस यही काम है कि इस प्राप्त राज्यलक्ष्मी का सुख से उपभोग करो।"

पिता के कहने पर उस समय तो पुत्र चुप हो गये; क्योंकि नीतिकार का कथन है कि 'शुद्ध वंश में उत्पन्न हुए सुपुत्र पिता के आज्ञाकारी ही होते हैं'; परन्तु आत्मशुद्धि से भरे वे राजपुत्र एक दिन पुनः पिता के पास पहुँचे और विनम्र भाव से साग्रह निवेदन करने लगे कि "यदि आप हम लोगों को कोई भी कार्य नहीं देते हैं तो हम भोजन ग्रहण नहीं करेंगे?"

पुत्रों का निवेदन सुनकर पिता कुछ चिन्ता में पड़ गये। वे सोचने लगे - "इन्हें कौन सा काम दिया जाय? अकस्मात् उन्हें याद आया कि धर्म का एक काम बाकी है, जिसे ये सब मिलकर करें। उन्होंने हर्षित होकर पुत्रों को आदेश दिया कि भरत चक्रवर्ती ने कैलाशपर्वत पर जो महारत्नों से अरहन्तदेव के चौबीस

मन्दिर बनवाये थे, तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को मोड़कर उन मन्दिरों की परिखा (खाई) बना दो। उन पुत्रों ने पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया।

प्रेम और सज्जनता से उत्प्रेरित होकर मणिकेतु देव फिर भी अपने मित्र राजा सगर को समझाने के लिए योग्य उपाय सोचने लगा। उसने सोचा कि - “वचन चार प्रकार के होते हैं, (१) कुछ वचन तो हितमिते होते हैं, जिन्हें सर्वोत्तम कहा जाता है। ये अधिकांश मुनि भूमिका में ही संभव होते हैं। (२) दूसरे, कुछ वचन हितकर होते हुए भी अप्रिय या कर्णकटु होते हैं। इन वचनों का प्रयोग माता-पिता और गुरुजन करते हैं, इनका प्रयोग मध्यम श्रेणी के लोग करते हैं। (३) तीसरे प्रकार के वचन सुनने में तो प्रिय लगते हैं, प्रयोग में अहित कर सिद्ध होते हैं। ऐसे वचन चाटुकार लोग या स्वार्थी लोग करते हैं। ऐसे लोग सोचते हैं कि हम कठोर बोलकर बुरे क्यों बनें, हित-अहित की बात वे स्वयं सोचें। हमारा काम बनना चाहिए, उसकी वह जाने। ऐसे लोग अधम व्यक्तियों की श्रेणी में गिने जाते हैं और (४) चौथे कुछ लोग अहितकर और अप्रिय बोलकर मन ही मन खुश होते हैं, उन्हें अधमाधम मानवों की श्रेणी में गिना जाता है।

“इन चार प्रकार के वचनों में अन्तिम दो प्रकार के वचनों को छोड़कर प्रथम दो प्रकार के वचनों से हित का उपदेश दिया जा सकता है ?” ऐसा निश्चय कर वह मणिकेतु देव अपने मित्र सगर चक्रवर्ती को सन्मार्ग पर लाने हेतु एक दुष्टनाग का रूप धारण कर कैलाश पर्वत पर आकर उन स्वाभिमानी राजकुमारों को अपनी विक्रिया से भस्म करने का प्रदर्शन किया। नीतिकार कहते हैं - “ठीक ही है जब सीधी उंगली से पीपा में से घी नहीं निकलता तो उंगलियों को टेड़ा करना ही पड़ता है। मणिकेतु देव को जब अन्य कोई उपाय नहीं सूझा तो उसने सगर का हित करने हेतु यह मध्यम प्रयोग किया।

सगर के मंत्री यह जानते थे कि राजा का पुत्रों पर भारी स्नेह है, अतः पुत्रों का मरण जानकर भी वे मंत्रीगण राजा को यह दुःखद समाचार नहीं दे सके। वे तो उस समाचार को उल्टा छिपाये रहे।

तत्पश्चात् वह मणिकेतु स्वयं ब्राह्मण का रूप धरकर चक्रवर्ती सगर के पास पहुँचा और बहुत भारी शोक से आक्रान्त होने का प्रदर्शन करते हुए कहने लगा - “हे राजन्! यद्यपि आप पृथ्वी मण्डल का शासन

एवं पालन-पोषण करते हुए हम सब प्रजाजन सुखी हैं, परन्तु आयु की अवधि शेष रहने पर भी यमराज ने मेरे पुत्र का अपहरण कर लिया है। मेरा एक ही लोक में सबसे प्यारा पुत्र था। मेरा उसके बिना जीवित रहना कठिन हो गया है। यदि आप उसे जीवित नहीं करते हैं तो यमराज मुझे भी ग्रसित कर लेगा; क्योंकि जो कच्चे फल खाने से नहीं चूकता वह पके फल क्यों छोड़ेगा?"

ब्राह्मण के वचन सुनकर राजा ने कहा - "हे द्विजराज ! क्या आप नहीं जानते कि यमराज सिद्ध भगवान के द्वारा ही निवारण किया जाता है, अन्य जीवों के द्वारा नहीं। यह, बात तो आबाल-गोपाल सबको प्रसिद्ध है। इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं कि जिनकी आयु बीच में ही छिद जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि जो जितनी आयु का बन्ध करते हैं, उतने ही जीवित रहते हैं, बीच में उनका मरण नहीं होता। यमराज पर द्वेष करना वृथा है। यमराज ऐसा कोई व्यक्ति विशेष नहीं है जो जीवों को मारता-फिरता हो, वस्तुतः यमराज नाम का कोई प्राणी ही नहीं है, मृत्यु का ही दूसरा नाम यमराज है। यदि तुम मृत्यु से छुटकारा पाना चाहते हो तो इस व्याधि के मन्दिर शरीर से और प्रिय पुत्र से ममत्व को छोड़ो, शोक मत करो और जिनदीक्षा धारण कर लो।" इसी में तुम्हारा कल्याण है।

जब राजा सगर ब्राह्मण वेषधारी उस मणिकेतु देव को यह सब कह चुके, तब वह मणिकेतु बोला - "हे देव! यदि यह सच है कि मृत्यु को कोई टाल नहीं सकता तो जो मैं कहूँगा उससे आपको भयभीत और आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए।" आप स्वयं कहा करते हैं -

हमको कछु भय ना रे, जान लियो संसार, जो निगोद में सो ही मुझमें सो ही मोक्ष मंझार,
निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिने संसार ॥ हमको कछु ॥
जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होतव जा द्वार, सो बनिहे टर है कछु नहीं;
कर लीनो निरधार ॥ हमको कछु भय ना रे! जान ॥

अतः यह आपके सैद्धान्तिक ज्ञान की परीक्षा की घड़ी है।

आपके जो पुत्र कैलाश पर्वत पर खाई खोदने गये थे, वे सब मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। इसलिए आपको अपने कहे हुए मार्ग के अनुसार दीक्षा लेकर मृत्यु को जीतकर अमर होने का प्रयत्न करना चाहिए।”

ब्राह्मण के ऐसे समाचार सुनकर चक्रवर्ती राजा का वज्र की भांति सुदृढ़ हृदय भी हिल गया। वह क्षणभर के लिए निश्चेष्ट हो गया। अनेक उपचार करने से सचेत हुआ सगर चक्रवर्ती इसप्रकार कहने लगा – “व्यर्थ ही खेद बढ़ाने वाली लक्ष्मी (माया) मुझे नहीं चाहिए। स्नेह का समागम नश्वर है, शरीर अशुचि है, विनाशीक है, मल-मूत्र की थैली है, कीकस वसादि से मैली है, हाड़ का पींजरा है, घिनावनी है, क्षय हो जानेवाला है। अतः अब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये सब अकल्याणकारी हैं। यह यौवन इन्द्र धनुष के समान नश्वर है, मैं मूर्ख फिर भी इन्हीं में मूढ़ हो रहा हूँ” – ऐसा विचार कर सगर चक्रवर्ती ने भागीरथ पुत्र को राज्य सौंप कर स्वयं दृढधर्म केवली के समक्ष दीक्षा धारण कर ली।”

नीति कहती है कि विवेकी पुरुष घर में तभी तक रहते हैं, जबतक विरक्त होने के कोई बाह्य और आभ्यन्तर कारण नहीं मिलते। काललब्धि आने पर तो प्रतिदिन घटनेवाली घटनायें भी निमित्त बन जाती हैं।

इधर चक्रवर्ती ने संसार को असार और संयोगों का अन्त वियोग के रूप में बदलता देख तथा भली होनहार एवं काललब्धि आते ही जिनदीक्षा ग्रहण की, उधर वह मणिकेतु देव उन पुत्रों के पास पहुँचा और कहने लगा कि किसी ने आप लोगों के मृत्यु का समाचार आप लोगों के पिता राजा सगर से कह दिया, जिसे सुनकर पहले तो वे शोक से व्याकुल हुए और अन्त में भागीरथ को राज्य देकर तप करने लगे।

ऐसा कहकर उस देव ने मायामयी भस्म से अवगुंठित उन राजकुमारों को सचेत कर दिया। नीतिकारों ने कहा भी है – “मित्रों की माया या छल भी हित करनेवाली होती है।” पिताश्री के वैरागी होने के समाचार जानकर उन चरम शरीरी विवेकी राजकुमारों ने मणिकेतु देव का उपकार मानते हुए और कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए संसार को असार जानकर जिनेन्द्र भगवान का आश्रय लेकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

जब भागीरथ ने यह समाचार सुना कि पिताश्री तो दीक्षित हो ही गये, सभी भाइयों ने भी दीक्षा ले ली है तो वह भी उन मुनिराजों के पास गया और उन सबको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर जिनेन्द्रोक्त धर्म का स्वरूप सुना तथा श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

अन्त में मित्रवर मणिकेतु ने सगर आदि मुनियों के समक्ष अपनी समस्त माया और छल-छद्म प्रगट कर दिया और कहा - “आप लोग मेरी धृष्टता को क्षमा करें।”

उत्तर में समस्त मुनिराजों और भागीरथ ने कहा कि आप क्षमा मांगकर हमें लज्जित न करें। यह सब तो आपने हमारे ही हित के लिए किया है। इसप्रकार उन सब मुनियों ने मणिकेतु का उपकार मानते हुए उसे सान्त्वना दी। अपने कृत संकल्प को सफल करके वह मणिकेतु देव वापिस स्वर्ग चला गया।

नीतिकार कहते हैं कि “अन्य प्राणियों के कार्यसिद्ध करने में अर्थात् परोपकार करने में ही प्रायः महा-पुरुषों को सन्तोष होता है। कहा भी है - परहित सरिस धर्म नहीं भाई और पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।”

दूसरों को भला करने से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से बड़ी कोई अधमाई (नीचता) पाप की प्रवृत्ति नहीं है। वे सभी मुनिराज चिरकाल तक यथाविधि तपश्चरण करके सम्मेदशिखर पर्वत पर पहुँचे और शुक्लध्यान के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए।

“उन सबको मोक्ष प्राप्त हो गया” यह समाचार जानकर भागीरथ का मन निर्वेद से भर गया। उसे भी वैराग्य हो गया। अतः उसने वरदत्त पुत्र के लिए अपनी राज्य लक्ष्मी सौंपकर कैलाश पर्वत शिवगुप्त महामुनि से दीक्षा ले ली तथा गंगा नदी के तट पर प्रतिमा योग धारण कर लिया, ध्यानस्थ हो गये।

इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से महामुनि भागीरथ के चरणों का प्रक्षालन किया। क्षीरसागर का वह जल मुनि के चरण कमलों का स्पर्श पाकर मानो धन्य हो गया। उस प्रक्षालित जल का प्रवाह गंगा नदी में जाकर मिल गया। उसीसमय से गंगानदी भी इस लोक में तीर्थ मानी जाने लगी। महामुनि भागीरथ गंगानदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वहीं से निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस लोक में तथा परलोक में मित्र के समान हित करनेवाला अन्य कोई नहीं है। जो बात माता-पिता एवं गुरुजनों से भी नहीं कही जा सकती - ऐसी गुप्त से गुप्त बात मित्र को बता दी जाती है। सच्चा मित्र अपने मित्र के हित में अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता हुआ कार्यसिद्ध कर देता है।

मणिकेतु देव इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जगत के लिए एक आदर्श उदाहरण है। सब ऐसे ही मित्र बनें और सबको ऐसे ही सर्वस्व समर्पण करनेवाले मित्र मिलें। ●

३. मघवा चक्रवर्ती

श्री वासुपूज्य तीर्थंकर के तीर्थ में नरपति नाम का एक बड़ा राजा था, जो मुनि होकर उत्कृष्ट तपश्चरण पूर्वक समाधि को प्राप्त कर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ। सत्ताईस सागर तक मनोहर दिव्य भोगों को भोगकर वह वहाँ से च्युत होकर धर्मनाथ तीर्थंकर के मोक्ष गमन के पश्चात् अयोध्या नगरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्र के यहाँ मघवा नाम का पुत्र हुआ। उसने पाँच लाख वर्ष की आयु प्राप्त की थी। साढ़े व्यालीस धनुष ऊँचा उसका शरीर था और सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी। वह प्रतापी छह खण्डों से सुशोभित पृथ्वी का पालन कर चौदह महारत्नों से विभूषित एवं नौ निधियों का नायक था। चक्रवर्तियों की विभूति के प्रमाण में कही हुई विभूति को भोगता था।

एक दिन मनोहर नामक उद्यान में अभयघोष नाम के केवली भगवान् पधारे। उसने उनके दर्शन कर तीन प्रदक्षिणाएँ दी, वन्दना की और धर्म का स्वरूप सुना। धर्मोपदेश से तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर वह विषयों से विरक्त हुआ और प्रियमित्र नामक अपने पुत्र के लिए साम्राज्य पद की विभूति प्रदान कर बाह्यभ्यन्तर परिग्रह त्याग निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। अन्त में समाधि प्राप्त कर सनतकुमार स्वर्ग में जन्म लिया।

चक्रवर्ती मघवा पहले वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में नरपति नाम के राजा थे, फिर श्रेष्ठ चारित्र के प्रभाव से महान ऋद्धि के धारक अहमिन्द्र हुये, तत्पश्चात् धर्मनाथ तीर्थंकर के मोक्ष होने के बाद समस्त वैभव सम्पन्न मघवा नाम के तीसरे चक्रवर्ती हुये जिन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर सनतकुमार स्वर्ग में जन्म लिया। ●

४. सनतकुमार चक्रवर्ती

सनतकुमार चक्रवर्ती के पूर्वभव का परिचय कराते हुए कहा गया है कि - अयोध्या नगरी के अधिपति, सूर्यवंश शिरोमणि महाराज अनन्तवीर्य की रानी सहदेवी के गर्भ से सोलहवें स्वर्ग से आकर सनत्कुमार नामक पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न हुआ। इसने यौवन अवस्था प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में ईशान स्वर्ग से संगम नामक देव आया और इन्द्र के समीप बैठ गया। जैसे सूर्योदय होने पर तारागण म्लान पड़ जाते हैं, इसी प्रकार उस देव के आने पर अन्य देवों की कान्ति म्लान हो गई। उसे देखकर सभी देव अत्यन्त विस्मित थे। कुछ देव अपने कुतूहल को नहीं दबा सके और इन्द्र से पूछने लगे - 'किस कारण से यह देव सूर्य के समान तेजस्वी है?' इन्द्र ने उत्तर दिया - 'पिछले जन्म में इसने आचाम्ल वर्धमान तप किया था। उसी के फल से इसे ऐसा रूप मिला है। देवों ने इन्द्र से पुनः प्रश्न किया - 'क्या ऐसा रूप किसी और का भी है?' इन्द्र बोला - हाँ, है। हस्तिनापुर में कुरुवंश में उत्पन्न सनतकुमार चक्रवर्ती का रूप और तेज इससे भी अधिक है। इन्द्र की यह बात सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नामक दो देव ब्राह्मण का रूप धारण करके कुतूहलवश हस्तिनापुर पहुँचे और द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की आज्ञा लेकर स्नान-गृह में पहुँचे और द्वारपाल से चक्रवर्ती तेल की मालिश करवा रहे थे। उनका कामदेव-सा सुन्दर रूप देखकर दोनों देव विस्मित हो गये और बोले - हे राजन्! तुम्हारे तेज, यौवन और रूप की जैसी प्रशंसा सौधर्मेन्द्र ने की थी, यह उससे भी अधिक है। हम तुम्हारा यह रूप देखने ही स्वर्ग से यहाँ आये हैं।

चक्रवर्ती देवों द्वारा प्रशंसा सुनकर बोले - "देवो! अभी तुमने क्या देखा है? आप लोग कुछ देर ठहरें। जब मैं स्नान करके वस्त्राभूषण पहनकर तैयार हो जाऊँ और सिंहासन पर बैठूँ तब मेरा रूप सौन्दर्य देखना।" दोनों देव सुनकर कौतुक मन में संजोये प्रतीक्षा करने लगे। जब चक्रवर्ती तैयार हो करके सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब उन्होंने दोनों देवों को बुलाया। देव अत्यन्त उत्कण्ठा लिए पहुँचे और चक्री के तेज

और रूप को देखकर बड़े खिन्न हुये और बोले - “राजन! यह रूप, यौवन, बल, तेज और वैभव इन्द्र धनुष के समान क्षणभंगुर है। हमने वस्त्रालंकार रहित अवस्था में आपके रूप में जो सौन्दर्य देखा था, वह अब नहीं रहा। देवों का रूप जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक सा रहता है, किन्तु मनुष्यों का रूप यौवन तक बढ़ता है और यौवन के पश्चात् घटने लगता है। इसलिए इस क्षणिक रूप का मोह और अहंकार व्यर्थ है।”

देवों की बात सुनकर उपस्थित सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब कुछ सभ्य जन बोले - ‘हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी दिखाई नहीं पड़ती। न जाने आप लोगों ने पहली सुन्दरता से क्यों कमी बताई है? सुनकर देवों ने सबको प्रतीति कराने के लिए जल से पूर्ण एक घड़ा मंगवाया। उसे सबको दिखाया। फिर एक तृण द्वारा जल की एक बूँद निकाल ली। फिर सबको घड़ा दिखाकर बोले - ‘आप लोग बतलाइये, पहले घड़े में जैसे जल भरा था, अब भी वैसे ही भरा है। क्या इसमें तुम्हें कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है?’ उत्तर मिला - ‘हमें तो कुछ भी विशेषता दिखाई नहीं देता, सब देवों ने कहा - इस भरे हुए घड़े में से एक बूँद निकाल ली गई, तब भी तुम्हें जल उतना ही दिखाई पड़ता है। इसी तरह हमने महाराजा का जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा।’

देव यों कहकर अपने स्वर्ग को चले गये, किन्तु चक्रवर्ती के अन्धेरे हृदय में एक प्रकाशमान ज्योति छोड़ गये। उनके मन में विचार-तरंगें उठने लगीं - “ठीक ही तो कहते हैं ये देव। इस जगत में सब कुछ ही तो क्षणिक है, नाशवान है। मेरा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहंकार क्यों? मैंने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नहीं किया। मैं अब आत्मा के लिए करूँगा। इस तरह मन में वैराग्य जागा तो उन्होंने तत्काल अपने पुत्र देवकुमार का राजतिलक किया और चारित्रगुप्त मुनिराज के पास जाकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। वह आत्म कल्याण के मार्ग में निरन्तर बढ़ने लगे। एक बार षष्ठोपवास के बाद वे आहार के लिए नगर में गये। वहाँ देवदत्त नामक राजा ने उन्हें आहार कराया। मुनि सनतकुमार ने आहार लेकर फिर षष्ठोपवास ले लिया। किन्तु वह आहार इतना प्रकृति-विरुद्ध

था कि उससे शरीर में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न हो गये। यहाँ तक कि उनके शरीर में कुष्ठ हो गया। शरीर से दुर्गन्ध आने लगी। किन्तु मुनिराज का ध्यान एक क्षण के लिए कभी शरीर की ओर नहीं गया। उन्हें औषध ऋद्धि प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने कभी रोग का प्रतीकार नहीं किया।

एक दिन पुनः इन्द्र सौधर्म सभा में धर्मप्रेमवश सनतकुमार मुनिराज की प्रशंसा करते हुए कहने लगे – “धन्य हैं सनतकुमार मुनि, जिन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी का साम्राज्य तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और तप का आराधन करते हुए पाँच प्रकार के चारित्र का दृढ़तापूर्वक पालन कर रहे हैं।”

इन्द्र द्वारा यह प्रशंसा सुनकर मदनकेतु नामक एक देव सनतकुमार मुनिराज की परीक्षा लेने वैद्य का वेष धारण करके उस स्थान पर पहुँचा जहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे थे। वहाँ आकर वह जोर-जोर से कहने लगा – “मैं प्रसिद्ध वैद्य हूँ, मृत्युंजय मेरा नाम है। प्रत्येक रोग की औषधि मेरे पास है।”

मुनिराज बोले – ‘तुम वैद्य हो, यह तो बड़ा अच्छा है। मुझे बड़ा भयंकर रोग है। क्या तुम उसका भी उपचार कर सकते हो?’

देव बोला – “मैं आपके रोग का उपचार कर सकता हूँ।”

मुनिराज कहने लगे – ‘यह रोग तो साधारण है। मुझे तो इससे भी भयंकर रोग है। वह रोग है जन्म-मरण का। यदि तुम उसका उपचार कर सकते हो तो कर दो।’

सुनकर वैद्य वेषधारी देव लज्जित होकर बोला – ‘मुनिनाथ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं।’

मुनिराज मुस्कराकर कहने लगे – ‘भाई! जब तुम इस रोग को नष्ट नहीं कर सकते तो फिर मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। शरीर की व्याधि तो मेरे स्पर्श मात्र से ही दूर हो सकती है, उसके लिए वैद्य की क्या आवश्यकता है।’ यों कहकर मुनिराज ने एक हाथ पर दूसरे हाथ को फेरा तो वह स्वर्ण जैसा निर्मल बन गया। मुनिराज की इस अद्भुत शक्ति को देखकर अपने असली रूप को प्रगट कर देव हाथ जोड़कर बोला – ‘देव! सौधर्मेन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, मैंने आपको वैसा ही पाया।’ और वह बड़ी श्रद्धा से

नमस्कार करके चला गया। रत्नत्रय की आराधना करते हुए आयु के अन्त में समाधि प्राप्त कर वे मुनिराज तीसरे स्वर्ग में देव हुए।

सनत चक्रवर्ती के पूर्वभवों का परिचय कराते हुए कहा गया है कि - पूर्वभवों में यह गोवर्द्धन ग्राम का निवासी हेमबाहु था। महापूजा की अनुमोदना से यक्ष हुआ। सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होने तथा जिन वन्दना करने से तीन बार मनुष्य हुआ, देव हुआ और इसके पश्चात् महापुरी नगरी का धर्मरूचि नाम का राजा हुआ। मुनि बनकर तपश्चरण करते हुए माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ और वहाँ से चलकर चक्रवर्ती सनतकुमार हुआ है।

इस कथानक से पाठकों को यह संदेश दिया गया है कि - चक्रवर्ती जैसे सातिशय पुण्य के धनी जीवों को भी पापोदय के निमित्त से ऐसी प्रतिकूलता के प्रसंग बन सकते हैं, अतः हमें प्रतिकूलताओं की परवाह न करते हुए अपने स्वस्थ जीवन में ही आत्मकल्याण में लगकर मानव जीवन को सफल कर लेना चाहिए। बाह्य धनादि के संग्रह करने में अपना अमूल्य समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। ●

५. शान्तिनाथ चक्रवर्ती

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान पाँचवें चक्रवर्ती पद के धारक भी थे। वे शान्तिनाथ चक्रवर्ती के पूर्व तीसरे भव में विदेह क्षेत्र में मेघरथ नाम के राजा थे। उनके पिता राजा धनरथ मेघरथ को राजसत्ता सौंपकर मुनि हो गये और उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर वे तीर्थंकर भी हो गये। इसतरह राजा मेघरथ को तीर्थंकर के पुत्र होने का गौरव भी प्राप्त हुआ था।

मेघरथ अपने पिता तीर्थंकर धनरथ के समोशरण में गये। उनकी उत्साहपूर्वक पूजा-भक्ति करके उनका उपदेश भी सुना। वे उनके धर्मोपदेश से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने पुत्र मेघसेन को राज्य शासन सौंपकर अपने पिता तीर्थंकर धनरथ के सान्निध्य में दीक्षा ले ली।

आत्मसाधना करते हुए ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया तथा समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ से चयकर चक्रवर्तित्व के संसूचक चक्ररत्न का प्रवर्तन कर

धर्मचक्र के प्रवर्तक तीर्थंकर शान्ति बने। अन्त में वे कर्मचक्र का नाश कर सिद्धचक्र में सम्मिलित हो गये।

उन्हें २५ हजार वर्ष तक साधारण राज्यशासन करने के बाद चक्रवर्तित्व की संसूचक चौदह रत्न और नवनिधियाँ आदि सभी चक्रवर्ती का वह वैभव प्राप्त हुआ था। जिसका विशेष विवरण चक्रवर्ती के सामान्य स्वरूप में विस्तार से दिया ही गया है।

चक्रवर्तित्व के पद का सुखोपभोग करते हुए भी उन्हें सच्ची शान्ति व सुख नहीं मिला। अतः उन्होंने पच्चीस हजार वर्ष तक चक्रवर्तित्व का संचालन करते हुए एक दिन उन्हें दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखने के निमित्त से वैराग्य हो गया और वे सातिशय पुण्य से प्राप्त उस चक्रवर्तित्व का त्याग कर स्वयं दीक्षित हो गये और तीर्थंकर प्रकृति के फलानुसार उनकी सब प्रक्रियायें पूर्ण हुईं और कर्मचक्र का अभाव कर सिद्धचक्र में सम्मिलित हो गये। ●

६. कुन्थुनाथ चक्रवर्ती

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ अपने तीसरे पूर्वभव में राजा सिंहस्थ थे। फिर विशिष्ट तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वहाँ से चयकर उन्होंने कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसे महान पदों को प्राप्त किया।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकाल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था तथा इतना ही समय बीत जाने पर उन्हें अपनी ही जन्मतिथि के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त हुई थी। वे नवनिधि और चौदह रत्नों से सम्पन्न हुए। चक्ररत्न के प्रभाव से उन्होंने छहों खण्डों पर विजय प्राप्त कर ली थी। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं को अपना आज्ञानुवर्ती बनाते हुए इन्होंने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित किया। जितना समय मण्डलेश्वर रहकर इन्होंने व्यतीत किया, उतना ही समय चक्रवर्ती पद पाकर व्यतीत किया। तदनन्तर किसी एक दिन पूर्व भव का स्मरण होने से जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे चक्रवर्ती सम्राट कुन्थुनाथ राज्य भोगों से विरक्त हो गये। उसीसमय देवों द्वारा लाई गई विजया नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर वे भगवान सहेतुक वन में गये और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा की तिथि में वेला का नियम लेकर सायंकाल के समय उन्होंने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली।

जो पूर्व तीसरे भव में राजा सिंहरथ थे, फिर विशिष्ट तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से चयकर चक्रवर्ती और तीर्थकर के महान पदों को प्राप्त किया - ऐसे कुन्थुनाथ स्वामी हम सबका कल्याण करें। ●

७. अरनाथ

तीर्थकर, कामदेव होने के साथ अरनाथ सातवें चक्रवर्ती भी थे। अरनाथ स्वामी तीसरे पूर्वभव में धनपति नाम के राजा थे। राजा धनपति अर्हतनंदन तीर्थकर की दिव्यध्वनि सुनकर संसार से विरक्त हो गये। मुनिराज की भूमिका में आत्मसाधना करते हुए सोलहकारण भावनायें भाकर तीर्थकर प्रकृति का बन्ध तो किया ही है। साथ ही चक्रवर्तित्व पद प्राप्त करने का सातिशय पुण्य भी प्राप्त किया।

समाधिमरण पूर्वक देह का त्याग कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ से चय कर अठारहवें तीर्थकर अरनाथ के रूप में अवतरित हुए।

तीर्थकर प्रकृति के साथ बंधे सातिशय पुण्य के फल में गर्भ एवं जन्म कल्याणक की प्रक्रिया पूर्वोक्तानुसार सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। आयुधशाला में चक्ररत्न के प्रगट हो जाने पर वह दिग्विजय के लिए निकले और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीतकर चक्रवर्ती सम्राट के पद को प्राप्त हुए। उन्हें नवनिधियाँ और चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। चक्रवर्ती के योग्य सम्पूर्ण वैभव उन्हें प्राप्त था। इसप्रकार भोगोपभोग रूप सुख का अनुभव करते हुए आयु का तीसरा भाग अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु शेष थी तब किसी एक दिन उन्हें शरदऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय देखकर वैराग्य हो गया। वैराग्य को प्राप्त कर चक्रवर्ती अरनाथ ने जीर्ण तृण के समान राज्य लक्ष्मी को समझते हुए अपने अरविन्द नामक पुत्र के लिए राज्य-भार सौंप दिया और मगसिर शुक्ला दशमी के दिन सहेतुक वन में तेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। मुनि की भूमिका में आत्मसाधना करते हुए उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थकर पुण्य प्रकृति के उदय से प्राप्त समोसरण की रचना एवं दिव्यध्वनि आदि के द्वारा धर्म का प्रचार-प्रसार किया।

अन्त में उन्होंने योग निरोध कर सिद्धपद प्राप्त कर लिया। ●

८. सुभौम चक्रवर्ती

श्री अरनाथ तीर्थकर के बाद दो सौ करोड़ बत्तीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर सुभौम चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ था। यह सुभौम समस्त शत्रुओं को नष्ट करनेवाला था और चक्रवर्तियों में आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी साठ हजार वर्ष की आयु थी, सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी, वह लक्ष्मीवान था, इक्ष्वाकुवंश का शिरोमणि था, अत्यन्त स्पष्ट दिखनेवाले चक्र आदि शुभ लक्षणों से सुभोभित था। चक्रवर्ती पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव उसके पास था।

महाराज सुभौम का एक अमृत रसायन नाम का रसोड़या था। जिसने एक दिन बड़ी प्रसन्नता से उसके लिए स्वादिष्ट विशेषप्रकार की कढ़ी परोसी। सुभौम ने उस कढ़ी के गुणों का विचार तो नहीं किया, सिर्फ कढ़ी नाम सुनने मात्र से कुपित हो गया। रसोड़या के शत्रु ने मौका पाकर सुभौम को उस रसोड़या के विरुद्ध भड़का दिया, जिससे क्रोधित होकर उस सुभौम ने उस रसोड़या को इतना अधिक मारा कि वह रसोड़या अधमरा हो गया। तब उस रसोड़या ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर यह निदान किया कि 'मैं इस राजा सुभौम को अवश्य मारूँगा।' वह मरकर थोड़े से पुण्य के कारण ज्योतिर्लोक में विभंगावधिज्ञान को धारण करनेवाला देव हुआ। पूर्व बैर का स्मरण कर वह क्रोधवश राजा को मारने की सोचने लगा। उसने देखा कि वह राजा जिह्वा लोलुपी है; अतः एक व्यापारी का वेष रख मीठे-मीठे फल देकर प्रतिदिन राजा की सेवा करने लगा।

एक दिन उस देव ने कहा कि "महाराज! वे फल तो समाप्त हो गये। और वे फल यहाँ लाये नहीं जा सकते। पहले तो मैंने उस वन की स्वामिनी देवी की आराधना कर कुछ फल प्राप्त कर लिये थे। यदि आप उन्हें अधिक पसन्द करते हैं तो आपको मेरे साथ वहाँ स्वयं चलना होगा तभी इच्छानुसार उन फलों को प्राप्त कर सकेंगे।"

राजा ने उसके मायापूर्ण मधुर वचनों पर विश्वास कर उसके साथ जाना स्वीकृत कर लिया। यद्यपि

मंत्रियों ने उसे रोकना भी चाहा, किन्तु वह नहीं माना और उसके साथ जहाज द्वारा समुद्र में गया। उसीसमय उसके महल से वे सब चक्ररत्न आदि चले गये, जिनकी एक-एक हजार यक्षदेव रक्षा करते थे।

यह जानकर छद्मवेषी देव अपने शत्रु सुभौम राजा को गहरे समुद्र में ले गया। वहाँ उस दुष्ट ने पूर्वभव का अपना रसोड़या का रूप प्रकट कर दिखाया और अनेक दुवर्चन कहकर पूर्वबद्ध बैर के संस्कार से उसे भयंकर पीड़ा देकर मार डाला। सुभौम चक्रवर्ती भी अन्तिम समय रौद्र ध्यान से मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ।

सुभौम के पूर्वभव के परिचय में कहा है कि सुभौम चक्रवती का जीव पहले तो भूपाल नामक राजा हुआ फिर तपश्चरण कर महाशुक्र स्वर्ग में सोलह सागर की आयु वाला देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर परशुराम को मारनेवाला सुभौम नाम का चक्रवर्ती हुआ और अन्त में मरण को प्राप्त कर नरक में उत्पन्न हुआ।

जो चक्रवर्ती विरागी होकर चक्रवर्ती पद का त्याग कर मुनि नहीं होता, वह चक्रवर्ती पद में होने के कारण नियम से नरक ही जाता है; क्योंकि चक्रवर्ती पद में रहते हुए उसे देश या राष्ट्र के संचालन में उसकी व्यवस्था में बहुत आरंभजनित पापों की प्रवृत्ति होती है, बहुत परिग्रह तो है ही तथा आगम का यह वचन है कि “बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह नरक आयु बंध का कारण है।”

इससे पाठकों को यह शिक्षा मिलती है कि हम यथासंभव अपने जीवन में ही आरंभ और परिग्रह को सीमित करें तथा उपलब्ध परिग्रह में भी मूर्छा (ममत्व) कम करें। ताकि दुर्गति न हो। वैरभाव तो कभी किसी के साथ लम्बाना ही नहीं चाहिए। बैर को क्रोध का आचार और मुर्ब्बा कहा गया है। अतः तत्त्वज्ञान के बल से क्रोध को ही शमित कर देना चाहिए, उसे बैर नहीं बनने दें; क्योंकि वैर अनेक भवों तक पीछा नहीं छोड़ता।

९. पद्म चक्रवर्ती

श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्र के तीर्थ में पद्म नाम का चक्रवर्ती हुआ है, जो पूर्व में तीसरे भव में प्रजापाल नाम का राजा था। राजाओं में जितने प्राकृतिक गुण कहे गये हैं, उसमें वे सब थे। अतः समस्त प्रजा सुख से रहती थी। समस्त शत्रुओं को जीत लिया था, समस्त द्वन्द्व शान्त कर दिये थे। किसी एक समय उल्कापात देखने से उसे वैराग्य हो गया। वह विचार करने लगा कि “मैंने मूर्खतावश इन भोगों को स्थायी समझकर चिरकाल तक इनका उपभोग किया है। ऐसा विचार कर उसने पुत्र के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं शिवगुप्त जिनेश्वर के पास जाकर संयम धारण कर लिया। उसने अशुभ कर्मों का आस्रव रोक दिया था और क्रम-क्रम से आयु का अन्त पाकर अपने परिणामों को समाधियुक्त कर अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुआ। वहाँ बाईस सागर की उसकी आयु थी। वह अच्युतेन्द्र आयु के अन्त में वहाँ से च्युत हुआ और फिर वाराणसी नाम की नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा पद्मनाभ का पद्म नाम का पुत्र हुआ था। तीस हजार वर्ष की उसकी आयु थी। पुण्य के उदय से उसने क्रमपूर्वक अपने पराक्रम के द्वारा अर्जित किया हुआ चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था तथा चिरकाल तक निराबाध दश प्रकार के भोगों का उपभोग किया था। उसके पृथिवीसुन्दरी आदि आठ पुत्रियाँ थीं। जिन्हें उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ सुकेतु नामक विद्याधर के पुत्रों के लिए प्रदान की थीं।

एक दिन आकाश में एक सुन्दर बादल दिखाई दिया जो चक्रवर्ती को हर्ष उत्पन्न कर शीघ्र ही नष्ट हो गया। उसे देखकर चक्रवर्ती विचार करने लगा कि इस बादल का यद्यपि कोई शत्रु नहीं है तो भी यह नष्ट हो गया, फिर जिनके सभी शत्रु हैं ऐसी सम्पत्तियों में विवेकी मनुष्य को स्थिर रहने की भावना कैसे हो सकती है ?” ऐसा विचार कर चक्रवर्ती संयम धारण करने में तत्पर हुआ ही था कि उसी समय उसके कुल का वृद्ध मंत्री बोला - ‘यह तुम्हारा राज्य प्राप्ति का समय है, अभी तुम छोटे हो, नवयौवन के धारक हो, अतः भोगों का अनुभव करो, तप में व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ता है, इसका कुछ भी फल नहीं होता; क्योंकि

जब परलोक ही नहीं है तो तप का फल कौन भोगेगा ? इसलिए यह तप करने का आग्रह छोड़ो और निराकुल होकर राज्य करो। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि यदि किसी तरह जीव का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो इस कुमारावस्था में जबकि आप अत्यन्त सुकुमार हैं, जिसे प्रौढ़ मनुष्य भी नहीं कर सकते ऐसे कठिन तप को किसप्रकार सहन कर सकेंगे ?' इसप्रकार शून्यवादी नास्तिक मंत्री ने कहा।

यह सुनकर चक्रवर्ती कहने लगे कि “इस संसार में जो पंचभूतों का समूह दिखाई देता है वह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त होने के कारण पुद्गलात्मक है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि के द्वारा जिसका वेदन होता है, वह चैतन्य गुणयुक्त जीव नाम का पदार्थ विद्यमान है इसका स्वसंवेदन से अनुभव होता है और बुद्धिपूर्वक क्रिया देखी जाती है। इस हेतु से अन्य पुरुषों के शरीर में भी आत्मा है, यह अनुमान से जाना जाता है। इसीलिए आत्मा नाम का पृथक् पदार्थ है। साथ ही परलोक का अस्तित्व भी है, क्योंकि अतीत जन्म का स्मरण देखा जाता है। इत्यादि युक्तिवाद के द्वारा चक्रवर्ती ने उस शून्यवादी मंत्री को अस्तित्व का अच्छी तरह श्रद्धान कराया, परिवार को विदा किया और अपने पुत्र के लिए राज्य सौंपकर समाधिगुप्त नामक जिनराज के पास सुकेतु आदि विद्याधर राजाओं के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली।

उन्होंने अनुक्रम से आगे-आगे होनेवाले विशुद्धि रूप परिणामों की पराकाष्ठा को पाकर घातिया कर्मों का क्षय किया, जिससे वे नव केवल लब्धियों के स्वामी हो गये। जब अन्तिम समय आया तब अघातिया कर्मों के क्षय हो जाने से निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

जो पहले प्रजापाल नाम का राजा हुआ था, फिर तपश्चरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। तदनन्तर समस्त भरत क्षेत्र के स्वामी पद्म नाम के चक्रवर्ती हुए, फिर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर परमपद को प्राप्त हुए, ऐसे वे सिद्ध परमात्मा हम सबके लिए भी सत्पथप्रदर्शक बनें।

१०. हरिषेण चक्रवर्ती

श
ला
का
पु
रु
ष
उ
त्त
रा
र्द्ध

श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकर के तीर्थ में हरिषेण नाम के चक्रवर्ती हुए। वह अपने से पूर्व तीसरे भव में अनन्तनाथ तीर्थकर के तीर्थ में एक बड़ा भारी राजा था। वह किसी कारण से उत्कृष्ट तप कर सनतकुमार स्वर्ग के सुविशाल नामक विमान में छह सागर की आयु वाला उत्तम देव हुआ। तदनन्तर उस देव की आयु पूर्ण होने को हुई तो राजा सिंहध्वज की प्रमुख रानी जो कि अनेक गुण एवं कलाओं के साथ परम धार्मिक भी थी। यथा समय उस वप्रा ने उस देव को चौंसठ शुभ लक्षण युक्त पुत्र के रूप में जन्म दिया। माता-पिता ने उसका नाम हरिषेण रखा। दश हजार वर्ष की उनकी आयु थी, दैदीप्यमान सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी, चौबीस धनुष ऊँचा शरीर था।

युवा होने पर सिंहध्वज ने महालक्ष्मी नाम की राजकन्या के साथ उसका विवाह किया। यद्यपि महालक्ष्मी जिनधर्म से द्वेष रखती थी। तथापि राजा हरिषेण का मन महालक्ष्मी में अधिक आसक्त हुआ। यथा समय नंदीश्वर पर्व आया, हरिषेण की माँ वप्रा ने पूर्ववत् रथोत्सव के लिए राजकर्मचारियों को आज्ञा दी। रथोत्सव की जोर-शोर से तैयारियाँ होने लगीं। उसको देखकर महालक्ष्मी ने अपने सौभाग्य के मद में आकर कहा कि मेरा ब्रह्म रथ नगर में पहले निकाला जायेगा। यह वार्ता सुनकर वप्रा खेद खिन्न हो गई, मानो वज्रपात ही हुआ हो, तब उसने दृढ़ निश्चय करके यह प्रतिज्ञा कर ली कि हमारे वीतराग प्रभु का रथ निकलेगा तो षट्सयुक्त भोजन करेंगे अन्यथा षट्सयुक्त भोजन त्याग है। इसप्रकार से प्रतिज्ञा लेकर संपूर्ण कार्य छोड़कर वह उदास होकर बैठ गई।

हरिषेण ने माता को उदासचित्त देखकर पूछा कि हे मात! अब तक तुमको मैंने स्वप्न में भी उदास नहीं देखा है - ऐसा अमंगल रुदन किसलिए ? तब माता ने सब वृत्तांत कहा। उसको सुनकर हरिषेण मन में विचार करने लगा कि इस समय मेरा क्या कर्तव्य है ? माता को दुःखी देखने में समर्थ नहीं हूँ। इसप्रकार सोचकर महल से निकलकर वन की ओर चल दिया। भ्रमण करता हुआ वह एक सघन वन में पहुँचा, वन में उसके सुंदर रूप को देखकर निर्दयी पशु भी शांत हो गये, वन अत्यन्त रमणीक, फलों से परिपूर्ण, निर्मल सरोवर

ह
रि
षे
ण
च
क्र
व
र्ती
पर्व

से युक्त था, किन्तु हरिषेण को माता की स्मृति आती रही। वन में विहार करते हुए वह शतमन्यु नाम के तापस-आश्रम में पहुँचा। उससमय चंपा नगरी में जनमेजय राजा राज्य करता था। उसका कालकल्प राजा के साथ युद्ध हुआ, युद्ध में जनमेजय हार गया। उसने पहले स ही राजमहल से लेकर शतमन्यु ऋषि के आश्रम तक सुरंग बनायी थी। आपत्ति काल देखकर जनमेजय की माता नागमती अपनी पुत्री मदनावली को लेकर सुरंग मार्ग द्वारा उस तापसी आश्रम में आश्रय के लिए आ गई। हरिषेण जब आश्रम में आये तब मदनावली को देखकर मदन बाण से बेधित हुए, मदनावली की भी वही दशा हुई। दोनों को विकारयुक्त देख नागमती ने कहा “हे पुत्री ! सुनो महामुनि के ये वचन हैं कि मदनावली चक्रवर्ती की स्त्री रत्न होगी। यह उपस्थित युवक महालक्षण युक्त होनहार चक्रवर्ती जैसा प्रतीत हो रहा है। इतने में ही आश्रम के तापसियों ने आश्रम की अपकीर्ति फैलाने के भय से हरिषेण को निकाल दिया। हरिषेण ने तापसी को अवध्य जान कुछ नहीं किया। हरिषेण आश्रम से निकल तो गये किन्तु मदनावली को एवं खेदखिन्न हृदया अपनी माता को न भूल सके। उन्होंने चित्त में यह शुभ संकल्प किया कि ‘मैं इस स्त्री रत्न को वरूँ एवं माता का संताप दूर करूँ तो नदियों के तट पर, वनों में, ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटंब आदि में और पर्वतों पर जिनेन्द्र भगवान के चैत्यालय का निर्माण कराऊँगा।’ इसप्रकार चिंतन करते हुए वे सिंधुनद नामक नगर में पहुँचे। उस वक्त एक राजहस्ती मद से युक्त हो स्त्री बालक आदि को कौंधता हुआ दौड़ रहा था। भय से कंपित स्त्री समूह को देखकर परम दयालु हरिषेण स्त्रियों को अपने पीछे करके हाथी के सम्मुख आये और मन में विचारा कि ‘वे तापसी दीन थे अतः युद्ध नहीं किया, परन्तु यह दुष्ट हस्ती बालक आदि का घात करे और मैं सहायता न करूँ यह क्षत्रिय धर्म नहीं है।

इसतरह निर्भीक भाव से हरिषेण उछलकर हाथी के कुम्भस्थल पर चढ़ गये और हाथी को वश में कर सभी की रक्षा की। राजा महल की छत से दृश्य को देख रहा था सो आश्चर्य युक्त हो बहुत सम्मान के साथ हरिषेण को लाने के लिए राजपुरुषों को आज्ञा दी। अनन्तर अपनी सौ कन्याओं के साथ हरिषेण का विवाह कर दिया।

हरिषेण वहाँ सुख से रहने लगे। किसी एक दिन निद्रावश हरिषेण को विद्याधरी उठाकर विजयार्द्ध पर्वत पर ले जाने लगी। निद्राभंग होते ही अपने को हारा हुआ देखकर कोप से हरिषेण ने कहा 'रे पापिनी! मेरे को कहाँ ले जा रही है?' तब विद्याधरी ने मिष्ट वाणी से कहा कि 'हे नाथ! मैं तुम्हारी हितकारिणी हूँ। विद्याधर लोक में शक्रधनु नरेन्द्र की दुलारी जयचंद्रा आपमें आसक्त है। मैं आपको वहाँ ले जा रही हूँ जहाँ आपको बहुत भारी लाभ है।' वह विजयार्द्ध पर्वत पर पहुँच गये। राजा शक्रधनु ने अनेक परिजन पुरजनों के साथ हरिषेण से जयचंद्रा का पाणिग्रहण करा दिया। विवाहोत्सव में आगत जयचंद्रा के मामा का पुत्र गंगाधर कन्या की अप्राप्ति से युद्ध करने लगा किन्तु हरिषेण के पराक्रम के आगे हारकर भाग गया। युद्ध में विजय के साथ-साथ अकस्मात् ही चक्ररत्न प्रगट हो गया।

पुण्यवान हरिषेण चक्ररत्न को लेकर विजयार्द्ध की दोनों श्रेणियों को जीतकर तथा द्वादश योजन प्रमाण कटक को लेकर शतमन्यु तापसी के आश्रम में आये। वहाँ विधिपूर्वक मदनावली के साथ विवाह किया तथा बड़ी विभूति के साथ कम्पिला नगर आये। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के साथ आकर उन्होंने माता वप्रा को नमस्कार किया। ऐसे प्रतापी पुत्र को देखकर माता के हर्ष का पार नहीं रहा। युगल नेत्र आन्दाश्रुओं से भर आये। षट् खंडाधिपति सम्राट ने स्वर्णमयी रथ का निर्माण कराके नगर में जिनेन्द्र भगवान की रथ यात्रा कराकर अपनी माता का मनोरथ पूर्ण किया। इस कार्य को करने से मुनि और श्रावकों को परम हर्ष हुआ तथा बहुत से लोगों ने जिनधर्म धारण किया। अनन्तर अपने शुभ संकल्प के अनुसार दशवें चक्रवर्ती हरिषेण ने नदी के किनारे, पर्वत-पर्वत पर, वनों-वनों में और स्थान-स्थान पर जिनमन्दिरों का निर्माण कराया तथा बहुत काल तक चक्रवर्ती की सम्पत्ति का उपभोग किया।

किसी समय एक कार्तिक मास के नन्दीश्वर पर्व संबंधी आठ दिनों में उस चक्रवर्ती ने महापूजा की और अन्तिम दिन उपवास का नियम लेकर वह महल की छत पर सभा के मध्य धर्मचर्चा करता हुआ बैठा

था। वहीं बैठे-बैठे उसने देखा कि चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया है, यह देखकर वह विचार करने लगा कि संसार की इस अवस्था को धिक्कार हो। देखो, यह चन्द्रमा ज्योतिर्लोक का मुख्य नायक है, पूर्ण है और अपने परिवार से घिरा हुआ है। फिर भी राहु ने इसे ग्रस लिया। जब इसकी यह दशा है तब जिसका उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा समय आने पर दूसरों की क्या दशा होती होगी।’

इसप्रकार चन्द्रग्रहण देखकर चक्रवर्ती हरिषेण को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए अपनी सभा में स्थित लोगों को श्रेष्ठधर्म का स्वरूप बतलाया। उस हरिषेण ने अपने महासेन नामक पुत्र के लिए राज्य प्रदान किया तथा मनोवांछित पदार्थ देकर दीन, अनाथ तथा याचकों को संतुष्ट किया। तदनन्तर वैराग्य को प्राप्त उस चक्री ने सीमन्त पर्वत पर स्थित श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जाकर अनेक राजाओं के साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। क्रम-क्रम से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कीं। तदनन्तर घातिया कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

हरिषेण चक्रवर्ती का जीव पहले भव में राजा था, फिर संसार से भयभीत हो तप धारण कर तृतीय स्वर्ग में देव हुआ, तत्पश्चात् आयु के अन्त में वहाँ से पृथ्वी पर आकर हरिषेण चक्रवर्ती हुआ और तपश्चरण कर मुक्ति को प्राप्त हुआ।

इस कथा में एक सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है कि जब सास-बहू में तकरार हो गई कि ‘पहले किसका रथ निकले’ तो पत्नी के मोह में आसक्त होते हुए भी जब उसने माँ के पक्ष को प्रबल एवं न्याययुक्त देखा और दोनों के बीच में पड़कर न्याय दिलाने में स्वयं को असमर्थ पाया तो वह पत्नी का मोह त्याग कर वहाँ से चला गया और जब माँ को न्याय दिलाने में समर्थ हो गया तो लौटकर उसने माँ का समर्थन किया।

११. जयसेन

नमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में वत्स देश की कौशाम्बी नगरी के अधिपति, इक्ष्वाकुवंशी राजा विजय

की प्रभाकरी नाम की देवी से जो कान्तिमान पुत्र हुआ, वह सर्वलक्षणों से युक्त था, जयसेन उसका नाम था, तीन हजार वर्ष की उसकी आयु थी, साठ हाथ की ऊँचाई थी, तपाये हुए स्वर्ण के समान उसकी कान्ति थी, वह चौदह रत्नों का स्वामी था और दशप्रकार के भोग भोगता हुआ सुख से समय बिताता था। किसी एक दिन वह ऊँचे राजभवन की छत पर लेटा हुआ दिशाओं का अवलोकन कर रहा था कि इतने में ही उसे उल्कापात दिखाई दिया। उसे देखते ही विरक्त होता हुआ वह इसप्रकार विचार करने लगा कि “देखो यह प्रकाशमान वस्तु अभी तो ऊपर थी और फिर शीघ्र ही अपनी वह पर्याय को छोड़कर कान्ति रहित होती हुई नीचे चली गई। ‘मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है तथा बलवान है’ इसतरह के मद को धारण करता हुआ जो मूढ़ प्राणी अपनी आत्मा के लिए हितकारी परलोक संबंधी कार्य नहीं करता है और उसके विपरीत विषयों में आसक्त रहता है वह प्रमादी मनुष्य भी इसी उल्का की तरह विनाश को प्राप्त होता है।” ऐसा विचार कर धर्मबुद्धि के धारक चक्रवर्ती जयसेन ने समस्त साम्राज्य को छोड़ने का निश्चय कर लिया। वह अपने बड़े पुत्र के लिए राज्य देने लगा, परन्तु उसने तप धारण करने की इच्छा से राज्य लेने से इन्कार कर दिया, तब उसने अपने छोटे पुत्र के लिए राज्य दिया और अनेक राजाओं के साथ वरदत्त नाम के केवली भगवान ने संयम धारण कर लिया। वह कुछ ही समय में अष्ट ऋद्धियों से विभूषित हो गया। चारणऋद्धि भी उसे प्राप्त हो गई। अन्त में वह सम्मेदशिखर पर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर आत्म-आराधना करते हुए घातिया कर्म के क्षय से केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

ज्ञातव्य है कि “जयसेन का जीव पहले भव में वसुन्धर नाम का राजा था, फिर तपश्चरण कर सोलह सागर की आयुवाला देव हुआ, वहाँ से चय कर जयसेन नाम का चक्रवर्ती हुआ। चक्रवर्तियों के सामान्य स्वरूप में एवं चक्रवर्तियों के वैभव, सुख और यश संबंधी विषयों से पाठक सुपरिचित हो चुके हैं तथा अधिकांश चक्रवर्ती अपनी उस पुण्य से प्राप्त सुख-सुविधाओं को क्षणिक नाशवान एवं आकुलता की जननी जानकर विरक्त होकर आत्मसाधना में प्रवृत्त हुए हैं। जयसेन के संबंध में भी वही सबकुछ हुआ है।●

१२. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

काशी जनपद में वाराणसी नगरी थी। उसमें सुषेण नामक एक निर्धन कृषक रहता था। उसकी स्त्री का नाम गान्धारी था। संभूत और चित्त नाम के इनके दो पुत्र थे। ये दोनों पुत्र नृत्य और गान में बड़े निपुण थे और स्त्री वेष धारण करके ये विभिन्न नगरों में नृत्य और गान का प्रदर्शन करते थे। यही उनकी आजीविका का साधन था। एक बार वे दोनों राजगृह नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने गीत और नृत्य का प्रदर्शन किया। स्त्री का भेष धारण किए हुए संभूत का नृत्य देखकर वसुशर्मा पुरोहित इसके ऊपर मोहित हो गया। बहुत समय पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि यह नर्तकी स्त्री नहीं; किन्तु कला विज्ञान में निष्णात कोई रूपवान पुरुष है। तब वसु शर्मा पुरोहित ने प्रसन्न होकर संभूत के साथ अपनी बहन लक्ष्मीमति का विवाह कर दिया। एक दिन, दिन के प्रकाश में लोगों को भी दाढ़ी मूँछ दिख जाने के कारण पता चल गया कि ये दोनों ही नर्तकियाँ स्त्री नहीं, पुरुष हैं।

इन्हीं दिनों काशी में गुरुदत्त नामक एक मुनि पधारे। दोनों भाई भी उनका उपदेश सुनने गये। उपदेश सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मुनि दीक्षा ले ली। उन्होंने समस्त आगमों का अध्ययन किया और घोर तप करने लगे। एक बार विहार करते हुए वे राजगृही पधारे। संभूत मुनि पक्षोपवास के पारणा के लिए नगर में पधारे। भिक्षा के लिए जाते हुए मुनि ने वसुशर्मा पुरोहित को देखा। वसु शर्मा पुरोहित ने इन्हें पहचान लिया कि यह वही है जिससे मैंने अपनी बहिन का विवाह किया था, यह उसे त्याग कर मुनि हो गया। इसकारण उसे संभूत से द्वेष हो गया और वह मुनि संभूत को मारने दौड़ा। तभी मुनि के मुख में भयानक तेज निकला। उसकी अग्नि से सम्पूर्ण दिशायेँ व्याप्त हो गईं। ज्यों ही इस घटना का पता चित्त मुनि को लगा, वे शीघ्रता पूर्वक वहाँ आये और उन्होंने संभूत मुनि के तेज को रोक दिया। वसुशर्मा इस घटना के कारण इतना भयभीत हो गया कि वह अपने प्राण बचाकर वहाँ से भाग गया। उससमय एक देवी चक्रवर्ती

का रूप धारण करके बड़ी विभूति के साथ मुनिराज की सेवा करने लगी। चक्रवर्ती रूपधारिणी देवी का वैभव देखकर मुनि संभूत ने यह निदान किया कि यदि मेरे तप में बल है तो मुझे उसके फलस्वरूप अन्य जन्म में चक्रवर्ती पद की प्राप्ति हो। यह निदान करके संभूत मुनि मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

संभूत का जीव स्वर्ग की आयु पूर्ण होने पर कम्पिला नगरी में ब्रह्मरथ नामक राजा और महादेवी रानी से पुत्र हुआ, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। जब वह शासन करने योग्य हुआ तो पिता ने उसको राज्य-भार सौंप दिया। उसी समय उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। चक्ररत्न की सहायता से उसने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को जीतकर चक्रवर्तीपद प्राप्त कर लिया। उसके पास चौदह रत्न, नवनिधि और अपार वैभव था। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान के अन्तराल में हुआ यह बारहवाँ चक्रवर्ती है।

वसुशर्मा पुरोहित संसार में नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ चक्रवर्ती की भोजनशाला में जयसेन नामक सूपकार (रसोड़या) बना। एक दिन चक्रवर्ती भोजन करने बैठा तो उस जयसेन रसोड़या ने गर्म-गर्म दूध परोस दिया। चक्रवर्ती ने दूध पिया तो उसकी जीभ जल गई। इससे वह इतना कुपित हुआ कि उसने वह गर्म-गर्म दूध उस रसोड़या के सिर पर उंडेल दिया। उबलते हुए दूध के कारण रसोड़या की तत्काल मृत्यु हो गई। मरकर वह लवणसमुद्र के रत्नद्वीप में व्यन्तर जाति का देव बना। विभंगावधिज्ञान से वह अपने पूर्व भव की कष्ट-कथा जानकर क्रोध के मारे कांपने लगा। जिससे वह चक्रवर्ती से उसका प्रतिशोध लेने के लिए चल दिया। वह परिव्राजक का वेष धारण करके नानाप्रकार के फल लाया और उन्हें चक्रवर्ती को भेंट किये। उन्हें खाकर चक्रवर्ती अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला - “तात्! इतने मधुर और स्वादिष्ट फल तुम्हें कहाँ मिले, क्या ऐसे फल और भी हैं?” परिव्राजक विनय पूर्वक बोला - “राजाधिराज! मेरा मठ एक टापू में है। वहीं एक बहुत सुन्दर बगीचा है। उसी के फल हैं। मेरे पास इस समय तो इतने ही फल हैं, किन्तु मेरे उस बगीचे में ऐसे अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फलों की प्रचुरता है। यदि आप मेरे साथ चलें तो मैं आपको ऐसे फलों से तृप्त कर दूँगा।” परिव्राजक की रसभरी बातें सुनकर चक्रवर्ती का मन लुभा

गया। वह उसके साथ अकेला ही जाने के लिए तैयार हो गया। उसे मंत्रियों ने बहुत रोका और समझाया; किन्तु उसने किसी की बात नहीं मानी और उस मायावी परिव्राजक के साथ एकाकी ही चल दिया। परिव्राजक के बीच समुद्र में ले जाकर उसे मारने के लिए अनेक तरह का कष्ट देना शुरू किया। अबतक चक्रवर्ती को सारा रहस्य ज्ञात हो गया। चक्रवर्ती अपने को कष्टों से घिरा हुआ देखकर पंच नमस्कार मंत्र की आराधना करने लगा। उसके प्रभाव से कपटी संन्यासी की सारी शक्ति रुद्ध हो गई। जिससे देव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सका। वह देव समझ गया कि 'जब तक यह णमोकार मंत्र पढ़ता रहेगा, तबतक इसका कुछ अनिष्ट नहीं हो सकता। अतः प्रकट होकर वह बोला - अरे दुरात्मन्! तू जानता है, मैं वही रसोइया हूँ, जिसे तू उबलता हुआ दूध डालकर मार डाला था। वही आग मेरे हृदय में आज भी जल रही है। मैं तेरी हत्या करूँगा। तेरी रक्षा का केवल एक ही उपाय है। यदि तू भूमि पर णमोकार मंत्र लिखकर पैर से उसे मिटा दे तो तेरा जीवन बच सकता है, अन्यथा नहीं। चक्रवर्ती अपने प्राणों के मोह से विवेक खो बैठा। उसकी श्रद्धा डगमगा गई। उसने देव के कथनानुसार भूमि पर णमोकार मंत्र लिखा और उसे पैर से मिटा दिया। ऐसा करते ही उस देव ने उसे मारकर समुद्र में डुबो दिया। ब्रह्मदत्त मरकर सप्तम नरक में गया। ●

इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभाव में परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है। इसलिए पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया - ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघन से भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियों का विकल्प है। वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

- सुखी जीवन, पृष्ठ-१४०

बलभद्र, नारायण एवं प्रतिनारायणों का सामान्य स्वरूप

बलभद्र :- शलाका पुरुषों में बलदेवों का भी स्थान है। इन्हें, बलदेव और हलधर भी कहते हैं। बलभद्र, नारायण के बड़े भ्राता होते हैं। इन दोनों में प्रगाढ़ स्नेह रहता है, जो कि लोक विख्यात है। सभी बलभद्र होनेवाले जीव तपश्चरण कर देव पर्याय प्राप्त करते हैं और फिर वहाँ से आकर बलभद्र बनते हैं। ये अतुल पराक्रमी, रूप सम्पन्न और यशस्वी होते हैं। नारायण का चिर वियोग होने पर छह माह बाद किन्हीं निमित्तों को पकर इन्हें जीवन की यथार्थता का बोध होता है, जिससे यह मुनि बनकर आत्मसाधना करते हैं। सभी बलभद्र मोक्ष प्राप्त करते हैं। यह समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी गौर वर्ण होते हैं; प्रत्येक बलभद्र के आठ हजार रानियाँ, सोलह हजार देश, सोलह हजार अधीनस्थ राजा होते हैं। ये ९ होते हैं। इनके नाम हैं - विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और बलराम।

नारायण और प्रतिनारायण :- ये भी शलाका पुरुष होते हैं। चक्रवर्ती से आधा साम्राज्य अर्थात् तीन खंड के अधिपति होने के कारण नारायण अर्धचक्री होते हैं। इनकी संख्या नौ होती है। इन पर सदा सोलह चमर ढोरे जाते हैं। सोलह हजार इनकी रानियाँ होती हैं। नारायण बलभद्रों के छोटे भाई होते हैं। उत्तम संहनन और संस्थानसहित सुवर्ण वर्ण वाले होते हैं। नारायण को केशव, हरि, गोविन्द और वासुदेव भी कहते हैं। ये नारायण कोटिशिला उठाकर सुनन्द नाम के देव को वश में करते हैं। तत्पश्चात् गंगा के किनारे जाकर गंगा द्वार के निकट सागर में स्थित मागध देव को केवल बाण फेंककर वश में करते हैं। तदनन्तर समुद्र के किनारे-किनारे जाकर जम्बूद्वीप के दक्षिण वैजयन्त द्वार के निकट समुद्र में स्थित वरतनु नामक देव को वश में करते हैं। तदनन्तर पश्चिम की ओर प्रयाण करते हुए सिन्धु नदी के द्वार के निकटवर्ती समुद्र

में स्थित प्रभास नामक देव को वश में करते हैं। तत्पश्चात् सिन्धुनदी के पश्चिम तटवर्ती म्लेच्छ राजाओं को जीतते हैं। पुनः पूर्व दिशा की ओर दक्षिण श्रेणी के ५० विद्याधर राजाओं को वश में करते हैं। फिर गंगा तट के पूर्ववर्ती म्लेच्छ राजाओं का तथा एक सौ दश विद्याधर राजाओं को जीतकर तीन खण्ड का आधिपत्य प्राप्त करते हैं।

१. अपने पूर्वभव में कोई जीव भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना करके विशिष्ट पुण्य का बंध (संचय) करता है। पश्चात् अज्ञान भाव से निदान बंध करता है। तदनन्तर स्वर्ग में जाकर पुनः मनुष्य होकर तीन खण्ड का अधिपति अधचक्री (नारायण/प्रतिनारायण) बनता है।

२. सभी प्रतिनारायण युद्ध में नारायणों के हाथों से निज चक्रों के द्वारा मरण कर नरक जाते हैं।

३. नारायण और प्रतिनारायण का परस्पर में कभी मिलाप नहीं होता।

४. ये निकट भव्य होने के कारण कुछ ही भवों में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

५. नारायण जिस कोटिशिला को ऊपर उठाते हैं। वह आठ योजन लम्बी, चौड़ी और एक योजन ऊँची होती है। अनेकों मुनिगण इस शिला से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। अतः यह शिला सिद्धशिला भी कहलाती है।

१. त्रिपृष्ठ नारायण ने वह शिला मस्तक के ऊपर तक उठाई थी। २. द्विपृष्ठ ने मस्तक तक, ३. स्वयंभू ने कंठ तक, ४. पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, ५. पुरुषसिंह ने हृदय तक, ६. पुंडरीक ने कमर तक, ७. दत्त ने जंघा तक, ८. लक्ष्मण ने घुटनों तक और ९. कृष्ण ने वह शिला चार अंगुल ऊँचे तक उठाई थी।

इस चौबीसी में जो नारायण और प्रतिनारायण हुए हैं उनके नाम इसप्रकार हैं -

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण और कृष्ण ये नौ नारायण हुए हैं।

अश्वग्रीव, तारक, मधु, मधुसूदन, मधुक्रीड, निःशुम्भ, वलीन्द्र, रावण और जरासंध - ये ९ प्रतिनारायण हैं।

१. विजय बलभद्र, त्रिपृष्ठ नारायण एवं अश्वग्रीव प्रतिनारायण

पोदनपुर नगर में प्रजापति राजा और जयावती रानी से विजय नामक प्रथम बलभद्र हुए। उन्हीं प्रजापति महाराज की द्वितीय रानी मृगावती से त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण हुए। त्रिपृष्ठ नारायण अर्द्धचक्री थे। बलभद्र और नारायण भाई-भाई ही होते हैं, पर सहोदर नहीं होते। पिता दोनों के एक ही होते हैं, पर मातायें भिन्न-भिन्न होती हैं।

उसीसमय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर के मयूरग्रीव विद्याधर राजा और नीलांजना रानी से अश्वग्रीव नामक प्रथम प्रतिनारायण हुआ। ये सब पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मों के फलस्वरूप सुख से रहते थे; परन्तु पुण्य कभी किसी के अखण्ड रूप से नहीं रहा।

पुराण कहते हैं कि नारायण और प्रतिनारायण की नियम से अधोगति होती है, क्योंकि वह अर्द्धचक्री होता है और राज्यपद में ही संक्लेश भावों से मरता है तथा प्रतिनारायण नारायण के हाथों मारा जाता है। नारायण त्रिपृष्ठ और प्रतिनारायण अश्वग्रीव में युद्ध हुआ और अश्वग्रीव त्रिपृष्ठ के द्वारा मारा गया।

बलभद्र भद्रपुरुष होते हैं। वे राज्य का मोह त्याग कर मुक्त ही होते हैं। सृष्टि के इस नियमानुसार विजय बलभद्र के यथासमय वैराग्य हुआ और उन्होंने मुनिधर्म द्वारा आत्मसाधना कर मोक्ष प्राप्त किया।

बलभद्र विजय तीसरे पूर्वभव में विशाखभूति नाम का राजा था। फिर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से चयकर विजय नाम के बलभद्र हुए और फिर मुनि दीक्षा धारण कर केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुए।

नारायण त्रिपृष्ठ, तीसरे पूर्वभव में विश्वनन्दी नाम का राजा था, फिर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नाम का नारायण हुआ, तत्पश्चात् पाप का संचय कर सातवें नरक में गया।

प्रतिनारायण अश्वग्रीव असंख्य पूर्वभव पहले विशाखनन्दी था, फिर प्रताप रहित हो मरण कर संसार में परिभ्रमण करता रहा, फिर अश्वग्रीव नाम का विद्याधर राजा हुआ, जो कि त्रिपृष्ठ नारायण का शत्रु

प्रतिनारायण होकर मरण कर नरक में गया।

सारांश यह है कि उपर्युक्त तीनों चरित्रों की दिव्यध्वनि में हुई निश्चित होनहार की घोषणाओं से स्पष्ट है कि “कोई किसी की होनहार को टाल नहीं सकता, बदल नहीं सकता। अतः अन्य के भले-बुरे करने का अहंकार और क्रोध करना व्यर्थ है।” ऐसा विचार करके संक्लेश न करके समताभाव रखे। ●

२. अचल बलभद्र, द्विपृष्ठ नारायण एवं तारक प्रतिनारायण

इसी भरतक्षेत्र में कनकपुर नगर के राजा सुषेण थे। उनके यहाँ एक गुणमंजरी नामक नर्तकी थी। वह रूपवती सौभाग्यवती थी और संगीत नृत्य में निपुण थी। अतः उसे सब राजा चाहते थे। एक विंध्यशक्ति नाम का राजा उस पर मोहित हो गया। उसने सुषेण को युद्ध में पराजित कर उस नृत्यांगना को छीन लिया। ठीक ही है जब पुण्य क्षीण हो जाता है तो न चाहते हुए भी प्रियवस्तु छिन ही जाती है।

एक दिन उस सुषेण ने सुव्रत मुनि से जिनदीक्षा ले ली, परन्तु उसने विंध्यशक्ति से प्राप्त पराजय से निदान बंध किया और संन्यास पूर्वक मरण से वह प्राणतस्वर्ग में देव हुआ।

इसी भरतक्षेत्र के महापुर नगर में वायुरथ राजा था। उसने भी धनरथ पुत्र को राज्य देकर सुव्रत मुनि से उपदेश सुनकर जिनदीक्षा ली और वह भी उसी प्राणतस्वर्ग में इन्द्र हुआ। वायुरथ का जीव प्राणतस्वर्ग से चयकर राजा ब्रह्म की प्रथम रानी से अचल नामक बलभद्र हुआ और सुषेण का जीव राजा ब्रह्म की ही द्वितीय रानी से प्राणतस्वर्ग से चयकर द्विपृष्ठ नारायण हुआ। वे बलभद्र और नारायण जब परस्पर में मिलते थे तब गंगा और यमुना के संगम के समान प्रतीत होते थे।

विन्ध्यशक्ति का जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ भरतक्षेत्र में ही योग वर्द्धन नगर के राजा श्रीधर के तारक नामक पुत्र हुआ। जो अपनी शक्ति से युद्ध में विजय प्राप्त करते हुए नारायण द्विपृष्ठ से युद्ध करने को तत्पर हो गया और उस युद्ध में बुरी तरह मारा गया। मरण कर सातवें नरक में गया।

संक्षिप्त सार यह है कि - बलभद्र अचल तीसरे पूर्वभव में महापुर नगर में वायुरथ नाम का राजा था, फिर उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त कर उसी प्राणत स्वर्ग के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ, तदनन्तर द्वारावती नगरी में अचल नाम का बलभद्र हुआ और अन्त में निर्वाण प्राप्त कर त्रिभुवन के द्वारा पूज्य हुए।

नारायण द्विपृष्ठ तीन भव पूर्व पहले इसी भरतक्षेत्र के कनकपुर नगर में सुषेण नाम का प्रसिद्ध राजा था, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्ड की रक्षा करनेवाला द्विपृष्ठ नाम का अर्धचक्री हुआ और उसके बाद बहु आरंभ और बहु परिग्रह के ममत्व में मरकर सातवें नरक गया।

प्रतिनारायणक तारक पहले प्रसिद्ध विन्ध्यनगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा था, फिर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हुए भोगवर्द्धन नगर का राजा हुआ और अन्त में द्विपृष्ठ नारायण के द्वारा मारा जाकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। “बुरे काम का बुरा नतीजा” इस उक्ति के अनुसार उसे नरक ही जाना था, सो गया। ●

३. सुधर्म बलभद्र, स्वयंभू नारायण एवं मधु प्रतिनारायण

बलभद्र सुधर्म अपने पूर्व के तीसरे भव में पश्चिम विदेह क्षेत्र में मित्रनन्दी नाम का श्री सम्पन्न और भद्र परिणामी न्यायप्रिय परोपकारी राजा था। परोपकार में स्वोपकार स्वतः निहित रहता है, इसकारण शत्रु की सेना भी उसको अपना मानती थी। जो कठोर शासक होते हैं, केवल अपना ही स्वार्थ देखते हैं, उनकी स्वयं की सेना भी हृदय से शत्रु सेना के समान उसके विरुद्ध हो जाती है।

एक दिन वह बुद्धिमान नन्दीमित्र ‘सुव्रत’ नाम के जिनेन्द्रदेव के पास पहुँचा और वहाँ धर्म का स्वरूप सुनकर अपने शरीर और भोगादि के अनुकूल संयोगों को नश्वर मानने लगा तथा संसार सुखों से विरक्त होकर उसने संयम धारण कर लिया। अन्त में समाधि पूर्वक देह त्याग कर तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु वाला अहमिन्द्र हुआ। वहाँ से चयकर द्वारावती नगरी के राजा भद्र और रानी सुभद्र के घर सुधर्म नामक पुत्र हुआ। जो तीसरे बलभद्र हुए। अब निकट भविष्य में मुक्त होंगे।

नारायण स्वयंभू अपने पूर्व के तीसरे भव में इसी भारतवर्ष के कुणाल देश में श्रीवास्ती नगर का सुकेतु नाम का राजा था, वह बहुत कामी था और द्यूत व्यसन में आसक्त था, सबके समझाने पर भी अपने भवितव्यानुसार जब वह जुआ में सब कुछ हार गया तब वह सुधर्माचार्य की शरण में गया। वहाँ उसने जिनागम का उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर दीक्षा धारण भी कर ली; परन्तु उसकी श्रद्धा सम्यक् नहीं हुई और उसने घोर तप करते हुए निदान बांधा, फलस्वरूप वह लान्तवस्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चयकर इसी भरत क्षेत्र के द्वारावती नगरी के राजा भद्र की द्वितीय पत्नी से स्वयंभू नाम का पुत्र हुआ। सुधर्म बलभद्र था और स्वयंभू नारायण। दोनों में अत्यधिक प्रीति थी।

सुकेतु की पर्याय में जिस राजा ने जुआ में सुकेतु का राज्य जीता था। वह मरकर रत्नपुर नगर में राजा मधु हुआ। मधु प्रतिनारायण था। पूर्वजन्म के वैर का संस्कार होने से राजा स्वयंभू मधु का नाम सुनते ही कुपित हो जाता। अन्ततोगत्वा होनहार के अनुसार प्रतिनारायण मधु नारायण स्वयंभू के द्वारा मारा गया और मरकर सातवें नरक में गया। स्वयंभू भी जीवन के अन्त में मरकर नरक गया।

भाई स्वयंभू के मरने से बलभद्र सुधर्म ने संसार को असार जानकर जिनदीक्षा धारण कर ली और आत्मा की साधना, आराधना कर निजस्वभाव के साधन द्वारा परमात्मपद प्राप्त कर लिया।

सम्पूर्ण कथन का संक्षिप्त सार यह है कि – सुधर्म बलभद्र तीसरे पूर्वभव में मित्रनन्दी राजा थे, फिर दीक्षित होकर समाधिमरण कर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से चयकर द्वारावती नगरी में सुधर्म नाम के बलभद्र हुए और आत्मस्वरूप को सिद्धकर मुक्ति को प्राप्त हुए।

मोह वश किए दुर्व्यसन के सेवन से मूर्ख स्वयंभू और राजा मधु पाप का संचय कर दुःखदायी नरक में पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम – इन तीन का यदि कुमार्ग वृत्ति से सेवन किया जाये तो यह तीनों ही दुःख-परम्परा के कारण हो जाते हैं।

४. सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण एवं मधुसूदन प्रतिनारायण

भरतक्षेत्र के पोदनपुर नगर में राजा वसुषेण राज्य करते थे। उनकी ५०० रानियों में प्रमुख रानी का नाम नन्दा था। नन्दा अतिशय रूपवान एवं गुणवान थी। मलयदेश के राजा चण्ड शासन और वसुषेण में परस्पर मित्रता थी। इसकारण वह वसुषेण से मिलने पोदनपुर आया। वहाँ नन्दा को देखकर वह उस पर इतना अधिक मोहित हो गया कि नीति-अनीति का विचार-विवेक किए बिना ही येन-केन प्रकारेण उसका अपहरण करके ले गया। इससे राजा वसुषेण बहुत दुःखी हुआ। परन्तु उसे तत्त्वज्ञान था, वह पुण्य-पाप और वस्तुस्वरूप से भलीभांति सुपरिचित था। अतः वह शान्त होकर श्रेय नामक गणधर के पास दीक्षित हो गया। मरण कर फलस्वरूप बारहवें स्वर्ग में देव हुआ।

उसीसमय विदेहक्षेत्र के एक महाबल राजा थे, जो अत्यन्त धर्मात्मा थे, एक दिन उसने संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर अपने पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा लेकर घोर तप किया और बाह्य संन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग में ही इन्द्र हुआ तथा वहाँ से चयकर वह महाराजा महाबल का जीव द्वारावती नगी के स्वामी राजा सोमप्रभ की पत्नी जयावती के सुप्रभ नामक चौथे बलभद्र हुए। उसी राजा की सीता नाम की रानी से वसुषेण का जीव पुरुषोत्तम नामक नारायण हुए।

वसुषेण का मित्र चण्डशासन अनेक भवों में जन्म-मरण के दुःख भोगता हुआ वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन प्रतिनारायण हुआ। वह अत्यन्त तेजस्वी और बलवान था। उसने नारद से बलभद्र और नारायण का वैभव सुनकर उनके पास खबर भेजी कि 'कर' के रूप में (टेक्स में) तुम मेरे लिए हाथी और रत्नों की भेंट भेजो। यह सुनकर पुरुषोत्तम क्षुभित हो गया। बलभद्र सुप्रभ भी क्रोधित हुआ। दोनों भाइयों ने नारद को ऊँचे स्वर में उत्तर दिया, जिसे सुनकर मधुसूदन भी कुपित हुआ और वह बलभद्र व नारायण से युद्ध करने को तत्पर हो गया, युद्ध हुआ और उसमें मधुसूदन मरकर छठवें नरक गया। पुरुषोत्तम भी आयु

के अन्त में मरण कर नरक में गया। भाई के लिए वियोग से सुप्रभ दुःखी तो हुआ; परन्तु संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेकर आत्मसाधना कर मोक्ष प्राप्त किया।

सारांश यह है कि - सुप्रभ बलभद्र पहले नन्दन नामक नगर में महाबल नाम के राजा थे। फिर महान तप कर बारहवें स्वर्ग में देव हुए, तदनन्तर सुप्रभ नाम के बलभद्र हुए और समस्त परिग्रह को छोड़कर उसी भव से मुक्त हुए। ज्ञातव्य है कि बलभद्र स्वर्ग और मोक्ष ही जाते हैं, उनकी सद्गति ही होती है।

पुरुषोत्तम नारायण पहले पोदनपुर नगर में वसुषेण नाम के राजा थे, फिर तप कर शुक्ल लेश्या का धारक देव हुए, फिर वहाँ से चयकर अर्धचक्री पुरुषोत्तम नाम के नारायण हुए। तत्पश्चात् मरण कर छठवीं पृथ्वी में उत्पन्न हुए। मलयदेश का अधिपति राजा चण्डशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन नाम का प्रतिनारायण हुआ और मरण कर छठवें नरक गया। ●

५. सुदर्शन बलभद्र, पुरुषसिंह नारायण एवं मधुक्रीड प्रतिनारायण

जम्बूद्वीप में वीत शोकापुरी नाम की नगरी में ऐश्वर्यशाली नर वृषभ राजा ने बहुत भारी सुख भोगे और अन्त में विरक्त होकर समस्त राज्य त्याग कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। अपनी विशाल आयु तपश्चरण में बिता कर सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर की स्थितिवाला देव हुआ।

देवपर्याय की आयु के अन्त में शान्तिचित्त होकर इसी जम्बूद्वीप के खरगपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेन की विजया रानी से सुदर्शन नामक बलभद्र हुए।

इसी सिंहसेन राजा की अम्बिका नाम की दूसरी रानी से सुमित्र का जीव, जो कि पहले राजगृह नगर का राजा था, बड़ा अभिमानी और मल्ल था, जिसे राजसिंह राजा ने पराजित कर दिया था, जिसने साधु बनकर निदान के साथ संन्यास लेकर पहले स्वर्ग प्राप्त किया था, वही बाद में पुरुषसिंह नाम का बलशाली नारायण पुत्र हुआ। एक दूसरे के अनुकूल बुद्धि, रूप और बल से सहित उन दोनों भाइयों ने समस्त शत्रुओं

पर आक्रमण कर आत्मीय लोगों को अपने गुणों से प्रभावित कर लिया था। दोनों की लक्ष्मी अविभक्त थी। वे दोनों परस्पर स्नेह के साथ राज्य का सुचारु संचालन करते थे।

इसी भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में मधुक्रीड़ नाम का राजा था। वह प्रताप से बढ़ते हुए बलभद्र और नारायण को नहीं सह सका, इसलिए उस बलवान ने 'कर' स्वरूप अनेकों श्रेष्ठ रत्न मांगने के लिए दण्डगर्भ नाम का प्रधानमंत्री भेजा। सूर्य के समान तेजस्वी दोनों भाई मधुक्रीड़ के प्रधानमंत्री के शब्द सुनकर क्रुद्ध हो उठे। वे कहने लगे कि वह मूर्ख 'कर' (टेक्स) माँगता है सो यदि वह पास आया तो उसके लिए 'कर' (हाथ) अवश्य दिया जायेगा। उस प्रधानमंत्री ने वापिस जाकर राजा मधुक्रीड़ को समाचार सुनाया। राजा मधुक्रीड़ भी उनके दुर्वचन सुनकर कुपित हो गया और उनके साथ युद्ध करने के लिए बहुत बड़ी सेना लेकर चला। नारायण भी युद्ध करने उसके सामने आया, चिरकाल तक उसके साथ युद्ध किया और अन्त में उसी के चलाये हुए चक्र से शीघ्र ही उसका शिरच्छेद कर दिया। मधुक्रीड़ मरण को प्राप्त कर छठवें नरक गया।

सारांश यह है कि सुदर्शन बलभद्र, पहले वीतशोक नगर में नरवृषभ राजा थे, फिर चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर सहस्रार स्वर्ग में देव हुए, फिर वहाँ से चयकर खगपुर नगर में शत्रुओं का नाश करनेवाला बलभद्र हुआ और फिर क्षमामूर्ति निर्ग्रन्थ साधक होकर कर्मरहित सिद्धपद को प्राप्त किया।

पुरुषसिंह नारायण पहले तीसरे पूर्वभव में प्रसिद्ध राजगृह नगर में सुमित्र नाम का राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर खगपुर नगर में पुरुषसिंह नाम का नारायण हुआ और उसके पश्चात् महादुःखदायी छठवें नरक में जा गिरा।

मधुक्रीड़ प्रतिनारायण अनेक भव पूर्व मदोन्मत्त हाथियों को वश करनेवाला राजसिंह नाम का राजा था, फिर मार्ग भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा, तदनन्तर धर्ममार्ग का अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगर में मधुक्रीड़ नामक प्रतिनारायण हुआ। तत्पश्चात् मरण कर छठवें नरक में गया। ●

६. नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण एवं निशुम्भ प्रतिनारायण

सुभौम चक्रवर्ती का शासनकाल समाप्त होते ही इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेन की प्रथम पत्नी लक्ष्मीमती से पुण्डरीक नामक पुत्र हुआ, जो कि तीन खण्ड का अधिपति अर्द्धचक्री राजा और नारायण पद का धारक हुआ। उनकी दूसरी पत्नी वैजयन्ती के उदर से नन्दिषेण बलभद्र हुए। बलभद्र और नारायण के भवितव्यानुसार दोनों भाइयों में परस्पर बहुत अधिक स्नेह था।

उसी काल में प्रतिनारायण पद का धारक निशुम्भ राजा हुआ। पुण्डरीक और निशुम्भ में परस्पर अनेक पूर्व भवों से वैर-विरोध चला आ रहा था। जब उसे ज्ञात हुआ कि इन्द्रपुर के राजा इन्द्रसेन ने अपनी पद्मावती नाम की कन्या का विवाह पुण्डरीक से कर दिया तो उसे क्रोध आया। वह बलवान और तेजस्वी तो था ही, अहंकारी भी था। इसकारण वह दूसरे के तेज को बर्दाश्त नहीं करता था। अतः उसने पुण्डरीक से युद्ध करने की तैयारी कर ली।

इधर बलभद्र और नारायण पद के धारक नन्दिषेण पुण्डरीक दोनों भाई चिरकाल तक तीनखण्ड का शासन कर रहे थे। इसी बीच नन्दिषेण बलभद्र को बहुत ही वैराग्य उत्पन्न हुआ। उससे प्रेरित हो उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर संयम धारण कर लिया और बाह्य-आभ्यन्तर - दोनों प्रकार का तपश्चरण किया और केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त किया।

पुण्डरीक ने चिरकाल तक भोग भोगे और अत्यन्त आसक्ति के कारण तथा बहुत आरंभ-परिग्रह के कारण नरकायु का बन्ध कर लिया। अन्त में रौद्रध्यान पूर्वक मरकर वह पापोदय से तमःप्रभा नामक छठवें नरक में उत्पन्न हुआ।

निशुम्भ ने चिरकाल तक पुण्डरीक से युद्ध किया और अन्त में उसके चक्र-प्रहार से मरण को प्राप्त होकर छठवें नरक में उत्पन्न हुआ।

७. नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण एवं बलीन्द्र प्रतिनारायण

मल्लिनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में नन्दिमित्र नामक सातवें बलभद्र और दत्त नामक नारायण हुए। वे तीसरे पूर्वभव में अयोध्या नगर के राजपुत्र थे। वे दोनों पिता के लिए प्रिय नहीं थे। इसकारण पिता ने उन्हें छोड़कर स्नेह वश अपने छोटे भाई के लिए युवराज पद दे दिया।

इस घटना से वे दोनों भाई संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने मुनि दीक्षा धारण कर ली। मरण कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए। वहाँ से चयकर बनारस के राजा इक्ष्वाकुवंश के शिरोमणि राजा अग्निशिख के प्रिय पुत्र हुए। नन्दिमित्र की माँ अपराजित और दत्त की माँ केशवती थी। नन्दिमित्र बड़ा और दत्त छोटा था।

तीसरे पूर्वभव का राजमंत्री संसार सागर में परिभ्रमण कर क्रम से विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित मन्दरपुर नगर का स्वामी बलीन्द्र नामक विद्याधर राजा हुआ। एक दिन बाधा डालनेवाले उस प्रतिनारायण बलीन्द्र ने अहंकारवश बलभद्र नन्दिमित्र और नारायणदत्त के पास सूचना भेजी कि तुम दोनों के पास जो गजराज है, वह हमारे योग्य है, अतः हमें तुरन्त भेजो।

उत्तर में दोनों भाइयों ने गंधगज नामक हाथी भेजने के बदले में अपने लिए उससे उसकी पुत्रियों की माँग की। इससे प्रतिनारायण बलीन्द्र अति कुपित हुआ। वह उन दोनों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया। उन दोनों की सेनाओं का परस्पर में भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में बलीन्द्र मारा गया।

चिरकाल तक नन्दिमित्र और दत्त ने राज्य किया। दत्त अति आसक्ति से मरकर पाँचवें नरक गया और उसके वियोग से नन्दिमित्र को वैराग्य हो गया। उन्होंने दीक्षा धारण कर ली। आत्मा के अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से कुछ दिन में ही घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त किया।

जो पहले अयोध्या नगर में प्रसिद्ध राजपुत्र हुए थे, फिर दीक्षा लेकर आयु के अन्त में सौधर्म स्वर्ग में देव हुए और वहाँ से च्युत होकर जो बनारस नगर में इक्ष्वाकुवंश के शिरोमणि नन्दिमित्र और

दत्त नाम के बलभद्र तथा नारायण हुए। उनमें से दत्त तो मरण कर पाँचवें नरक गया और नन्दिमित्र केवलज्ञानी हुए।

मंत्री का जीव चिरकालतक संसार-सागर में भ्रमण कर क्रम से विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित मन्दरपुर नगर का स्वामी बलीन्द्र नामक विद्याधर राजा हुआ। वह नारायण के द्वारा युद्ध में मरकर नरक गया। ●

८. बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण एवं प्रतिनारायण रावण

राम :- तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में हुए आठवें बलभद्र राम अयोध्या नगरी के राजा दशरथ और उनकी रानी कौशल्या के पुत्र थे। इनका नाम माता-पिता ने पद्म रखा, परन्तु लोक में ये राम के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। दशरथ की सुमित्रा रानी का पुत्र लक्ष्मण, कैकयी रानी का पुत्र भरत और सुप्रभा रानी का पुत्र शत्रुघ्न राम के अनुज थे। राजा जनक और मयूरमाल नगर के राजा अन्तरंगतम के बीच हुए युद्ध में इन्होंने जनक की सहायता की थी, जिसके फलस्वरूप जनक ने इन्हें अपनी पुत्री जानकी (सीता) को देने का निश्चय किया। विद्याधरों के विरोध करने पर सीता की प्राप्ति के लिए वज्रावर्त धनुष चढ़ाना आवश्यक माना गया। राम ने धनुष चढ़ाकर सीता से विवाह किया था। कैकयी के द्वारा भरत के लिए राज्य माँगे जाने पर राजा दशरथ ने इनके समक्ष अपनी चिन्ता व्यक्त की। इन्होंने उनसे अपने वचन की रक्षा के लिए साग्रह निवेदन किया। राम लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या का राजभवन छोड़कर वन की ओर चले गये। इनके वन-गमन करते ही शोक संतप्त पिता दशरथ ने इस स्वार्थी और असार संसार से विरक्त होकर सर्वभूतहित मुनिराज के पास मुनि दीक्षा धारण कर ली।

भरत ने राज्य शासन करना स्वीकार नहीं किया। भरत और कैकयी दोनों ने इन्हें वन से लौटकर अयोध्या आने के लिए बहुत आग्रह किया; किन्तु इन्होंने पिता की वचन-रक्षा के लिए वापिस आना उचित नहीं समझा। वन में इन्होंने बालखिल्य को बन्धनों से मुक्त कराया। साहसगति विद्याधर की माया से परेशान सुग्रीव को इन्होंने उसकी पत्नि सुतारा प्राप्त करायी। वंशस्थल के वंशगिरी पर्वत पर देशभूषण और

कुलभूषण मुनि का उपसर्ग दूर किया तथा दण्डक वन में कर्णरवा नदी के किनारे सुगुप्ति तथा गुप्ति नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहारदान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। वन में एक गिद्ध पक्षी इन्हें बहुत प्रिय रहा। इन्होंने उसका नाम जटायु रखा। लक्ष्मण ने वन में सूर्यहास खड़ग प्राप्त की तथा उसकी परीक्षा के लिए उसने उसे बांसों के झुरमुटे पर चलाया, जिससे बांसों के बीच इसी खड़ग की साधना में रत शम्बूक मारा गया। शम्बूक के मरने से उसका पिता खरदूषण लक्ष्मण से युद्ध करने आया। खरदूषण ने अपने साले रावण को भी इस घटना की खबर दी। रावण उसकी सहायता के लिए आया सो बीच में सीता को देख उस पर मोहित हो उठा। उस समय उसने अवलोकिनी विद्या के द्वारा सीता के हरण करने का वास्तविक उपाय जान लिया तथा राम, लक्ष्मण और उनके कुल के नाम भी उसे ज्ञात हो गए।

सीता का हरण तो हुआ ही था, इसमें कोई विचार भेद नहीं है; किन्तु उनके अपहरण की प्रक्रिया में दो मत प्रचलित हैं। एक तो यह कि जब लक्ष्मण और खरदूषण के बीच युद्ध हो रहा था तब रावण ने सिंहनाद कर बार-बार “हे राम! हे राम!! इसप्रकार उच्चारण किया।” उस सिंहनाद को सुनकर राम ने समझा कि यह सिंहनाद लक्ष्मण ने ही किया है। वश फिर क्या था, उन्होंने व्याकुल होकर सीता से कहा कि तुम थोड़ी देर यहीं ठहरो। लक्ष्मण संकट में है, मैं उसका सहयोग कर अभी आता हूँ। इसप्रकार राम सीता को जटायु पक्षी के संरक्षण में अकेला छोड़कर चले गये। राम के जाते ही रावण सीता का अपहरण करके ले गया।”

दूसरा मत यह है कि “रावण ने शूर्पनखा के सहयोग से सीता की तत्काल परिस्थिति जानकर रावण मारीच को लेकर पुष्पक विमान से चित्रकूट के वन में जा पहुँचा। रावण की आज्ञा से मारीच स्वर्ण वर्ण और श्रेष्ठ मणियों से सुसज्जित चित्ताकर्षक हिरण का रूप बनाकर सीता के सामने प्रगट हुआ। सीता उसकी ओर आकर्षित हुई उसने राम से हिरण को पकड़कर लाने को कहा। राम हिरण को पकड़ने गये। इसी बीच राम का रूप धरकर रावण ने छल से सीता का अपहरण कर लिया।” घटना जो भी हो; पर सीता का हरण रावण द्वारा हुआ था, यह परमसत्य है।

सीता का हरण कर रावण उसे लंका ले गया और वहाँ के वन में उसे उतार कर अपना असली रूप दिखलाया। रावण को देखकर सीता भय से, लज्जा से और रामचन्द्र के विरह से उत्पन्न शोक से मूर्च्छित हो गई। शीलव्रत को धारण करनेवाली सीता ने मन में विचार किया और यह नियम ले लिया कि जब तक रामचन्द्रजी की कुशलता का समाचार नहीं सुन लूँगी तब तक न बोलूँगी और न ही भोजन ग्रहण करूँगी। अब मेरे लिए जिनवर ही शरण हैं। अनुकूल समाचार न मिलने पर मैं सल्लेखना ले लूँगी।

सीता हरण से राम, लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल हुए। इसी समय सुग्रीव और हनुमान वहाँ आये। सभी समाचार इन्हें ज्ञात हुए। श्रीराम के दुःख से हनुमान आदि भी दुःखी हुए। श्रीराम को हनुमान की क्षमता के बारे में जानकारी दी गई। तदुपरान्त हनुमान ने कहा कि “यदि आप आज्ञा दें तो मैं सीता का पता लगाने लंका जा सकता हूँ।” आज्ञा प्राप्त करते ही हनुमान लंका नगरी जा पहुँचे। भ्रमर का रूप धर कर वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण लंका नगरी और रावण के महल की जानकारी ले ली। तदनन्तर नन्दनवन के प्रमद उद्यान के शिंशपा वृक्ष पर बैठे हुए दूत हनुमान ने अपना बन्दर जैसा रूप बना लिया और वन की रक्षा करने वाले पुरुषों को निद्रा में सुला कर वह स्वयं अशोकवृक्ष के नीचे बैठी सीता देवी के आगे विनीत भाव से जा खड़ा हुआ। वानर रूपधारी हनुमान ने सीता को नमस्कार कर उसे अपना सब वृतान्त सुना दिया और कहा कि “मैं राजा रामचन्द्रजी के आदेश से आया हूँ।” इतना कह उसने रामचन्द्र से लिखाकर लाये वह पत्र पिटारा सीता देवी के आगे रख दिया। वानर को देखकर सीता को सन्देह हुआ कि क्या यह मायामयी शरीर को धारण करनेवाला रावण ही है। इसप्रकार सीता संशय कर ही रही थी कि उसकी दृष्टि श्रीवत्स के चिह्न से चिह्नित एवं अपने पति के नामाक्षरों से अंकित रत्नमयी अंगूठी पर जा पड़ी।

हनुमान द्वारा प्रदत्त श्रीवत्स चिह्न और श्रीराम का संदेश पाकर सीता आश्वस्त होती हुई हर्षित हुई।

हनुमान के निवेदन करने पर सीता ने ग्याहरवें दिन आहार ग्रहण किया। लंका से वापस आकर हनुमान ने राम को सीता का सब समाचार सुनाया तथा सीता द्वारा प्रदत्त चूड़ामणि श्रीराम को अर्पित किया। हनुमान

के लंका से लौटकर आने और सीता के कुशल समाचार लाने से प्रसन्न होकर श्रीराम ने हनुमान को अपना सेनापति और सुग्रीव को युवराज बनाया। लंका नगरी और रावण का नाम सुनकर विद्याधर घबरा गये। तत्पश्चात् वह सभी विद्याधर यह कहकर सहयोग देने को तत्पर होते हैं कि “रावण की मृत्यु कोटि शिला उठानेवाले के द्वारा होगी” – ऐसा अनन्तवीर्य मुनीन्द्र ने कहा था सो यदि आप कोटि शिला उठा सकें तो हम रावण के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हो सकते हैं।

लक्ष्मण ने उस शिला को हिलाकर अपनी भुजाओं से घुटनों तक उठा कर सभी का संशय दूर किया। हर्ष सहित वह सभी वापस आये। फिर राम ने पुनः हनुमान को लंका भेजकर विभीषण को सन्देश भेजा कि वह रावण को समझाये। हनुमान ने लंका जाकर राम का सन्देश दिया। तदनुसार विभीषण ने रावण को समझाया। रावण यह सुनकर कुपित हो गया और उसने हनुमान का निरादर किया। जिससे क्रुद्ध होकर हनुमान ने लंका नगरी और वहाँ के उद्यानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वनपालों और वीर सुभटों को मार गिराया। लंका नगरी के तहस-नहस हो जाने से रावण और भी अधिक कुपित हुआ। पश्चात् हनुमान शीघ्र ही लंका से वापस आये और उन्होंने राम से यथावत् सर्व वृत्तान्त कहा। रावण के द्वारा हनुमान के साथ हुए प्रतिकूल व्यवहार से रुष्ट होकर विभीषण भी श्रीराम का पक्षधर हो गया। परस्पर युद्ध हुआ। युद्ध में लक्ष्मण ने चक्र चलाकर रावण का वध किया। युद्ध में राम की विजय हुई।

मन्दोदरी तथा शूर्पनखा आदि ने आर्यिका के व्रत ग्रहण किये। लंका की अशोक वाटिका में श्रीराम और सीता के मिलने पर देवों ने पुष्पवृष्टि की। लंका में लक्ष्मण और सीता के साथ श्रीराम छह वर्ष तक रहे। पश्चात् वहाँ का राज्य विभीषण को सौंपकर अयोध्या आये। अयोध्या आकर इन्होंने माताओं को प्रणाम किया, कुशलक्षेम पूछी। माताओं ने इन्हें आशीर्वाद दिया। इनके आते ही भरत दीक्षित हो गये। श्रीराम ने अयोध्या का राज्यपद संभाला।

लोकापवाद के कारण राम द्वारा सीता का पुनः वनवास हुआ। वन से सीता के लौटने पर राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा भी ली; किन्तु लोकापवाद नहीं रुका और इन्हें सीता का परित्याग करना न्यायोचित प्रतीत हुआ। सेनापति कृतान्तवक्र को आदेश देकर इन्होंने गर्भवती होते हुए भी सीता को तीर्थ वन्दना करने के बहाने सिंहनाद नाम की भयंकर निर्जन अटवी में भिजवा दिया। इस स्थिति में भाग्य पर विश्वास और धैर्य धारण करती हुई सीता ने सेनापति के द्वारा राम को सन्देश भेजा कि वे प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करें और धर्म को किसी भी हालातों में न छोड़ें। हर परिस्थिति का सामना करते हुए मेरी भाँति धर्म से मुँह न मोड़े। वन में सीता के अनंगलवण और मदनांकुशल दो पुत्र हुए। इनसे राम को युद्ध भी करना पड़ा।

सौधर्म इन्द्र देवों की सभा में विराजमान धर्मचर्चा कर रहे थे। अनेकों धर्म चर्चाओं के मध्य राम और लक्ष्मण के परस्पर के स्नेह की चर्चा हुई। इस चर्चा को सुनकर कुतूहलवश परीक्षा करने के लिए रत्नचूल और मृगचूल नामक दो देव अयोध्या गये। विक्रिया से अन्तःपुर में रुदन का शब्द करा दिया तथा अन्तःपुर में जाकर लक्ष्मण से बोला - “हे देव! राम की मृत्यु हो गई है” बस इतना सुनते ही ‘हाय यह क्या हुआ?’ ऐसा कहते हुए लक्ष्मण के प्राण निकल गये। यह दृश्य देख दोनों देव विषाद से भरे हुए स्वर्ग लोक वापिस चले गये। इस घटना से अन्तःपुर में शोक छा गया। जब रामचन्द्र वहाँ आये तो लक्ष्मण के मृतक देह के चिह्न सब ओर से स्पष्ट दिख रहे थे, फिर भी मोह से मुग्ध हुए राम उसे जीवित समझ रहे थे। छह मास तक लक्ष्मण के मृतक शरीर को लिए पागलवत् चेष्टा करते रहे। इसी मध्य सीता के दोनों पुत्रों ने संसार से विरक्त होकर पिता के चरणों को नमस्कार करके वन में जाकर दीक्षा ले ली। अनेक इष्ट मित्रों और राजाओं के समझाने पर भी रामचन्द्र का मोह भंग नहीं हुआ। उस समय कृतांतवक्र सेनापति और जटायु के जीव, जो कि स्वर्ग में देव हुए, वे दोनों राम को समझाने के लिए आए उनमें से एक देव मृतक शरीर को कन्धे पर लेकर खड़ा हो गया। राम उसे समझाने लगे, तब उसने कहा - “देव! आप भी तो मुर्दे को

लिए घूम रहे हैं,” इसप्रकार देव के वचनों से राम का मोह शिथिल हो गया, वे स्वयं अपनी इस चेष्टा पर लज्जित हो उठे और उन्होंने लक्ष्मण का दाह संस्कार कर दिया। राम स्वयं भी इस घटना से संसार से विरक्त हो गये। पुत्रों को राज्यसत्ता सौंप कर मुनि हो गये।

एक दिन मुनिराज राम जब कोटिशिला पर ध्यानारूढ़ थे। सीता का जीव जो कि अच्युत स्वर्ग में स्वयंप्रभ प्रतीन्द्र हुआ था। उसने पूर्व जन्म के अनुराग से विचारा कि “यह महामुनि श्रीराम ध्यान द्वारा कर्मनाश करने में उद्यत हैं, यदि मैं इन्हें ध्यान से विचलित करूँ तो यह भी देव होवेंगे। इससे हम दोनों मिलकर स्वर्ग में रहेंगे, नंदीश्वर आदि की वन्दना करेंगे।” मोहवश इसप्रकार विचार कर सीता का रूप बनाकर उसने राम मुनिराज को ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न किया; किन्तु सुमेरु के सदृश अचल राम का मन किंचित् भी चलायमान नहीं हुआ। इस तरह तपश्चरण करते हुए रामचन्द्र मुनि को तीन सौ पंचानवे वर्ष बाद माघ शुक्ला द्वादशी को घातिया कर्म के क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त हुआ और छह सौ वर्ष बाद फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को शेष कर्मों का क्षय हो जाने से वे तुंगीगिरि से मुक्त हुए।

नारायण अर्द्धचक्री लक्ष्मण :- लक्ष्मण दशरथ की दूसरी रानी सुमित्रा के पुत्र थे। माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन उनका जन्म हुआ था। उनकी कुल आयु बारह हजार वर्ष की थी। वे वज्रवृषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान के धारी थे। उनकी नील कमल के समान शारीरिक कान्ति थी। अयोध्या गणराज्य के स्वामी राम उनके बड़े भाई और भरत तथा शत्रुघ्न छोटे भाई थे। वनवास के समय उन्होंने उज्जयिनी के राजा सिंहोदर को परास्त किया और व्रती श्रावक वज्रकर्ण की उस सिंहोदर नामक राजा से मित्रता कराई थी। सिंहोदर ने भी उन्हें कन्यायें दी थीं।

वंशस्थल-पर्वत पर उन्हें सूर्यहास-खड़ग मिला। इससे उन्होंने शम्बूक को और उसके पिता खरदूषण को मारा था। जगत्पाद पर्वत पर सात दिन निराहार रहकर उन्होंने प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध की थी। उन्होंने

कोटिशिला को अपनी भुजाओं से घुटनों तक उठाया था। रावण से युद्ध करने ये राम के साथ लंका गये थे। लंका पहुँचने पर सुग्रीव और हनुमान ने उन्हें और राम को अपने द्वारा सिद्ध की हुई गरुड़वाहिनी, सिंहवाहिनी, बन्धमोचिनी और हननावरणी ये चार विद्याएँ दी थीं।

रावण के साथ हुए युद्ध में रावण ने बहुरूपिणी विद्या का प्रयोग किया। लक्ष्मण ने उसे भी नष्ट कर दिया। अन्त में रावण ने उन्हें मारने के लिए चक्र चलाया। चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आकर स्थिर हो गया। इसी चक्र के प्रहार से उन्होंने रावण को मार गिराया। इसके पश्चात् विभीषण के निवेदन पर वे भी राम के साथ लंका में छह वर्ष तक रहे। लंका से लौटते समय अनेक राजाओं को जीता। विद्याधर राजा भी उनके अधीन हुए, इसी समय वे नारायण पद को प्राप्त हुए। चक्र, छत्र, धनुष, शक्ति, गदा, मणि और खड्ग ये सात रत्न भी उन्हें इसी समय प्राप्त हुए। उन्होंने सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओं और एक सौ दश नगरियों के स्वामी विद्याधर राजाओं को अपने आधीन किया था। उनकी यह विजय बयालीस वर्ष में पूर्ण हुई थी। इनकी सत्रह हजार रानियाँ थीं। इनके कुल ढाई सौ पुत्र थे। राम के द्वारा किये गये सीता के परित्याग को उन्होंने उचित नहीं समझा। परन्तु अर्द्धचक्रवर्ती होते हुए भी बड़े भाई का सम्मान रखते हुए राम के आदेश से आगे ये कुछ कह नहीं सके। परिचय के अभाव में अज्ञात अवस्था में उन्होंने अनंगलवण और मदनांकुश से भी युद्ध किया और यह विदित होते ही कि ये राम के पुत्र हैं, उन्होंने युद्ध छोड़कर उन दोनों का स्नेह से आलिंगन किया था।

राम-लक्ष्मण दोनों भाइयों के प्रगाढ़ स्नेह की चर्चा एक दिन इन्द्रसभा में हुई। उसकी परीक्षा करने के लिए रत्नचूल और मृगचूल नाम के दो देव अयोध्या आये। विक्रिया से अन्तःपुर में रुदन का शब्द करा दिया तथा कोई पुरुष जाकर लक्ष्मण से बोला - हे देव! राम की मृत्यु हो गई है, बस इतना सुनते ही 'हाय यह क्या हुआ?' ऐसा कहते हुए लक्ष्मण के प्राण-पखेरु उड़ गये। इसतरह लक्ष्मण की मृत्यु हुई। मरण को प्राप्त कर ये बालुकाप्रभा (चौथी भूमि) में उत्पन्न हुए। सीता के जीव ने स्वर्ग से इस भूमि में जाकर इन्हें

सम्बोधा तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त कराया। ये तीर्थकर होकर आगे निर्वाण प्राप्त करेंगे।

श
-
ला
का
पु
रु
ष
उ
त्त
रा
र्द्ध

दशानन :- रावण लंका का स्वामी, आठवाँ प्रतिनारायण था। यह अलंकारपुर नगर के निवासी तथा राजा रत्नश्रवा और रानी केकसी का पुत्र था। इसके गर्भ में आते ही माता की चेष्टाएँ अत्यन्त क्रूर हो गई थीं।

हजार नागकुमारों से रक्षित मेघवाहन के कंठ के हार को रावण ने बाल्यावस्था में ही खींच लिया था। उस हार के पहिनाये जाने पर उसमें गुथे रत्नों में मुख्य मुख के सिवाय नौ मुख और भी प्रतिबिम्बित होने लगते थे। इसकारण रावण दशानन नाम से सम्बोधित किया गया।

विद्याधर की पुत्री मन्दोदरी से इसने विवाह किया था। इसके अतिरिक्त इसने अन्य अनेक कन्याओं को गन्धर्व विधि से विवाहा था। वैश्रवण को जीतकर इसने उसका पुष्पक विमान प्राप्त किया। सम्मेदाचल के पास संस्थलि नामक पर्वत पर इसने त्रिलोकमण्डन हाथी पर विजय प्राप्त कर अपना अभूतपूर्व पौरुष प्रदर्शित किया था। खरदूषण के द्वारा अपनी बहिन चन्द्रनखा का अपहरण होने पर भी बहिन के भविष्य का विचार कर यह शान्त रहा और इसने खरदूषण से युद्ध नहीं किया। इसने बाली को अपनी आधीन करना चाहा था, किन्तु बाली ने जिनेन्द्र के सिवाय किसी अन्य को नमन न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। प्रतिज्ञा भंग न हो और हिंसा भी न हो एतदर्थ वह संसार से विरक्त होकर मुनिधर्म में दीक्षित हो गया था। बाली के भाई सुग्रीव ने अपनी श्रीप्रभा बहिन देकर इससे सन्धि कर ली थी। अपने पुष्पक विमान की गति रुकने का कारण मुनिराज बाली को जानकर वह क्रोधाग्नि से जल उठा था। इसने बाली सहित कैलाश पर्वत को उठाकर समुद्र में फेंकना चाहा था, कैलाश पर्वत इसके बल से चलायमान भी हो गया था, किन्तु मन्दिरों की सुरक्षा हेतु कैलाश को सुस्थिर रखने के लिए बाली मुनि ने अपने पैर के अंगूठे से जरा-सा पर्वत दबा दिया था। इससे उत्पन्न कष्ट से इसने इतना चीत्कार किया कि समस्त वनप्रान्त चीत्कार के उस महाशब्द से रोने लगा। कालान्तर में जगत को रुला देनेवाले इसी चीत्कार के कारण उसे 'रावण' नाम से संबोधित किया जाने लगा। यह जिनेन्द्र भक्त था। भक्ति की तल्लीनता में जब बजाते-बजाते वीणा का तार टूट गया

ब
ल
भ
द्र
ना
रा
य
ण
प्र
ति
ना
रा
य
ण
पर्व

तब इसने भक्ति में व्यवधान न आये, इसलिए अपनी बाहु की नस खींचकर वीणा में लगा ली और उस अनवरत बजाता रहा।

रेवानदी में जलक्रीड़ा करते हुए विद्याधर राजा सहस्ररश्मि द्वारा बंधा हुआ पानी छोड़ देने से इसकी जिन-पूजा में व्यवधान हुआ। इसने सहस्ररश्मि को पकड़ कर बन्दी बना लिया, किन्तु सहस्ररश्मि के पिता मुनि शतबाहु का सम्बोधन पाकर सहस्र रश्मि को अपना मित्र बनाकर इसने छोड़ दिया था।

इसने प्रतिज्ञा की थी कि “जो पर स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे पत्नी के रूप में ग्रहण नहीं करूँगा” सागरबुद्धि निमित्तज्ञानी से दशरथ के पुत्र और जनक की पुत्री को अपने मरण का हेतु जानकर रावण ने दशरथ और जनक को मारने के लिए विभीषण को आज्ञा दी थी। नारद से यह समाचार जानकर दशरथ और जनक नगर से बाहर चले गये थे और उनके मंत्री ने दशरथ की प्रतिकृति बनवाकर सिंहासन पर रख दी थी। विभीषण द्वारा भेजे गये वीरों ने इस प्रतिकृति को दशरथ समझकर उसका शिरच्छेद कर दिया था। विभीषण ने सिर को पाकर दशरथ को मरा जानकर संतोष कर लिया था।

लक्ष्मण के साथ दश दिन तक युद्ध होने के बाद रावण को बहुरूपिणी विद्या का प्रयोग करना पड़ा। इसमें भी जब वह सफल नहीं हुआ तब इसने लक्ष्मण पर चक्ररत्न चलाया, लक्ष्मण अबाधित रहा। चक्ररत्न प्राप्त कर लक्ष्मण ने मधुर शब्दों में इससे कहा था कि सीता को वापस कर दे और अपने पद पर आरूढ़ होकर लक्ष्मी का उपभोग कर, पर यह मान वश ऐंठता रहा। अन्त में लक्ष्मण ने उसी चक्र को चलाकर रावण का वध कर दिया।

९. बलराम, कृष्ण और जरासंध

बलराम :- बलराम रोहणी के उदर से उत्पन्न हुए वसुदेव के पुत्र थे। वे नवम बलभद्र थे। उन्हें बलदाऊ, बलदेव या बलराम भी कहते हैं। देवकी के उदर से सातवें पुत्र श्री कृष्ण का जन्म होते ही उनके बड़े भाई बलराम ने कृष्ण को कंस से सुरक्षा हेतु गोकुल में ले जाकर नन्दगोप और यशोदा को सौंप दिया और स्वयं भी गोकुल, मथुरा और द्वारिका में कृष्ण के साथ ही रहे। जब द्वैपायन मुनि द्वारिका आये तो शम्ब आदि

कुमारों ने मद्यपान कर मदोन्मत्त अवस्था में मुनि का तिरस्कार किया। उन पर असह्य उपसर्ग किया। मुनि ने क्रुद्ध होकर यादवों समेत समस्त द्वारिका के नष्ट होने का श्राप दिया। इन्होंने अनुनय-विनय के साथ मुनि से श्राप वापिस लेने की प्रार्थना की। मुनि ने संकेत से बताया कि बलराम और कृष्ण को छोड़कर शेष सभी नष्ट हो जायेंगे। द्वारिका द्वैपायन मुनि द्वारा निकले अशुभ तैजस पुतले से जलकर नष्ट हुई। इस आपदा से बचकर निकले हुए दोनों भाई भ्रमण करते हुए कौशाम्बी के भयानक वन में पहुँचे, उस समय भयंकर गर्मी थी। मार्ग की अविरल यात्रा से क्लान्त और तृषार्त श्रीकृष्ण एक स्थान पर रुके। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता से बोले - 'आर्य ! मैं प्यास से बहुत व्याकुल हूँ। मेरा कंठ सूख रहा है। अब मैं एक डग भी चलने में असमर्थ हूँ। कहीं से जल लाकर मुझे दीजिए। बलराम अपने प्राणप्रिय अनुज की इस असहाय दशा से व्याकुल हो गये। वे सोचने लगे - "भरत क्षेत्र के तीन खंडों के अधिपति और बल-विक्रम में अनुपम यह मेरा भाई आज इतना अवश क्यों हो रहा है ? जो जीवन में कभी थका नहीं, वह आज अकस्मात् ही इतना परिश्रान्त क्यों हो उठा है ? कोटिशिला को अपने बाहुबल से उठानेवाला नारायण आज सामान्य व्यक्ति के समान निर्बलता अनुभव क्यों कर रहा है ?"

बलभद्र बोले - "भाई! मैं अभी शीतल जल लाकर तुम्हें पिलाता हूँ। तुम इस वृक्ष की शीतल छाया में तब तक विश्राम करो। यों कहकर वे जल की तलाश में चल दिये। श्रीकृष्ण वृक्ष की छाया में वस्त्र ओढ़कर लेट गये। थकावट के कारण उन्हें शीघ्र ही नींद आ गई। उस समय जरत्कुमार भ्रमण करता हुआ उसी वन में आ निकला। दूर से उसने वायु से श्रीकृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण का कान समझकर कान तक धनुष खींचकर शर सन्धान किया। सनसनाता तीर श्रीकृष्ण के पैर में जाकर विंध गया। श्रीकृष्ण ने उठकर चारों ओर देखा, किन्तु उन्हें वहाँ कोई दिखाई नहीं पड़ा। तब उन्होंने जोर से कहा - "किस अकारण बैरी ने मेरे पगतल को वेधा है ? वह आकर अपना कुल और नाम मुझे बतावे।"

जरत्कुमार ने यह सुनकर अपने स्थान से ही उत्तर दिया - "मैं हरिवंश में उत्पन्न वसुदेव का पुत्र जरत्कुमार हूँ। भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि में आया था कि 'जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का मरण होगा।' उस हत्या

के महापाप से बचने के लिए मैं बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ। मुझे अपना अनुज कृष्ण प्राणों से भी प्यारा है। इसलिए मैं इतने समय से इस एकान्त में जन-जन से बहुत दूर रह रहा हूँ। मैंने इतने समय से किसी आर्य का नाम भी नहीं सुना। आप कौन हैं ? उत्तर मिला - “मैं कृष्ण हूँ, तुम शीघ्र आओ।” जरत्कुमार को ज्ञात हो गया कि यह मेरा भाई कृष्ण ही है। उसने धनुष-बाण दूर फेंक दिया और श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर अश्रु बहाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर गले से लगाया और सान्त्वना देते हुए वे बोले ‘भाई! शोक न करें, भवितव्य अलङ्घ्य है। आपने राजवैभव छोड़कर वन में निवास स्वीकार किया, किन्तु दैव के आगे सब व्यर्थ होता है। भगवान नेमीनाथ की दिव्यध्वनि में यह घोषणा हो ही चुकी थी, तदनुसार तुमने लाख प्रयत्न किए परन्तु...।’ श्रीकृष्ण द्वारा समझाने पर भी जरत्कुमार विलाप करता रहा। श्रीकृष्ण बोले - “आर्य! बड़े भाई बलराम मेरे लिए जल लाने गये हैं। उनके आने से पूर्व ही आप यहाँ से चले जायें। संभव है, वे आपके ऊपर क्षुब्ध हों। आप पाण्डवों के पास जाकर उन्हें सब समाचार दें। वे हमारे प्रियजन हैं। वे आपकी रक्षा अवश्य करेंगे।” इतना कहकर उन्होंने जरत्कुमार को परिचय के लिए कौस्तुभ मणि दे दी और विदा कर दिया।

यद्यपि श्रीकृष्ण ने अत्यन्त शान्त भाव से उसे सहन करने का प्रयत्न किया, पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार करके भगवान नेमिनाथ का स्मरण भी किया; परन्तु होनहार के अनुसार प्यास और बाण की वेदना से/ पीड़ा चिंतन से उनका देहान्त हो गया। इसके पहले उन्होंने विश्वहित की भावना से तीर्थकर पुण्य प्रकृति का बंध कर लिया था। जिसके फलस्वरूप वे इसी भरत क्षेत्र की आगामी चौबीसी में निर्मल नाम के सोलहवें तीर्थकर होंगे। स्नेहाकुल बलराम अपने तृषित भाई के लिए जल की तलाश में बहुत दूर निकल गये, किन्तु कहीं जल नहीं मिल रहा था। मार्ग में अपशकुन हो रहे थे, किन्तु उनका ध्यान एकमात्र जल की ओर था। जल मिल नहीं रहा था, विलम्ब हो रहा था, उधर उनके मन में चिन्ता का ज्वार बढ़ता जा रहा था। मेरा प्यारा भाई प्यासा है, न जाने प्यास के कारण उसकी कैसी दशा होगी ? तब उन्होंने वेग से दौड़ना प्रारम्भ कर दिया, उनकी दृष्टि जल की तलाश में चारों ओर थी। पर्याप्त विलम्ब और दूरी के बाद

उन्हें जलाशय दिखाई पड़ा। वे जलाशय पर पहुँचे और कमल-दल का पात्र बनाकर जल भरकर ले गए। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण वस्त्र को ओढ़कर सो रहे हैं। उन्होंने विचार किया - “संभवतः थक जाने से सुख निद्रा में सो रहा है। इसे स्वयं ही जागने दिया जाय।” जब बहुत देर हो गई और श्रीकृष्ण नहीं जागे तो उन्होंने धीरे से कहा - “वीर! इतना अधिक क्यों सो रहे हो? निद्रा छोड़ो और उठकर यथेच्छ जल पिओ।” इतना कहने पर भी जब श्रीकृष्ण की निद्रा भंग नहीं हुई। तभी बलराम ने देखा कि एक बड़ी मक्खी रुधिर की गन्ध से कृष्ण के ओढ़े हुए वस्त्र के भीतर घुस गई है; किन्तु निकलने का मार्ग न पाने से व्याकुल है। उन्होंने श्रीकृष्ण का मुख उघाड़ दिया। मृत दशा में उनके मुख से आर्त वाणी निकली, वे अचेत होकर गिर पड़े। सचेत होने पर वे श्रीकृष्ण के शरीर पर हाथ फेरने लगे। तभी उनकी दृष्टि पैर के व्रण (घाव) पर पड़ी, जिसके रुधिर से वस्त्र रक्त वर्ण हो गया था। उन्हें निश्चय हो गया कि सोते समय किसी ने इनके पैर में बाण से प्रहार किया है। वे भयंकर गर्जना करते हुए कहने लगे - “किस अकारण शत्रु ने मेरे सोते हुए भाई पर प्रहार किया है, वह मेरे सामने आये।” किन्तु उनका गर्जन-तर्जन निष्फल रहा, कोई भी उनके समक्ष उपस्थित नहीं हुआ।

निरुपाय वे पुनः श्रीकृष्ण को गोद में लेकर करुण विलाप करने लगे। वे मोहान्ध होकर बार-बार श्रीकृष्ण को जल पिलाने लगे। कभी वे जल से उनका मुख धोते, कभी उन्हें चूमते, कभी उनका सिर सँघते। फिर अनर्गल प्रलाप करने लगते। फिर वे श्रीकृष्ण के शव को लेकर वन में यूँ ही भ्रमण करने लगे।

जरत्कुमार श्री कृष्ण के आदेशानुसार पाण्डवों की सभा में पहुँचा और अपना परिचय दिया। तब युधिष्ठिर ने उससे स्वामी की कुशल-वार्ता पूछी। जरत्कुमार ने अवरुद्ध कंठ से द्वारिका-दाह तथा अपने निमित्त से श्रीकृष्ण के निधन के करुण समाचार सुनाये और विश्वास दिलाने के लिए श्रीकृष्ण की दी हुई कौस्तुभ मणि दिखायी। ये हृदय विदारक समाचार सुनते ही पाण्डव और उनकी रानियाँ, जरत्कुमार और उपस्थित सभी जन रुदन करने लगे। जब रुदन का वेग कम हुआ तो पाण्डव, माता कुन्ती, द्रौपदी आदि

रानियाँ जरत्कुमार को आगे कर सेना के साथ दुःख से पीड़ित बलदेव को देखने के लिए चल दिये। कुछ दिनों में वे उसी वन में पहुँचे। वहाँ बलदेव दिखाई पड़े। वे उस समय श्रीकृष्ण के मृत शरीर को उबटन लगाकर उसका श्रृंगार कर रहे थे। यह देखकर पाण्डव शोक से आधीर होकर उनसे लिपट गये और रोने लगे। तब माता कुन्ती ने और पाण्डवों ने बलदेव से श्रीकृष्ण का दाह संस्कार करने की प्रार्थना की। किन्तु बलदेव यह सुनते ही आग बबूला हो गये। वे प्रलाप करते हुए श्रीकृष्ण के निष्प्राण शरीर को गोद में लेकर निरुद्देश्य चल दिये; किन्तु पाण्डवों ने उनका साथ नहीं छोड़ा, वे भी उनके पीछे-पीछे चलते रहे।

बलदेव का भाई सिद्धार्थ जो सारथी था। मरकर स्वर्ग में देव हुआ था तथा जिससे दीक्षा लेने के समय बलदेव ने यह वचन ले लिया था कि “यदि मैं मोहग्रस्त हो जाऊँ तो तुम मुझे उपदेश देकर मार्गच्युत होने से बचाओगे।” वह देव बलदेव की इस मोहान्ध अवस्था को देखकर अपना रूप बदलकर एक रथ पर बैठकर बलदेव के सामने आया। रथ पर्वत के विषम मार्ग पर तो टूटा नहीं, किन्तु समतल भूमि में चलते ही टूट गया। वह रथ को ठीक कर रहा था, किन्तु वह ठीक ही नहीं होता था। यह देखकर बलदेव बोले – “भ्रद! तेरा रथ पर्वत के ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर टूटा नहीं, किन्तु समतल मार्ग पर टूट गया, यह बड़ा आश्चर्य है। अब यह ठीक नहीं हो सकता, इसे ठीक करना व्यर्थ है। देव ने बलदेव को आश्चर्य मुद्रा में देखकर कहा – “महाभारत युद्ध में जिन महारथी कृष्ण का बाल बांका नहीं हुआ, वे जरत्कुमार के एक साधारण बाण से इस दशा में पहुँच सकते हैं तो रथ समतल भूमि में क्यों नहीं टूट सकता ?

बलदेव उसकी बात की उपेक्षा करके आगे बढ़ गये। आगे जाने पर उन्होंने देखा – एक व्यक्ति शिलातल पर कमलिनी उगाने का प्रयत्न कर रहा है। यह देखकर बलदेव बोले – “क्यों भाई! क्या शिलातल पर भी कमलिनी उग सकती है ?” देव जैसे इसी प्रश्न के लिए ही बैठा था – “आप ठीक कहते हैं, पाषाण के ऊपर तो कमलिनी नहीं उग सकती है, किन्तु निर्जीव शरीर में कृष्ण पुनः जीवित हो उठेंगे ?”

बलदेव आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक मूर्ख व्यक्ति सूखे वृक्ष को सींच रहा है। बलदेव से रहा नहीं गया, वे पूछ ही बैठे - “क्यों भाई! इस सूखे वृक्ष को सींचने से क्या लाभ है ? यह क्या पुनः हरा हो जायेगा ?” देव ने उत्तर दिया - “मेरा वृक्ष सींचने से तो हरा नहीं होगा, किन्तु आपके निर्जीव कृष्ण स्नान-भोजनादि कराने से अवश्य जीवित हो उठेंगे।” बलदेव उपेक्षा करके आगे चल दिये। उन्होंने देखा एक मनुष्य मृत बैल को घास, पानी दे रहा है। उन्होंने सोचा - “दुनिया में मूर्खों की कमी नहीं है। वे कहने लगे - अरे भोले प्राणी ! इस मृतक को घास, पानी देने से क्या लाभ है ?” यह सुनते ही वह मनुष्य तन कर खड़ा हो गया और बोला - “दूसरों को उपदेश देनेवाले संसार में बहुत हैं, किन्तु स्वयं उस उपदेश पर अमल करने वाले कम ही मिलते हैं। मेरा मृतक बैल तो दाना-पानी नहीं खा सकता, किन्तु आपके मृतक कृष्ण अवश्य खाना खा सकते हैं। क्या यही आपका विवेक है ?” यह सुनते ही बलदेव के अन्तर में एक झटका-सा लगा और प्रकाश की एक ज्योति कौंध गई। वे बोले “भद्र! आप ठीक कह रहे हैं। मैं अबतक मोह में अन्धा हो रहा था। कृष्ण का शरीर सचमुच ही प्राण रहित हो गया है।” देव बोला - “जो कुछ भी हुआ, भगवान नेमीश्वर स्वयं पहले ही सबकुछ बता चुके हैं। किन्तु सब कुछ जानते हुए आप जैसे विवेकी महापुरुष ने छह माह व्यर्थ ही खो दिये।” इसप्रकार कहकर देव ने वास्तविक रूप में प्रकट होकर अपना परिचय दिया। बलदेव ने जरत्कुमार और पाण्डवों की सहायता से तुंगीगिरी पर कृष्ण का दाह-संस्कार किया। जरत्कुमार को राज्य दिया और नेमीश्वर भगवान से परोक्ष तथा पिहितास्रव मुनि से उन्होंने साक्षात् दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

मुनि बलदेव अत्यन्त रूपवान थे। वे जब नगर में आहारचर्या के लिए जाते थे, तो उन्हें देखकर कामिनियाँ कामविह्वल हो जाती थीं। यह देखकर उन्होंने नियम लिया कि “यदि मुझे वन में ही आहार मिलेगा तो ही लूंगा, अन्यथा नहीं। उनके कठोर तप द्वारा शरीर तो कृश होता गया; किन्तु उससे आत्मा की निर्मलता बढ़ती गई। वे वन में ही विहार करते थे। यह बात राजाओं के भी कान में पड़ी। वे अपने पुराने वैर-विरोध को स्मरण कर शस्त्रसज्जित होकर उसी वन में आ गये। सिद्धार्थदेव ने यह देखकर वन में सिंह ही सिंह पैदा

कर दिये। जब उन राजाओं ने मुनि बलदेव के चरणों में विनत अनेक सिंह देखे तो उनकी सामर्थ्य देखकर वह सब राजागण नतमस्तक हो शान्त हो गये। बलदेव मुनिराज ने सौ वर्ष तक घोर तप किया। अन्त में समाधि मरण करके वे तुंगीगिरि से ब्रह्म स्वर्ग में इन्द्र बने।

जरासन्ध :- जरासन्ध राजगृह नगर के राजा बृहद्रथ और रानी श्रीमती के पुत्र और नवमें प्रतिनारायण थे। जरासन्ध की एक पुत्री का नाम केतुमती था। जो जितशत्रु को विवाही गई थी। केतुमती को किसी मन्त्रवादी परिव्राजक ने अपने वश में कर लिया था; किन्तु वसुदेव ने महामंत्रों के प्रभाव से उसके पिशाच का निग्रह किया था। इस पिशाच के घातक के संबंध में भविष्यणी थी कि जो राजपुत्री के पिशाच को दूर करेगा उस वसुदेव का पुत्र इस जरासन्ध का घातक होगा। इस भविष्यवाणी से जरासन्ध के सैनिकों ने श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव को पकड़ लिया था; किन्तु उसी समय कोई विद्याघर वसुदेव को वहाँ से उठा ले गया। समुद्रविजय आदि राजाओं के साथ रोहणी के स्वयंवर में न केवल यह आया था अपितु इसके पुत्र भी आये थे। वसुदेव से युद्ध करने के लिए जरासन्ध ने समुद्रविजय को कहा था और युद्ध के परिणामस्वरूप सौ वर्ष से बिछड़े हुए भाई वसुदेव से समुद्रविजय की भेंट हुई थी। सुरम्य देश के मध्य स्थित पोदनपुर का राजा सिंहरथ जरासन्ध का शत्रु था। इसने इस शत्रु को बांधकर लाने वाले को आधा देश तथा अपनी जीवद्यशा पुत्री देने की घोषणा की थी। वसुदेव ने सिंहरथ को जीतकर तथा कंस से बंधवाकर इसे सौंप दिया था। घोषणा के अनुसार उसने जीवद्यशा को वसुदेव को देना चाहा किन्तु उसे सुलक्षणा न जानकर वसुदेव ने यह कहकर टाल दिया था कि सिंहरथ को उसने नहीं बांधा, कंस ने बांधा है। इसने कंस को राजा उग्रसेन और पद्मावती का पुत्र जानकर यह प्रसन्न हुआ था। यही कंस कृष्ण के द्वारा मारा गया। कंस के मरने से व्याकुलित पुत्री जीवद्यशा ने इसे क्षुभित किया। परिणामस्वरूप इसके कालयवन नामक पुत्र ने यादवों के साथ सत्रह बार भयंकर युद्ध किया और अन्त में युद्ध में मारे जाने पर इसके भाई अपराजित ने युद्ध किया। तीन सौ छयालीस बार युद्ध करने पर भी अन्त में यह भी कृष्ण के बाणों से मारा गया। ●

प्रस्तुत सम्पूर्ण ग्रंथ में ६१ शलाका पुरुषों के भव-भवान्तरों के अध्ययन से यह स्पष्ट समझ में आता है कि जगत में जितने जीव हैं, उनकी होनहार के अनुरूप उतने ही प्रकार की उनकी पुण्य-पापरूप चित्र-विचित्र परिणतियाँ हैं। अज्ञानदशा में हुई अपनी-अपनी परिणति का फल तो सभी को भोगना ही पड़ता है। तीर्थकर होनेवाले जीवों ने भी अज्ञानदशा में अपने-अपने पुण्य-पाप के फल में नरक, निगोद की पर्यायें प्राप्त कीं और अनन्तकालतक असह्य अनन्त दुःख सहन किए।

उनके विविध चरित्र हमें यह सीख देते हैं कि यदि संसार में जन्म-मरण जैसे और नरक-निगोद जैसे भयंकर दुःखों से बचना हो तो जो वीतरागता का मार्ग हमारे परम पूज्य पंचपरमेष्ठियों ने अपनाया, हम भी जगत की मोह-माया के मार्ग का त्याग कर वही वीतरागता, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग अपनायें।

सम्पूर्ण ग्रन्थ की पंक्ति-पंक्ति हमें संसार की असारता और वीतराग-विज्ञान की सारभूतता का संदेश दे रही है। तीर्थकरों में भगवान नेमिनाथ का वैराग्य, द्वारिकादाह, पार्श्वनाथ द्वारा नाग-नागिन की घटना, भगवान महावीर के जीव द्वारा शेर की पर्याय में पश्चाताप के आंसू बहाना आदि अनेक वैराग्य के ऐसे प्रसंग हैं, जो हमारे हृदयों को आन्दोलित करते हैं और हमें मनुष्य भव सार्थक करने का संदेश देते हैं।

तीर्थकर भगवन्तों की दिव्यध्वनि के द्वारा एवं मुनिराजों के उपदेशों द्वारा प्राप्त वस्तुस्वातंत्र्य, सर्वज्ञता, वस्तु का क्रमबद्ध परिणमन, कारण-कार्य-संबंध, पाँच समवाय आदि द्वारा भी जैनदर्शन के दिव्य संदेश हमें समता, शान्ति, निराकुलता और निष्कषाय रहने में पूर्ण सहायक हैं। ये सिद्धान्त ही जैनदर्शन और जैनधर्म के प्राण हैं।

अहिंसामय आचरण के लिए और अतिसंग्रह की प्रवृत्ति के निरावरण के लिए तथा संयम-सदाचार का भी स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से संदेश दिया गया है। इन सबको धारण ज्ञान में लेने के लिए पाठक मनोयोगपूर्वक ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन-चिन्तन-मनन करके आत्महित में प्रवृत्त हों, इस मंगलकामना के साथ विराम। ॐ नमः।